वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सांख्य दर्शन और उसके शैक्षिक निहितार्थों का समालोचनात्मक अध्ययन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी की

पी-एच० डी० (शिक्षा)

की उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

2005

निर्देशक

प्रो० डी० एस० श्रीवास्तव

निदेशक

शिक्षा संस्थान

शोधकर्त्री

मन्जरी सिन्हा

शिक्षा संस्थान

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी (उ०प्र०)

प्रो0 डी0 एस0 श्रीवास्तव
निदेशक

शिक्षा संस्थान
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,
झाँसी (उ0 प्र0)

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती मन्जरी सिन्हा ने मेरे निर्देशन में निर्धारित समयावधि के अंतर्गत ''वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सांख्य दर्शन और उसके शैक्षिक निहितार्थो का समालोचनात्मक अध्ययन'' नामक शीर्षक पर अपना शोध कार्य पूरा किया है। यह शोध इनके अथक प्रयास और परिश्रम का प्रतिफल है जो पूर्ण रूप से मौलिक कार्य है।

मैं पूर्णतः सन्तुष्ट हूँ कि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध शिक्षा संकाय के अन्तर्गत ''शिक्षा'' की डाक्टर ऑफ फिलासफी उपाधि प्रदान करने हेतु विचारार्थ स्वीकार करने योग्य है।

(प्रो0 डी0 एस0 श्रीवास्तव)

घोषणा- पत्र

मैं, मन्जरी सिन्हा , घोषित करती हूँ कि मेरे द्वारा प्रस्तुत किया गया शोध-प्रबन्ध "वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सांख्य दर्शन और उसके शैक्षिक निहितार्थों का समालोचनात्मक अध्ययन" मेरा मौलिक कार्य है ।

(मन्जरी सिन्हा)

पुरोवाक्

सांख्य योगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:
एकमप्यास्थित: सम्यगु भयोर्विन्दते फलम्।

श्रीमद् भगवत्गीता 5/4

सांख्य योग तथा कर्मयोग को नासमझ लोग अलग–अलग मानते हैं न कि पण्डित जन। क्योंकि ये दोनों एक ही साधन से अच्छी तरह से स्थित (मनुष्य) दोनों के फलरूप (परमात्मा) को प्राप्त कर लेते हैं।

समन्वय जीवन का पर्याय है। जीवन में सफलता पाने का यही सूत्र है। इस समन्वय को सार्थक करते हैं – जिज्ञासा, तर्क, चिन्तन, उत्सुकता, जागृति, संस्कार, क्रियाशीलता, अध्यात्मिकता और ईश्वरानुग्रह। इसकी प्रतीति कराने वाला तत्व है, 'शिक्षा'। इसलिये श्रेष्ठ मानव निर्माण व निर्धारित जीवन शैली को प्राप्त करने के लिये प्रथमतः उसी तरह की शिक्षा व्यवस्था होनी चाहिये। योग वशिष्ठ में भी गया है –

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः
तथैव ज्ञान कर्मभ्यां जायते परमं पदम्।

चिन्तन की प्रवृति के कारण पिछले कुछ वर्षो से मैं इन सबका अनुभव कर रही थी। मेरे शिक्षण कर्म ने इसमें और भी सहयोग प्रदान किया। शिक्षा एवं उससे जुड़े विभिन्न पक्षों से सतत् सम्पर्क में रहने के कारण शिक्षा के विभिन्न पक्षों के संबंध में बहुत से विचार बनते जा रहे थे और इन पर शोध कार्य करने की इच्छा जागृत होने लगी। सौभाग्य से शोध में प्रवृत्त होने का अवसर भी उपस्थित हो गया।

शैक्षणिक जीवन के अनेक उतार–चढ़ाव, शिक्षा में निरंतर गिरते मूल्य, ज्ञान–साधना में अग्रगण्य विशाल राष्ट्र की शिक्षा का क्षण–प्रतिक्षण गिरता हुआ ग्राफ बार–बार मन मस्तिष्क को उद्वेलित करने लगा था। अनेक विषय उभरकर सामने आये। वैचारिक उथल पुथल को लेकर मैनें अपने निर्देशक प्रो0 डी0 एस0 श्रीवास्तव से इस विषय पर चर्चा की। एक शिक्षा शास्त्री की दृष्टि से मेरी प्रवृत्ति जानकर उन्होंने सलाह दी कि भारतीय दर्शनों पर आधारित किसी विषय का चयन कर अनुसंधान कार्य किया जा सकता है। उन्होंने विचारपूर्वक समाधान करते हुए सांख्य दर्शन के शैक्षिक निहितार्थो की समालोचना विषय पर अध्ययन करने हेतु प्रेरित किया। यह विषय निश्चित ही मेरे मनोविचारों के अनुकूल था। ऐसा लगा कि मेरे विचारों को स्पष्ट दिशा मिल गई है। इसी बीच शिक्षा शास्त्री प्रो0 आर0जे0 सिंह एवम् डॉ0 आई0आर0एस0 सिन्धु जो

दर्शन के भी आधिकारिक विद्वान हैं से भी एतद् विषयक चर्चा का अवसर आया। उन्होने व्यावहारिक दृष्टि से सांख्य दर्शन की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुये प्रकृत विषय पर अनुसंध ाान कार्य को मौलिक निरूपित किया।

आज जब शोधकार्य रूपी फल प्राप्ति का अवसर है तो सोचती हूँ कि इन तीनों के प्रति क्या शाब्दिक आभार ही पर्याप्त होगा? अथवा यह आत्मप्रवंचना उचित नहीं, इसलिये इन्हें केवल नमन ही कर सकती हूँ।

अध्ययन कार्य में प्रवृत्त होने पर यथावसर विषय विशेषज्ञ समिति ने शोध शीर्षक को अनुमोदित कर दिया। तद्नुसार नवीन संकल्पना के परिप्रेक्ष्य में ग्रंथ अपना आकार ग्रहण करने लगा और आज यह साङ्गता सिद्धि का स्वरूप ग्रहण कर चुका है।

यह अनुष्ठान निर्विध्न पूर्णता की ओर ले जाने में प्रो0 सुरक्षापाल, प्रो0 रामशकल पाण्डेय, प्रो0 शशीकान्त शर्मा, डॉ0 गिरीश पचौरी एवं डॉ0 पी0एस0 सैंगर का अत्यन्त महनीय योगदान है। जिन्होने समय समय पर विध्नों का विच्छेदन कर आत्मीय सहयोग प्रदान किया, इनके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। इस महान कार्य में प्रो0 बी0एन0अस्थाना (पूर्व कुलपति), प्रो0 यू0सी0 श्रीवास्तव, डॉ0 पी0जी0 श्रीवास्तव, (प्राचार्य) एवं डॉ0 किरन श्रीवास्तव की प्रेरणा भी काफी लाभप्रद रही है।
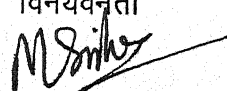
यह विशाल यात्रा अपने निश्चित पड़ाव तक नहीं पहुंचती यदि इसमें परिवार के सदस्यों का सहयोग प्राप्त न हुआ होता। इनके प्रति आभार ज्ञापन की धृष्टता मैं नही कर सकती, ये तो मेरे अपने ही हैं। मेरी पूज्य सास माता श्रीमती रज्जन कुमारी एवं मां श्रीमती पुष्पा श्रीवास्तव को भी मैं सादर नमन करती हूँ क्योंकि उन्ही के आशीष से यह स्वप्न साकार हो सका है।

मैं डॉ0 श्याम सुन्दर कुशवाहा, प्रवक्ता, शिक्षा संस्थान की विशेष रूप से सदैव आभारी रहूँगी, जिन्होने इस शोध यात्रा में मेरी पग–पग पर मदद् की तथा निराशा के समय में सदैव उत्साह वर्धन किया।

समस्त ग्रंथालयाध्यक्षों तथा मेरे संस्थान के समस्त सदस्यों की भी आभारी रहूँगी, जिन्होनें समय–समय पर मुझे यथा योग्य सहयोग प्रदान कर उपकृत किया है।

मेरे शैक्षणिक जीवन के उत्कर्ष का यह बीज अंकुरित ही नहीं होता यदि इसे लालित, पालित, पोषित और पल्लवित करने वाले मेरे जीवन पथ के साथी श्री विजय कुमार सिन्हा का ललित्यपूर्ण साहचर्य एवं सहयोग का लाभ मुझे न मिला होता।

अन्त में समस्त प्रत्यक्ष – परोक्ष सहयोगियों को धन्यवाद ज्ञापित करते हुये समय के साक्षी मेरे बालयोगियों के नन्हें हाथों में यह ग्रंथ पुष्प सहर्ष सौंपती हूँ।

विनयवनता

M Sinha

(श्रीमती मंजरी सिन्हा)

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

अध्याय प्रथम

भारतीय दर्शन एवं शिक्षा

1.0.0 प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति में मानव जीवन का लक्ष्य 'दर्शन' है। उसी की परिणति के लिये वह आचरणों द्वारा गतिशील रहता है। परमतत्व, मोक्ष या अपने आराध्य का साक्षात्कार ही जीवन का लक्ष्य है। उसी के लिये विद्या किंवा शिक्षा का विनियोग किया जाता है। मानवीय जीवन का चरम उत्कर्ष ही शिक्षा का प्राप्तव्य है। शिक्षा, शिक्षार्थी और शिक्षक के मध्य उसी तत्व का विकास करती है जो भारतीय दर्शन का परम प्राप्य है। सांख्य दर्शन अपेक्षाकृत व्यावहारिक है। प्रस्तुत प्रबन्ध में "सांख्य दर्शन और उसके शैक्षिक निहितार्थो का समालोचनात्मक अध्ययन" शीर्षक पर अध्ययन किया गया है। भारतीय दर्शन एवं शिक्षा दोनों पर सापेक्ष अध्ययन ही लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होगा। भारतीय दर्शन का स्वरूप एवं अभिप्राय, शिक्षा का अर्थ, उद्देश्य, आवश्यकता, महत्व एवं अन्त में दर्शन एवं शिक्षा के मध्य सम्बन्ध स्पष्ट करते हुये दर्शन पर आधारित शिक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में चर्चा विषय के प्रारम्भ में आवश्यक है।

1.1.0 भारतीय दर्शन का स्वरूप

"चिन्तन' मनुष्य की स्वाभाविक किया है। चिन्तन दार्शनिक भी हो सकता है और समाजिक या मनोवैज्ञानिक भी। दार्शनिक चिन्तन का विकास कुछ ही देशों में हो सका था। इन देशों में भारत वर्ष का स्थान प्रमुख है। भारत की अपनी विशिष्ट चिंतन पद्धति है, जिसे भारतीय दर्शन की संज्ञा दी गई है इसके द्वारा अनुभूत सत्य का परिचय मिलता है। दर्शन के मौलिक प्रश्न हैं– हम कौन है ? कहाँ से आये हैं ? हमारे सामने प्रतीत होने वाला ये विशाल संसार क्या है ? आदि आदि। इन महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर देने और विविध समस्याओं को सुलझाने में भारत वर्ष के विचारकों ने जो सिद्धान्त अभिव्यक्त किये हैं उन्हीं का विवेचन, भारतीय दर्शन की विविध धाराओं, सम्प्रदायों तथा महान ग्रन्थों में किया गया है।

मनीषियों का मत है कि भारतीय दर्शन में दो प्रमुख क्षेत्रों से सम्बन्धित विषयों पर विशेष विचार हुआ है। एक क्षेत्र– आध्यात्मिक विद्या अथवा मोक्ष शास्त्र है और दूसरा– ज्ञान मीमांसा अथवा प्रमाण शास्त्र । दोनों ही क्षेत्रों में भारतीय दर्शन ने नितान्त सूक्ष्म और विविध चिन्तन किया है जिसका विश्व संस्कृति की पृष्ठभूमि में विशिष्ट स्थान है।

कतिपय योरोपीय विद्वानों को भारतीय दर्शन से यह शिकायत है कि वह धर्म और आध्यात्म से बहुत ज्यादा सम्पृक्त रहा है।[1] भारतीय विद्वानों का मत यह भी है कि– तथ्य जगत अथवा वस्तुओं का संसार वैज्ञानिक अध्ययन का विषय है जबकि मूल्यजगत का चिन्तन करना दर्शन का कार्य है।[2]

भारतीय दर्शन में मुख्यतः आध्यात्मिक मूल्यों पर विचार हुआ है व्यावहारिकता और आध्यात्मिकता भारतीय दर्शन की विशेषतायें है।[3] किसी ने भारतीय दर्शन को मोक्ष दर्शन कहा है किन्हीं ने आत्मविद्या से सम्बोधित किया है।[4]

इस प्रकार यदि प्राचीन भारतीय दर्शन के स्वरूप पर दृष्टिपात करें तो निश्चित तौर पर यह कह सकते हैं कि प्राचीन कालीन भारत का दर्शन के क्षेत्र में अभूतपूर्व और मौलिक अवदान है। भारतीय दर्शन अत्यंत सूक्ष्म और व्यापक है, इसकी अनेक शाखायें है किन्तु प्रत्येक शाखा एक दूसरे से सम्बद्ध है और अपने आपमें पूर्ण भी है। भारतीय दर्शन का स्रोत वेद है। वेदों के बाद अधिक प्रभाव डालने वाले दर्शन, षड् दर्शन थे। इनमें चार्वाक, बौद्ध, जैन, मीमांसा और सांख्य प्रमुख है। भारतीय दर्शन की बहुत सी शाखायें है अनेक विचारधारायें हैं सबकी जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। अतः आगामी पृष्ठों में दर्शन के अर्थ ,भारतीय दर्शन के लक्ष्य, उपादेयता, वर्गीकरण आदि के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त की जायेगी।

1.1.1 दर्शन का अर्थ

'दर्शन' इस शब्द पर विचार करते ही दर्शन का अर्थ क्या है ? इसकी उत्पत्ति कैसे हुई ? इत्यादि प्रश्न उपस्थित होने लगते हैं ? प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो[5], दर्शन का जन्म आश्चर्य कौतूहल या जिज्ञासा से मानते है। ठीक ही तो है व्यक्ति जिस वातावरण में रहता है उसे वह जानने का प्रयास करता है। जगत् की सृष्टि की योजना को जानने का प्रयास करता है तो दर्शन की उत्पत्ति होती है। मानव मन में व्याप्त सन्देह भी दर्शन का जनक है। देकार्त[6] को पश्चिमी दर्शन का जन्मदाता माना गया है उनका कहना है कि सन्हेह की भावना ही दर्शन की जननी है। कुछ लोग दर्शन की उत्पत्ति मानसिक अशान्ति से मानते है। जब व्यक्ति जीवन में व्याप्त जरा, रोग व मरण से दुःखी होकर जीवन के प्रति उदासीन हो जाता है तथा जीवन की समस्याओं का समाधान चाहता हैं ,तो दर्शन का आरम्भ होता हैं । कुछ विद्वान दर्शन का आरम्भ इसी भावना से मानते हैं। इस प्रकार यह कह सकते हैं कि दर्शन का प्रारम्भ किसी एक

भावना से नहीं होता वस्तुतः व्यक्ति के मन में जब आश्चर्य होता है तो सन्देह या जिज्ञासा की भावना आती है या जब अशान्ति का भाव आता है तो मन में कौतूहल उत्पन्न होता है और व्यक्ति चिन्तन के लिये उद्यत होता है, यही से दर्शन का जन्म होता है।

दर्शन शब्द संस्कृत की 'दृश्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'देखना'। 'दृश्' धातु में ल्युट् प्रत्यय लगाने से दर्शन शब्द बनता है। यदि इस शब्द की व्याख्या की जाय तो कहेंगे– 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' अर्थात् जिससे देखा जाय वह दर्शन है। अग्रेंजी में दर्शन को फिलासफी कहा जाता है। Philosophy शब्द की उत्पत्ति दो यूनानी शब्दों से हुई है।Philos (फिलॉस) जिसका अर्थ है प्रेम या अनुराग दूसरा शब्द Sophia जिसका अर्थ है विद्या या ज्ञान। इस प्रकार Philosophy का अर्थ है विद्या या ज्ञान से प्रेम। कुछ विद्वान दर्शन और फिलासफी शब्द को पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त करते है। वस्तुतः फिलासफी और दर्शन में अंतर है। फिलासफी में वह अर्थगौरव नहीं है जो दर्शन में है। दर्शन में विद्या या ज्ञान का अर्थ केवल अनुराग नहीं है क्योकि अनुराग तो मात्र भावात्मक प्रत्यय है। दर्शन शब्द में मानसिक प्रकिया के तीनोां पक्ष– ज्ञान, कर्म और भाव निहित है। वर्तमान समय में चूंकि दोनों शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते है अतः व्यावहारिक दृष्टिकोण को देखते हुये हम भी दोनों शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करेंगे।

दर्शन के अर्थ को अधिक स्पष्ट करने के लिये कुछ परिभाषायें इस प्रकार बताई जा सकती है– बेबा अल्फ्रेड के अनुसार–"दर्शन प्रकृति के व्यापक स्वरूप का अन्वेषण है वस्तुओं के स्वरूप के व्यापक स्पष्टीकरण का प्रयास है।"[7] बटट्रेण्ड रसल के अनुसार– "यह विभिन्न विज्ञानों के मूलभूत सिद्धान्तों का तार्किक ज्ञान है।"[8] ये परिभाषायें पश्चिमी विद्वानों की है। भारतीय दार्शनिक, दर्शन के एकांगी दृष्टिकोण से सहमत नहीं होते वे दर्शन को अत्यन्त व्यापक शास्त्र मानते है। डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन के शब्दों में "दर्शन यथार्थता के स्वरूप का तार्किक ज्ञान है।"[9]

डॉ0 बलदेव उपाध्याय ने दर्शन को साधना के रूप में अभिहित किया है। उनके मत में पाश्चात्य दर्शन कल्पना और अनुमान पर आधारित है इसके विपरीत भारतीय दर्शन, दार्शनिक एवं उसके ठोस सिद्धान्तों पर आश्रित है। जिसके आधार पर साधना अथवा एक कमिक प्रशिक्षण द्वारा वह अपने लक्ष्य के समीपवर्ती मार्ग को प्रत्यक्ष कर सकता है।[10] डा0 उमेश मिश्र भी स्वीकार करते हैं कि दर्शन का आश्रय ज्ञान प्राप्ति है तथा वास्तविक ज्ञान प्राप्ति प्रत्यक्ष द्वारा

ही संभव है।[11] इस प्रकार भारतीय व्यवस्था के अनुसार दर्शन केवल चिन्तन का विषय नहीं अपितु सत्य की साक्षात् अनुभूति है। भारत वर्ष में प्राचीन काल में प्रथम दर्शन को आन्वीक्षिकी विद्या भी कहा जाता था।[12] आचार्य चाणक्य के समय यह शब्द बहुत प्रचलित था।

1.1.2 भारतीय दर्शन की उपादेयता

वर्तमान युग विज्ञान का युग कहा जाता है। यह शताब्दी ज्ञान के विस्फोट की शताब्दी कही जाती है। मानव नवीन खोज व अनुसंधान के द्वारा प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का प्रयास कर रहा है, ऐसी स्थिति में जब दर्शन की उपादेयता का प्रश्न उपस्थित होता है तो वह इस तरह का चिन्तन करने के लिये प्रेरित करता है कि आज के युग में दर्शन का क्या महत्व है। दर्शन से क्या लाभ है। दर्शन की क्यों आवश्यकता है। इन प्रश्नों का समाधान इस प्रकार हो सकता है।

भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी उपादेयता यह है कि वह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अभिन्न अंग होता है। दर्शन अर्थात्–दृष्टिकोण। प्रत्येक व्यक्ति का अपना जीवन दर्शन अवश्य होता है चाहे इसे समझे या न समझे, इसे व्यक्त करे अथवा न करे। व्यक्ति जो कुछ करता है उसके पीछे उसका अपना दर्शन होता है।

सैद्धांतिक रूप दर्शन है तो व्यावहारिक रूप जीवन है। भारतीय दर्शन की दूसरी सबसे बड़ी उपादेयता यह है कि दर्शन जिज्ञासाओं को शान्त करने का माध्यम है। मानव मन में सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होते रहते हैं कि– इस संसार का चक्र कैसे चलता है ? मृत्यु के पश्चात् क्या होता है? आत्मा है अथवा नहीं ? इन जिज्ञासाओं को शान्त करने का महत्वपूर्ण साधन दर्शन है।

वर्तमान में विषय सामग्री के बढ़ने से बहुत से शास्त्र या विज्ञान भी बढ गये हैं। जैसे– मानव विज्ञान, शरीर विज्ञान, समाज शास्त्र आदि। ये शास्त्र किसी एक ही पहलू की व्याख्या करते हैं परन्तु दर्शन इन सबमें सामन्जस्य स्थापित करता है, क्योंकि दर्शन विश्व का प्राचीनतम और गहनतम ज्ञान है और प्रारम्भ में दर्शन, धर्म, इतिहास, काव्य, आदि में अंतर नहीं था। जो कुछ ज्ञान था वह दर्शन था और जो कुछ दर्शन था वही ज्ञान था इसीलिये जब कभी इन विषयों में सामन्जस्य बैठाना होता है तो दर्शन का ही आश्रय लेना पड़ता है। स्पश्ट है कि दर्शनों की उपादेयता यह भी है कि जितने भी शास्त्र या विधाएं हैं उन सब का मूल तत्व या

संग्राहक दर्शन ही है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक भगवान दास ने भी लिखा है "दर्शन शास्त्र, आत्म विद्या, आध्यात्मिक विद्या, आन्वीक्षिकी, सब शास्त्रों का शास्त्र, सब विद्याओं का प्रदीप, सब व्यावहारिक सत्कर्मो का उपाय... है।[13]

भारतीय दर्शन परमसुख का मार्ग बताया है दुख की जिज्ञासा एवं सुख की लिप्सा ने दर्शन को जन्म दिया है वर्तमान में भी सदा की तरह ही मानवीय स्वभाव के अनुरूप व्यक्ति सुख चाहता है। दुख क्या है ? सुख क्या है ? इससे मुक्ति के उपाय क्या है ? परमसुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? आदि । डा. भगवान दास ने अपनी पुस्तक दर्शन के प्रयोजन में लिखा है–

यद् आभ्युदायिकं चैव नैश्रयसिकमेव च। सुखं साधयितुं मार्ग दर्शयेत तद्धि दर्शनम्।।

सांसारिक और पारमार्थिक दोनों सुखों के साधन का मार्ग जो दिखाए वही सच्चा दर्शन है।[14]

वर्तमान में भारतीय दर्शन की उपादेयता यह भी है कि आज जीवन– मूल्य बदल रहें हैं, नये मूल्य विकसित हो रहे है। दर्शन की यह विशेषता है कि मनुष्य की मूल चेतना के अनुरूप वह भी नये रूप धारण कर लेता है। दर्शन में जीवन से संबंधित सभी तत्वों का समावेश है इसलिये दर्शन बदलते समय के अनुरूप बहुत कुछ प्रदान कर सकता है। इस संबंध में एक उदाहरण दिया जा सकता है कि जैसे प्रत्येक युग में बदलती हुई संवेदना के अनुसार साहित्य का भी निर्माण हो जाता है वैसे ही दर्शन भी वर्तमान स्थितियों के अनुरूप चिन्तन प्रस्तुत कर सकता है, दिशा–निर्देश दे सकता है, मार्ग बता सकता है। दर्शनों का प्रमुख कार्य मूल्यों का अनुचिन्तन भी है। इस दृष्टिकोण को सामने रखते हुये दर्शनों का प्रमुख कार्य मूल्यों का अनुचिन्तन भी है। इस दृष्टिकोण को सामने रखते हुये दर्शनों का अध्यापन किया जाये तो परिस्थितियों के अनुरूप जीवन सिद्धान्त खोज निकाले जा सकते है।

भारतीय दर्शनों की यह भी उपादेयता है कि ये दर्शन प्रत्येक विषय में तर्कयुक्त व प्रामाणित तथ्य प्रस्तुत करते है विश्व के समस्त दर्शनों में जितने भी मतमतान्तर है वे किसी न किसी रूप में भारतीय दर्शन में उपलब्ध है और व्यक्ति उनका उपयुक्त हल पा सकता है। यह भारतीय दर्शनों की बहुत बड़ी विशेषता है। भारतीय दर्शनो का महत्व इसलिए भी है कि भारतीय दर्शन प्रगतिशील है। जब एक सिद्वान्त आया तो कुछ समय बाद उसके प्रतिवादी पक्ष

की भी स्थापना हुई और परिवर्तित रूप सामने आया । अद्वैतवाद, द्वेतवाद, द्वैताद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि इसी का परिणाम है।

वर्तमान युग में मानव मनोविज्ञान पर बहुत जोर दिया जा रहा है। भारतीय दर्शनों में मुख्य रूप से पतंजलि ने मनोवैज्ञानिक पक्ष को महत्व दिया है। उन्होने मानव मनोविज्ञान की बड़ी सूक्ष्म और विशद व्याख्या की है। भारतीय दर्शन कुछ शाश्वत नियम अपने में समेटे हुए है। उनकी वर्तमान युग में बार–बार मॉग की जा रही है यथा – असतो मा सद्‌गमय, तसमों मा ज्योर्तिगमय मृत्योर्माऽमृतं गमय। यह भारतीय दर्शन का मूलमंत्र है इसे लाने की बात सभी दार्शनिक एवं विचारक करते है। इसे दर्शन के माध्यम से ही लाया जा सकता है। कर्म व पुनर्जन्म का सिद्वान्त सद्‌कार्य करने की प्रेरणा देता है। इस सिद्वान्त का आज भी महत्व है। राधाकृष्णन के शब्दों में –"सभी दर्शन हमें निःस्वार्थ प्रेम , और निष्काम कर्म की शिक्षा देते है। और सदाचार के लिये चित्त शुद्वि पर बल देते है।[15] इस तरह के जीवन पथ पर चलने की मॉग आज भी की जाती है। अतः दर्शन का बहुत महत्व है।

1.1.3 भारतीय दर्शन का लक्ष्य

आध्यात्मिक ,आधिदैविक एवं आधिभौतिक ये तीन प्रकार के दुःख बताये गये है। संसार का प्रत्येक प्राणी इन दुःखों से पीडित है एवं दुःख निवृत्ति का यत्न करता रहता है। जब तक इन दुःखों से छुटकारा नहीं मिल जाता तब तक जीव का प्रयत्न चलता रहता है। संसार के प्रत्येक प्राणी को इन दुःखों से मुक्ति का मार्ग बताना,यही दर्शन का प्रमुख लक्ष्य है। इन्हीं बातों को विद्वानों ,मनीषियों एवं दार्शनिको ने अपने –अपने तरीके से अभिव्यक्त किया है।

जीव को दुःखों से छुटकारा तभी मिल सकता है। जब वह जन्म –मरण के बंधन से मुक्त हो जाये। जन्म –मृत्यु के चक्र से मुक्ति पाना यही जीव का चरम लक्ष्य है। यही दर्शन शास्त्र का परम तत्व है। जिसके स्वरूप के प्रतिपादन के लिये एवं जिस पद की साक्षात् अनुभूति के लिये दर्शन का प्रतिपादन किया गया है।[16] दुःखों का आत्यन्तिक नाश या जन्म व मरण से सदा के लिये मुक्त होना ही सभी का चरम लक्ष्य है। अवएव दर्शनों में भी जितनी बाते कहीं गई है। वे सब के एक मात्र इसी चरम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन है।[17] कुछ विद्वानों का इससे भिन्न मत है उनका कहना है आत्मा का ज्ञान कराना चाहे वह ब्रह्म से भिन्न हो या अभिन्न हो प्रत्येक दर्शन का लक्ष्य है।[18]इन्ही को विद्वानों ने दूसरे शब्दों में अभिव्यक्त किया है

– दर्शन का मुख्य उद्‌देश्य एक ही है। और वह है। 'परमानन्द्र' या उसकी प्राप्ति इसे ही चरम दुःख निवृत्ति या मोक्ष कहते है। इसी को परमात्मा परब्रह्म , आत्मा या ब्रह्म कहते है। यही है 'देखने का विषय'[19] अतः श्रुति में कहा गया है – 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।[20]

1.1.4. भारतीय दर्शन का वर्गीकरण

भारतीय दर्शन का प्रारंभ कब से हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर देना अत्यंत दुरूह है। क्योकि मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। इसलिये उसकी बौद्विकता उसे अनेक प्रश्नों के उत्तर जानने का प्रयास कराती रही है। वे प्रश्न इस प्रकार है – विश्व का स्वरूप क्या है ? आत्मा क्या है ? इसकी उत्पत्ति किस प्रकार और क्यौं हुई ? आदि । दर्शन इन प्रश्नों के युक्ति पूर्वक उत्तर देने का प्रयास है। अतः मानव के चिंतन के साथ ही दर्शन का प्रारंभ मान सकते है।

यद्यपि अति प्राचीन समय में श्रंखलाबद्व दार्शनिक विचारधारा प्रचलित न थी । किन्तु दार्शनिक चिंतन का प्रस्थानगत वैशिष्ट्य अतिप्राचीन काल में ही थी । जिसका पता हमें तत्कालीन साहित्य पढनें से लगता है। दार्शनिक विचारधारा किस समय से सूत्र का रूप धारण कर श्रेणीबद्व होने लगी यह कहना भी कठिन है। परन्तु इसमें कोई संदेह नही कि यह कार्य अतिप्राचीन काल में प्रारम्भ हो चुका था।

इस संबंध में अलग –अलग विचारकों ने भिन्न–भिन्न मत प्रस्तुत किये है। – वाल्टर रूबेन[21] के अनुसार – मैं समझता हुँ कि भारत में दर्शन को स्पष्ट प्रारभं छादोग्य उपनिषद् में उद्‌दालक आरूणि के पुद्‌गल – जीववाद से होता है। उसका भौतिक वाद , जो बहुत आदिम हैं उस मान्यता का, जिसे देवीप्रसाद ने Lokayata में 'प्रागैतिहासिक इहलोकपरायणता' कहा है और जो कबायली युगों की विशेशता रही थी , पहला कमबद्व निरूपण है।' उद्‌दालक लगभग 600 ई.पू. में हुए थे । इसके विरूद्व मे याज्ञवल्क्य ने कर्म , संसार तथा मोक्ष के सिद्वान्त के साथ–साथ भारत के सबसे प्राचीन प्रत्ययवाद का प्रतिपादन किया । दूसरा इस प्रकार संप्रदायों के बीच संघर्ष की शुरूआत हुई ।

इसके बाद लगभग 330 ई.पू. तक विचारधाराओं ने सिद्वातों अर्थात वादों का रूप धारण किया । 'दीघनिकाय' (i) में वादों को 62 प्रकार के दर्शनों के रूप में कमबद्व किया है। श्वेताश्वतरोपनिशद में भी वादों की संक्षिप्त सूची संगृहित है।[22] परन्तु फिर भी इनका निश्चित स्वरूप प्राप्त नहीं होता है। अगले युग में वादों को सम्प्रदायों में बद्व होता पाते हैं जो सांख्य

,वेदान्त आदि सूत्र सम्प्रदाय कहलाये इनकी जानकारी पतंजलि के महाभाष्य, महाभारत , तथा चरक संहिता से मिलती हैं।[23]

सामन्त युग का प्रारम्भ होने के साथ भारतीय दर्याक के भाष्य युग (स्कॉलेस्टिक) Scholastic अर्थात शास्त्रोंपजीवी दर्शन युग का प्रारम्भ होता हैं जो आज तक चला आया है। हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा [24] अपनी पुस्तक में भारतीय दर्शन का विभाजन इस प्रकार करते हैं।

1. वैदिक काल (The Vedic Period)
2. महाकाव्य काल (The Epic Period)
3. सूत्र काल (The Sutra Period)

वैदिक काल में वेद उपनिषद् जैसे दर्शन का आरम्भ व विकास हुआ। महाकाव्य काल में रामायण ,महाभारत जैसे धार्मिक व दार्शनिक ग्रंथ लिखे गये। बौद्व व जैन भी इस युग की देन है। तीसरा काल सूत्र काल का कहलाता है। इस समय न्याय, वैशिषिक, सांख्य, योग व मीमांसा जैसे महत्वपूर्ण दर्शनों का निर्माण हुआ हैं । चौथा काल वर्तमान काल है। इस काल में प्रमुख दार्शनिक थे – महात्मा गॉधी , श्री अरविन्द्र स्वामी, विवेकानन्द आदि । स्पष्ट हैं कि दर्शनों के काल विभाजन एवं आरंभ को लेकर भी अलग मत हैं इसलिये स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय

दशनों की संख्या एवं दार्शनिक सम्प्रदाय कौन–कौन से है ? इस विषय में भारतीय विद्वानों में गहरा मतभेद हैं उदाहरण स्वरूप कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में तीन ही सम्प्रदायों का उल्लेख किया है वे है सांख्य , योग और लोकायत । हंरिभद्र सूरि , जिनदत्त सूरि, राजशेखर आदि जैन–लेखन माल्लिनाथ , जयन्तभटट्, सर्वमत संग्रहकार आदि के साथ इस बात में सहमत है कि सम्प्रदाय छः हैं । लेकिन कौन –कौन से छः इस पर काफी मतभेद हैं।[25] भारतीय दर्शन का सबसे पहला प्रचलित संग्रह ग्रंथ 'सर्व दर्शन संग्रह' 16 दार्शनिक सम्प्रदायों की चर्चा करता है। लेकिन ये 16 सम्प्रदाय समान महत्व वाले नहीं हैं कपिल का साख्यः, पतंजलि का योग, कणाद का वैशेषिक, गौतम का न्याय और व्यास का वेदान्त , यह छः दर्शन हैं ऐसा कुछ विद्वान मानते हैं । पं. मधुसूदन ओझाजी ने योग , न्याय , और पूर्व

मीमांसा को दर्शन की संख्या में परिगणित नहीं किया हैं उनके मत में भारतीय दर्शनों में जैन, बौद्व, वैशेशिक और वेदान्त का ही प्रमुख स्थान हैं।[26]

फिर भी आज यह सर्वमान्य परिपाटी बन गई हैं कि नौ सम्प्रदाओं को मौलिक महत्व वाला माना जाए। इन नौ सम्प्रदायों का परम्परागत वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक इन दो भागों में कर सकते हैं यद्यपि आस्कित व नास्तिक इस शब्द के अलग–अलग अर्थ बताये गये हैं परन्तु भारतीय दर्शन के विभाजन में आस्तिक व नास्तिक इस शब्द का प्रयोग जिस अर्थ कें लिए किया जाता है उसका संबंध वेदो की प्रामाणिकता में विश्वास करने से है। स्मृतिकार मनु के शब्दों में कहे तो – 'नास्तिको वेदनिन्दकः'।[27] अर्थात वेद निन्दक ही नास्तिक हैं दूसरे शब्दो में कहा जाय तो आस्तिक उसे कहा जाता हैं जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करता हैं नास्तिक उसे कहा जाता है जो वेद को प्रमाण नहीं मानता हैं । इस प्रकार आस्तिक का अर्थ हैं वेद अनुयायी और नास्तिक का अर्थ हैं – वेद का विरोधी।

राहुल सांस्कृत्यायन [28] ने भी दर्शनों का वर्गीकरण किया हैं जिसे निम्न तालिका के माध्यम से दर्शाया जा सकता है।
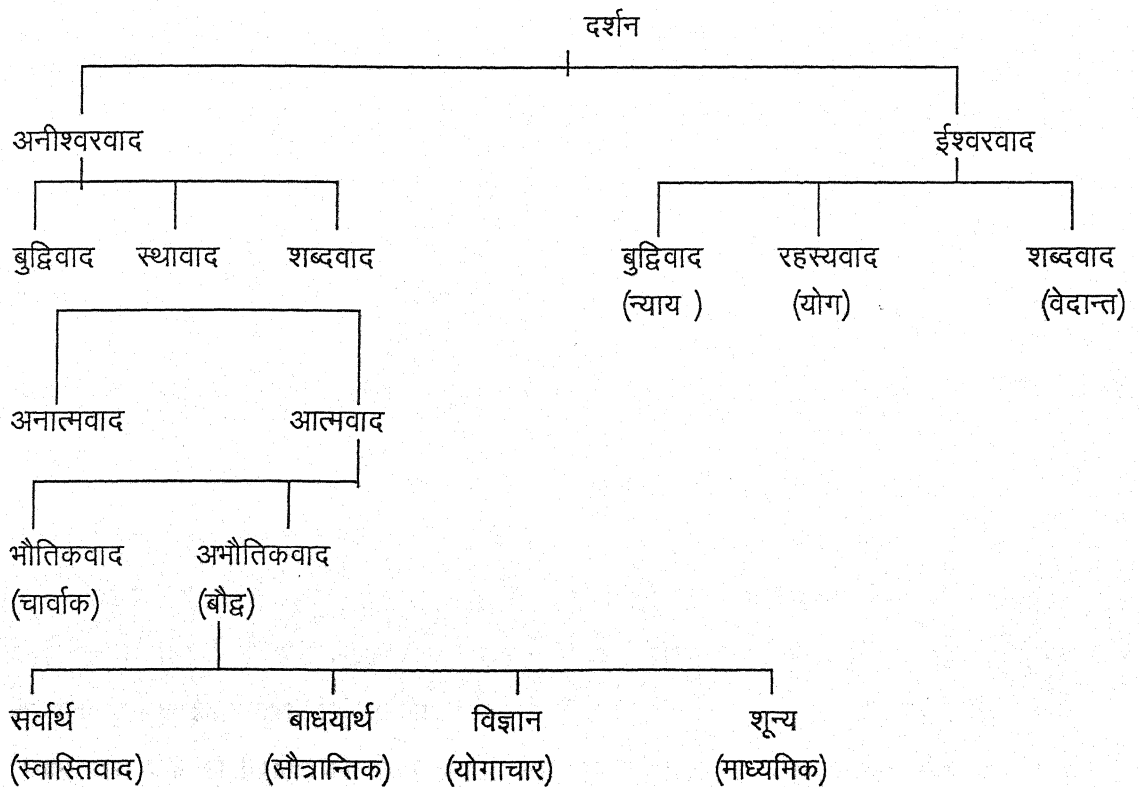
अन्य विद्वानों ने इस विभाजन से अलग वर्गीकरण किया हैं भारतीय दर्शन में छः दर्शन को आस्तिक कहा जाता हैं वे हैं – न्याय ,वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त । इन दर्शकों को षड़्दर्शन कहा जाता है। नास्तिक दर्शन के अन्तर्गत चार्वाक, जैन, और बौद्व को रखा गया है। मुख्यतः तीन नास्तिक दर्शन माने गये है।

इन शाखाओं को निम्नलिखित तालिका [29] मे दर्शाया जा सकता हैं ।
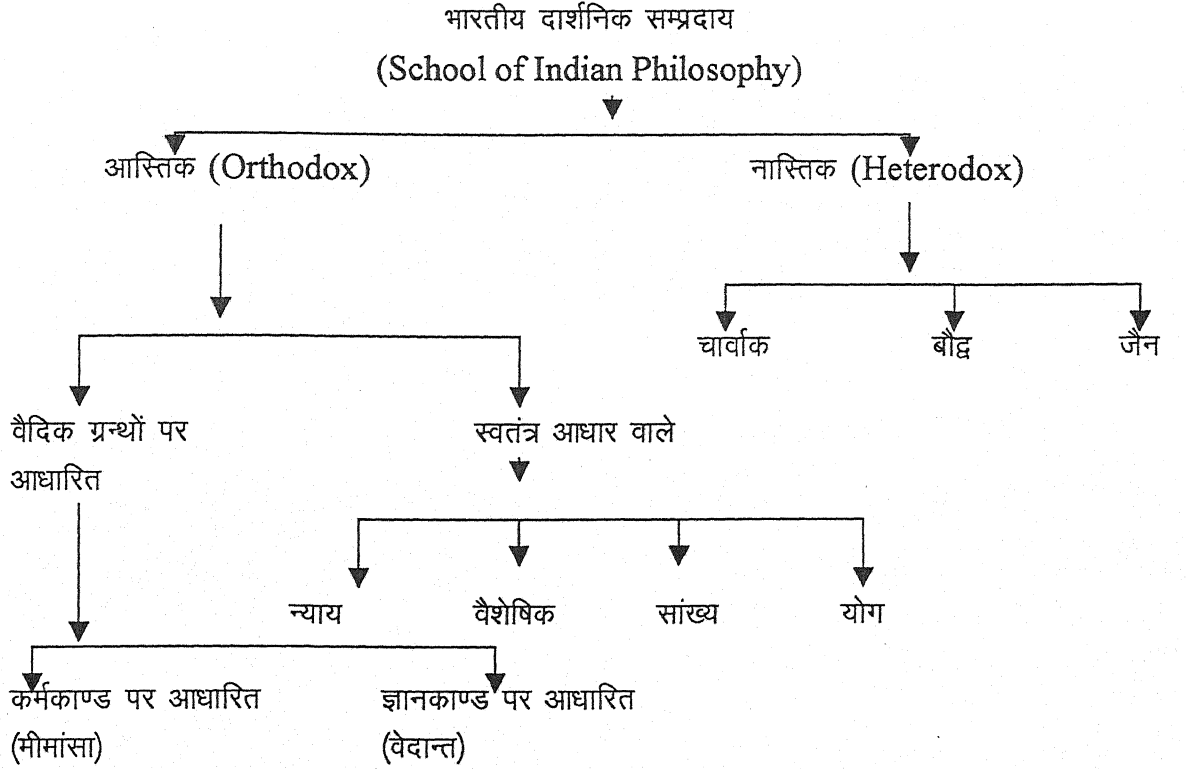
षड् – दर्शन

भारतीय विचार धारा के अन्तरर्गत न्याय, वैशेषिक ,साख्यः, योग, मीमासां तथा वेदान्त षंड़दर्शन कहे जाते हैं। इन्हे हिन्दू दर्शन भी कहा जाता हैं क्योकि इनके संस्थापक हिन्दू थे। जैन व बौद्ध दर्शन , अहिन्दू दर्शन कहलाते है। षड़–दर्शन के श्रेणी विभाग के संम्वध में आचार्य वलदेव उपाध्याय [30] ने इस प्रकार विचार व्यक्त किया है हिन्दू दार्शनिक अधिकार भेद से दर्शन का भेद मानता है। मनुष्य का मानसिक विकास निसर्गत भिन्न–2 श्रेणी का है। सब मानवों की विचार धारा एक ही प्रवृत्ति को लेकर प्रवृत्ति नही होती है। दर्शन के व्यवहारिक होने से प्रत्यक्ष है कि मनुष्य के वौद्दिक विकास के अनुरूप ही दर्शनों का निर्माण होना चाहिए इसका ध्यान

भारतीय दर्शनों में सुन्दर ढ़ग से रखा गया है। दर्शन का विकास स्थूल से आरम्भ कर सूक्ष्म की ओर बढने में हैं इस प्रकार षंड् –दर्शनों की तीन श्रेणीयॉ मानी जाती है। (1) न्याय तथा वैशेषिक (2) सांख्य तथा योग (3) कर्म मीमांसा तथा ज्ञान मीमांसा (वेदान्त).।

1.1.5. भारतीय दर्शनों में परस्पर सम्बन्ध

चिन्तन के क्षेत्र में भारतीय अति प्राचीन एवं अति समृद्ध है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से संबंधित विशद एवं पर्याप्त सामग्री भारतीय चिन्तन की प्रक्रिया में मिलती है। यही चिन्तन की प्रक्रिया विभिन्न दर्शनों में स्थान लिये हुये है। भारत के धार्मिक एवं सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव दर्शन की विभिन्न शाखाओं में दृष्टिगत होता है। अतः भारत वर्ष में बहुत से दर्शन एवं दार्शनिक विचार प्रचलित है। किसी देश में उत्पन्न होने वाले विचार शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों में आपस में कुछ भेद भले ही दिखते हो परंतु वातावरण में समानता होने के कारण इन सम्प्रदायों के मतों में अनेक समानताएं दृष्टिगोचर होती है। इसी कारण भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के अनेक सिद्धान्तों में भी एकता दृष्टिगोचर है। इसे निम्नानुसार स्पष्ट कर सकते है।

सभी दर्शनों का एक मात्र परम लक्ष्य है दुःख की परम निवृत्ति या परम आनन्द की प्राप्ति। अतः समस्त दर्शन एक ही ज्ञान के विविध पथ है। सभी दर्शन यह स्वीकार करते हैं कि संसार में जितने बंधन हैं उनका एकमात्र कारण अविद्या है। अविद्या से ही इस जगत में प्राणी मात्र का जन्म मरण हुआ करता है तथा वह अपने को विपुल क्लेशों का भाजन बनाये हुए हैं। वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अज्ञान अविद्या का सामान्य लक्षण है। ज्ञान ही मुक्ति का उपाय है। श्रते *ज्ञानान्न मुक्तिः– यह सि*द्धान्त सबको समान रूप से मान्य है।'[31] तत्वज्ञान से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। यह सिद्धान्त सभी दर्शनों को मान्य है।

भारतीय दर्शनों की सबसे बड़ा विशेषता यह है कि उनका उद्देश्य व्यावहारिक है। वे प्राणी मात्र को काल्पनिक जगत् में विचरण नहीं कराते हैं बल्कि विपद्ग्रस्त प्राणियों को विपत्ति से सदा के लिये मुक्ति प्राप्त करा देना उनका प्रधान लक्ष्य है। प्रत्येक भारतीय दर्शन में वर्तमान दशा से असंतोष प्रकट कर उसके सुधारने की प्रवृत्ति साधारण रूप में पाई जाती है। प्रत्येक दर्शन यह स्वीकार करता है कि प्राणी जो कुछ भी कार्य करते हैं उसका उन्हें फल अवश्य मिलता है। कर्म सिद्धांत पर भी सभी दर्शन विश्वास करते है। मोक्ष प्राप्ति के विभिन्न उपाय जो

अनेक दर्शनों में बताये हैं उनमें एक विचित्र एकता का भाव दृष्टिगोचर होता है। योग दर्शन में वर्णित प्रक्रियायें भारत के प्रत्येक दर्शन में सर्वथा मान्य हैं।[32]

सभी भारतीय दर्शन जिस प्रकार मानव जगत् में नैतिक व्यवस्था को देखते हैं उसी प्रकार भौतिक जगत् में भी शाश्वत् नैतिक व्यवस्था में दिखाया करते हैं। इस सर्वभौम नैतिक व्यवस्था को ही वेदों में ऋत् कहा जाता है। इस प्रकार सभी भारतीय दर्शन जहॉ आध्यात्मिक हैं वही जीवन के निकट भी हैं, वे व्यावहारिक भी है।

सभी भारतीय दर्शनों में समन्वय अर्थात सामान्य रूप है। एक ही सूत्र में बंधे हुये हैं। भारतीय दर्शनों के विधि सम्प्रदाय यह प्रकट करते हैं कि भारतीय विवेचक नाना मौलिक दृष्टिकोणों से तत्वों का विवेचन कर सकता हैं वह लकीर का फकीर नहीं हैं बल्कि अपनी बुद्धि से नये–नये तत्वों की मीमांसा करने में समर्थ हैं इसलिये दर्शनों में एकता है विभिन्नता नहीं, सामंजस्य है, विरोध नहीं। ये सम्प्रदाय अपनी अपनी दृष्टि से परमतत्व का विवेचन कर एक दूसरे के पूरक है। प्रत्येक मनुष्य की दृष्टि एक समान नहीं हो सकती इसलिये यह सबके लिये चिन्तन का विषय प्रस्तुत करता है।[33]

1.1.0 प्रमुख भारतीय दर्शन

भारत में प्राचीन काल से दर्शन शास्त्र का विकास होने लगा था। इसमें समय–समय पर नये दृष्टिकोणों का समावेश होता गया और आज इसका स्वरूप ऐसा है कि इसमें विभिन्न विचारधाराओं का समावेश हैं और लगभग मानव–जीवन के प्रत्येक पहलू का विवेचन है। भारतीय दर्शन की बहुत सी शाखाएं हैं जिन्हें भरतीय दर्शन के नाम से अभिहित किया जा सकता है। भारतीय दर्शन की प्रचलित प्रमुख विधाएं इस प्रकार है।

1.2.1 श्रौत दर्शन

श्रुति या वेद या उपनिषद के भीतर जो तत्व ज्ञान है उसे हम श्रौत दर्शन के नाम से अभिहित करते हैं। यद्यपि उपनिषदों में अन्य विभिन्न दर्शनों के बीज भी विद्यमान है तथापि उनमें एकरूपता का अभाव नहीं है इसलिये हमने उनके द्वारा प्रतिपादित तत्वज्ञान के लिये 'श्रोत्र दर्शन' की संज्ञा प्रदान की है। [34] वेद तथा उपनिषद भारतीय दर्शन का मुख्य आधार है। अतः इनका संक्षिप्त विवरण इस पकार है।

1.2.1.1. वेद

वेद विश्व साहित्य की सबसे प्राचीन रचना है। यह मानव के धार्मिक व दार्शनिक चिंतन का सर्वप्रथम परिचय कराने वाले है। डॉ. राधाकृष्णन[35] ने कहा है –"वेद मानव मन से प्रादुर्भूत ऐसे नितांत आदिकालीन प्रामाणित ग्रंथ है जिन्हे हम अपनी निधि समझते हैं। "

वेदों के रचयिता कोई नहीं हैं स्मृति के बल पर इनको पिछली पीढी तक पहुँचाया जाता है। इन्हे देववाणी के रूप में माना जाता है। इसलिए इनका नाम श्रुति अर्थात सुनी हुई पड़ा। इसमें लौकिक एंव अलौकिक दोनों विषयों का ज्ञान भरा पड़ा है। वेद चार है ऋग्वेद ,यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। प्रत्येक के तीन अंग है– संहिता, ब्राह्मण, और उपनिषद । सहिता में मंत्र हैं जो कि प्रायः पद्य में है। सहिता के पश्चात् वैदिक साहित्य को ब्रह्मण कहते है। यें प्रायः गद्य में लिखे गये है। ब्राह्मण के अंत में कर्मो के फलों के विचार उपलब्ध हैं। इन्हे आरण्यक कहा जाता है। आरण्यक के बाद शुद्व दार्शनिक विचारों का विकास होता है। जिनका संकलन उपनिषद् कहा जाता है। इन्हे वेदान्त भी कहते है।

वेदों में जीवन के लक्ष्य के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। ज्ञान एवं परम सुख की प्राप्ति वेद का परम घ्येय है। वे संसार के दुःखों से पूर्णतः परिचित दिखते है। सांसारिक दुःखों से छूटने की अभिलाषा भी उनके मन में निहित है। जीवात्मा व परमात्मा का ऐक्य ही परम लक्ष्य को पाने का एक मात्र साधन है।

वैदिक दर्शन के सृष्टि विषयक विचारों को दो रूपों में देखा जा सकता है– पुरा कथाशास्त्रीय और दार्शनिक वेद दर्शन में जगत को सत्य माना गया है। प्रोफेसर मैक्डॉनल [36] ने दो भिन्न प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में कहा है। "एक तो विश्व को शन्त्रिक निर्माण का परिणाम समझता है और जोड़ने वाले का कौशल कार्य। दूसरे इसे स्वाभाविक सृजन के परिणाम रूप में प्रस्तुत करता है।

यद्यपि देवताओं को अनेक माना गया है फिर भी जिस विश्व पर वे शासन करते हैं वह एक है। सृष्टि कम के अनेक वर्णन ऋक् संहिता[37] में मिलते हैं। प्रत्येक परिवर्तनशील पदार्थ के प्रथम आधार के रूप में उन्होने यूनानी दार्शनिक की भॉति जल, वायु, अग्नि आदि को ही मौलिक तत्व माना है, जिससे जगत् की उत्पति हुई। यज्ञ की अवधारणा के विकास के साथ सृष्टि– प्रकिया को यज्ञ के रूप में कल्पित किया है। इस तरह के अनेक मत मिलते है।

ऋक् संहिता में प्रतिपादित नीति के विचार में ऋत् का महत्व बहुत अधिक है। ऋत् का अर्थ होता है जगत् की व्याख्या । इसे प्राकृत नियम कहा गया है। सूर्य ,चन्दमा, तारे आदि इसी नियम द्वारा सचांलित है। यह नियम देवताओं को भी संचालित करता है। ऋत् का संचालक 'वरूण' देवता को कहा गया है। ऋत् सिद्वान्त कर्म नियम को जन्म देता है। वेद दर्शन मे पुनर्जन्म का विचार स्पष्ट नहीं हैं। स्वर्ग व नरक के संबंध में भी वेद में स्पष्ट विचार नही मिलते हैं। ऋक –संहिता में कर्म पुनर्जन्म व स्वर्ग –नरक के विचार स्पष्ट रूप से नही हैं। बाद के ब्राह्मण व अथर्वसंहिता में इसके संबंध में चर्चा की गयी हैं। वैदिक कर्मकाण्ड में यज्ञ की महत्ता पर बल दिया गया हैं।

वस्तुतः वैदिक ,धर्म व दर्शन में सामंजस्य है। ऋग्वेद में धर्म के तीन चरण बताये गये हैं –

1. प्रकृतिवादी बहुदेववाद
2. एकेश्वरवाद।
3. अद्वैतवाद या एकवाद।

ठीक ही कहा गया हैं कि ऋगवेद का प्रारंभ बहुदेववाद से होता है और इसका अन्त अद्वैतवाद या एकवाद में होता है। एकेश्वरवाद दोनों के बीच कड़ी का कार्य करता हैं इस प्रकार उपर्युक्त तीनों प्रकार की विचारधारा वेदों में पाते है।

भारतीय दर्शन के भिन्न–भिन्न अंगों का साधारण तथा कहीं–कहीं विशेष रूप में भी वर्णन हमारे प्राचीन ग्रंथों में स्पष्ट रूप से मिलता है।[38]

1.2.1.2 उपनिषद् दर्शन

उपनिषदों का भारतीय दर्शन के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान हैं भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का स्रोत्र उपनिषद् हैं । उपनिषद, वेद के अन्तिम भाग है इसलिये इन्हे वेदान्त भी कहा जाता है। यह भी सत्य है कि इनमें वेद की शिक्षाओं का सार है।" वेदान्तों नाम उपनिषत्प्रमाणम" से वेदवन्तसार में यही कहा गया है। उपनिषद अनेक हैं साधारणतः उपनिषेदों की सख्या 108 कही जाती है। इनमें से लगभग दस उपनिषद मुख्य है – ईश ,केन, प्रश्न, कठ, माण्डूक्य, तैत्तिरीय ,ऐतरेय ,मुण्छल ,छॉन्दोग्य एवं वृहदारण्यक । उपनिषद भारतीय दर्शन के आध्यात्मवाद का प्रतिनिधित्व करता है। इनमें पाये जाने वाले प्रमुख विचारें को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

उपनिषदों में सृष्टि विज्ञान के बारे में अनेक सिदान्तों का वर्णन मिलता हैं उदाहरण स्वरूप छॉदोग्य उपनिषद्[39] में कहा गया हैं कि सारी सृष्टि का मूल सत् है। कोशीतकि उपनिषद में प्राण को परमतत्व माना हैं ।[40] सृष्टि, निगुण ब्रह्म या आत्मा से उत्पन्न हुई ऐसा वर्णन ऐतरय उपनिषद में मिलता है। [41] सृष्टि क्या हैं ? इस प्रश्न के भी चार उत्तर उपनिषद में मिलते हैं – कुछ लोग इसे आधिदैविक कुछ आध्यात्मिक कुछ आधिभौतिक और कुछ स्वप्नवत् तुच्छ मानते हैं ।[42]

उपनिषदों में बाह्य सत्ता को अधिभूत ,आभ्यतर सत्ता को अध्यात्म और ऊर्ध्व सत्ता को अधिदेव कहा गया है। फिर इनको क्रमशः पुरूष आत्मा और ब्रह्म कहा है । उपनिषदों में ब्रह्म व आत्मा का विचार अनेक प्रकार से किया हैं। आरंम्भ में पुरूष अर्थात मूलतत्व के विभिन्न रूप बताये गये हैं और अन्त में पुरूष को एक और अद्वितीय सत् कहा गया है। फिर आत्मा भी कई बताई गयी हैं और अन्त में आत्मा को एक अद्वितीय चित् कहा गया इसी प्रकार कई देव बताये गये फिर अन्त में एक मात्र ब्रह्म देव कहा गया । इस प्रकार परम तत्व के बारे में आधिभौतिक ,आध्यात्मिक व आधिदैविक दृष्टिकोण से किये गये चिन्तन मिलते हैं और अन्त में इन तीनों दृष्टिकोणों से प्राप्त सत् को एक और अभिन्न सत् कहा हैं ।

'कर्मानुसार भविष्य जीवन ' – उपनिषदों का मत है कि इस जन्म में जब जीव मर जाता है तो वह अपने कर्म के अनुसार परलोक में फल पाता है। उपनिषद् संसार को बंधन मानते है। अविद्या बंधन का कारण है। इन बंधन से मुक्त होना ही मोक्ष है। विद्या से ही मोक्ष सम्भव है। जीव व ब्रह्म का एक हो जाना ही मोक्ष है। मोक्ष की अवस्था में एक ब्रह्म की अनुभूति होती हैं तथा भेदों का अन्त हो जाता हैं।

उपनिषद् में मोक्ष को आनन्ददायी अवस्था माना गया है। मैं ब्रह्म हूॅ 'अहं ब्रह्मास्मि' [43] यह अवस्था ही मुक्ति है।

उपनिषदों का व्यवहार पक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।[44] उन्नत आध्यात्मिक पथ पर आरूढ़ होने के लिये अनेक सद्गुणों का सद्भाव आवश्यक हैं। वृहदारण्यक उपनिषद[45] में आत्म संयम ,दान तथा दया की सुशिक्षा दी गई है। छांदोग्य उपनिषद (3/17/4) ने तपस्या ,दान ,अहिंसा आदि को आध्यात्मिक उन्नति का साधन बताया हैं। मुण्ड़क[46] उपनिषद् में सत्य की प्रशंसा की है ।

1.2.2 .गीता दर्शन

भारत के दार्शनिक धार्मिक साहित्य में भगवत् गीता का स्थान विशिष्ट है। परम्परा के अनुसार उपनिषद के साहित्य श्रुति है और भगवत् गीता के स्मृति। गीता को उपनिषद का सार भी कहा जाता है। गीता में उपनिषद् के तथ्यों को सरल एवं प्रभावशाली ढ़ग से प्रस्तुत किया गया है। इसीलिये कहा गया है कि समस्थ उपनिषद गाय हैं कृष्ण उसके दुहने वाले हैं, अर्जुन बछड़ा है और विद्वान गीता रूपी महान अमृत का पान करने वाला है। [47]

सर्वोपनिषदो गावों दोग्घा गोपालनन्दनः।

पर्थो वत्सः सुधी भौक्ता दुग्धं गीतामृतं महत।।

—गीता माहात्म्य[48]

गीता का विशेष महत्व इसलिये भी है क्योंकि गीता विभिन्न मतों और मार्गों का एक सशक्त समन्वय प्रस्तुत करती हैं। मोक्ष के विभिन्न मागों के बीच समन्वय, निगुण ब्रह्म के बीच समन्वय प्रवृतिवाद , ब्रह्मवाद तथा ईश्वरवाद के मध्य समन्वय प्रस्तुत करती है।

गीता के विचारों पर उपनिषदों का प्रभाव हैं। गीता में सगुण ब्रह्म को निर्गुण से श्रेष्ठ ठहराती है। ब्रह्मके निर्गुण स्वरूप को भी गीता मानती है। गीता विश्व को सत्य मानती है। क्योकि वह ईश्वर की सृष्टि है। ईश्वर विश्व का निर्माण माया से करता है। ईश्वर विश्व का उत्पादन कारण एवं निमित्त दोनों है। गीता में कहा गया हैं – जीव मेरा ही अंश हैं।[49] जीवात्मा एक कर्ता है वह शरीर धारी आत्मा है। गीता में आत्मा को अमर बताया गया है इसीलिये आत्मा का पुनर्जन्म होता है। यह पुनर्जन्म मोक्ष प्राप्ति कि लिये होता है। गीता में मोक्ष को चरम लक्ष्य माना गया है। गीता में स्वधर्म पालन की शिक्षा अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। गीता के सिद्वान्तों में निष्काम कर्म पर बल दिया गया है। गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तुझे कर्म करने का ही अधिकार हैं तेरा अधिकार कर्म फल के विषय में कुछ भी नही है।[50]

1.2.3. चार्वाक दर्शन

भारतीय दर्शन में नास्तिक दर्शनों का स्थान भी महत्वपूर्ण है। नास्तिक दर्शनों में तीन दर्शनों का परिगणन किया गया हैं। इनमें से पहला चार्वाक दर्शन हैं तथा दूसरा एवं तीसरा दर्शन क्रमानुसार जैन और बौद्व दर्शन है। विशुद्व भौतिकवादी दर्शन प्रायः चार्वाक दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं । इस दर्शन को लोकायत भी कहते हैं। इस मत के प्रवर्तक ब्रहस्पति माने जाते है। इस मत के अनुसार जो कुछ हैं यही लोक हैं इसलिये इसी की चिन्ता करनी चाहिये और

इसी को सुखदायी बनाना चाहिए। परलोक के लिये व्यर्थ व्यय और व्यर्थ परिश्रम नहीं करना चाहिए। इसी विश्वास के आधार पर उन्होने अर्थ और काम को ही पुरूषार्थ माना है और धर्म तथा मोक्ष का खण्डन किया। यद्यपि यह ब्रहस्पति कौन थे और उन्होने किस दार्शनिक ग्रंथ की रचना की यह आज काल के प्रवाह में अज्ञात हो चुका है। यह दर्शन बौद्ध दर्शन के पूर्व भी विद्यमान था। डॉ. राधाकृष्णन[51] ने लिखा हैं कि –चार्वाक दर्शन उतना ही पुराना हैं जितना स्वयं दर्शनशास्त्र और यह बौद्ध मत के पूर्व भी पाया गया है। चार्वाक दर्शन को कई दार्शनिकों ने दो वर्गों में विभाजित किया है धूर्त चार्वाक और शिक्षित चार्वाक। डॉ. उमेश मिश्र[52] का मत हैं कि धुर्त चार्वाक , शिक्षित चार्वाकों से कुछ आगे है। इस दर्शन का सर्वागीण कमबद्व सार बृहस्पति सूत्र से प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ बृहस्पति अर्थशास्त्र के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है क्योकि यथार्थ ज्ञान का साधन केवल इन्द्रियॉ है। इन्द्रियॉ पॉच बाहर की हैं और एक अन्दर की है। इन्होने अनुमान का खण्डन किया हैं । चार्वाक दर्शन में तत्वों की व्याख्या आरम्भ करते समय केवल चार तत्वों की ही गणना हुई हैं पृथ्वी, जल, तेज, वायु, [53] ये चार तत्व ही चार्वाकों को मान्य हैं जो कुछ हैं इन्ही के मेल से बना है।

चार्वाक मतानुयायी ईश्वर नामक किसी अदृश्य परमतत्व को स्वीकार नहीं करते और दूसरा जगत की रचना में उसकी भूमिका ही स्वीकार करते हैं । चार्वाक मत में राजा ही ईश्वर हैं चार जड़ भूतों के अतिरिक्त किसी अन्य अप्रत्यक्ष चैतन्य आत्मा की सत्ता चार्वाकों को मान्य नहीं हैं। चेतनता युक्त सूक्ष्म शरीर ही पुरूष या आत्मा हैं। चार्वाक मत का अनुगमन करने वाले दार्शनिक वैदिकों के समान परलोक आदि में भी विश्वास नहीं करते हैं। पुनर्जन्म में भी अविश्वास करते हैं साथ ही वे अतिवाहित सूक्ष्म शरीर की सत्ता में भी अविश्वास नहीं करते हैं जो भिन्न –भिन्न योनियों में आवागवन करती है। निम्नलिखित श्लोक[54] से उनकी अवधारणा के प्रति संकेत प्राप्त होता है।

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ,ऋणं कृत्वा धृतंपिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।

1.2.4 जैन दर्शन

जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन कहा जाता है, क्योंकि यह वेद विरोधी दर्शन है। यह अत्यंत प्राचीन विचार धारा का प्रतिनिधित्व करता है। ''जिन' के द्वारा प्रवर्तित होने के कारण

इस दर्शन की संज्ञा "जैन" है। इस दर्शन के आदि तीर्थकर आदिनाथ (ऋषभ देव) माने गये हैं।[55] अंतिम तीर्थकर महावीर स्वामी थे जिन्होंने ऋषभ देव के मत का प्रचार किया। इनका समय 599 ई0पू0 माना गया है। जैन अनुयायियों के दो भेद हैं– (1) दिगम्बर (2) श्वेताम्बर।

जैन दर्शन में ज्ञान के दो प्रकार माने गये हैं–

(1) प्रमाण – प्रमाण अनेक वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान है। इसके द्वारा हम अनेक विशिष्ट वस्तुओं को समझते हैं। ये तीन प्रकार के माने गये है – प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

(2) नय –'नय' किसी वस्तु को समझने का दृष्टिकोण। पूरी वस्तु को न समझकर उसके अंश को समझना नय है।

जैन दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त है–'अनेकान्तवाद'। अनेकान्त का अर्थ है – वस्तु के अनेक प्रकार।[56] इसके अनुसार संसार की कोई भी वस्तु का एक रूप, एक ही प्रकार नहीं है। हम किसी वस्तु को जितने भी दृष्टिकोणों से देखेंगे वह वस्तु उतने ही दृष्टिभेदों में दिखाई देगी।

सत् और असत् के संबंध में जैन मत की धारणा है कि 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्'।[57] अर्थात् जिसमें नये–नये अवयव उत्पन्न होते रहें और व्यय भी होता रहे और यह सब होते हुए भी स्थिरता रहे वही सत् कहलाता है। असत् या अभाव नामक जैन दर्शन में कोई स्वतंत्र तत्व नहीं है। जिस वस्तु को किसी दृष्टिकोण से सत् कह सकते हैं वही वस्तु अन्य दृष्टिकोण से असत् भी हो सकती है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु का स्वभाव पृथक्–पृथक् होता है वह स्वभाव उसी वस्तु में रहता है। इसी सिद्धान्त को जैन दर्शन में 'स्यात्वाद' भी कहा जाता है।

तत्व निरूपण जैन दर्शन में दो दृष्टिकोणों से हुआ है–जागतिक की दृष्टि से और साधना के लक्ष्य की दृष्टि से। जागतिक सृष्टि की दृष्टि से जैन दर्शन में एक मात्र 'द्रव्य' ही तत्व है। जैन दर्शन में द्रव्य का लक्षण बताया है कि– जिसमें गुण और पदार्थ दोनों है उसे द्रव्य कहते हैं।[58] द्रव्य दो भागों में विभाजित हो जाता है–(1) जीव (2) अजीव। अजीव के और पॉच भाग हो जाते है– काल, आकाश, धर्म, अधर्म एवं पुद्गल।[59]

आत्मा या चेतन को संसार की दशा में जीव कहते है। इसमें प्राण है जो नानाविध पदार्थो को जानता है, उनका प्रत्यक्ष अनुभव करता है। सुख की इच्छा करता है, कर्म करता है

और फलों का उपयोग करता है। कहा गया है–चेतना लक्षणों जीवः ।[60] जीव के भी दो भाग हो जाते है– (1) संसारी (2) मुक्त। इन दोनों के और भी भेद बताये गये हैं।

जैन सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि चार परमाणुओं से एवं भौतिक पदार्थो से निर्मित है। जैन दर्शन के अनुसार बंधन का अर्थ है जीवों को दुखों का सामना करना तथा जन्म जन्मान्तर तक भटकना। मोक्ष बंधन का प्रतिलोम है। जीव तथा पुद्गल का संयोग बंध है। इसलिये इसके विपरीत जीव का पुद्गल से वियोग ही मोक्ष है। मोक्षावस्था में जीव का पुद्गल से पृथक्करण हो जाता है। जैन दर्शन में त्रिरत्न को (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित) मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बताया गया है।

जैन दर्शन ईश्वरवाद का खण्डन करता है परन्तु विचारकों का कहना है कि यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से जैन धर्म में ईश्वर का खण्डन हुआ है फिर भी व्यावहारिक रूप में जैन धर्म में ईश्वर का विचार किया गया है। जैन धर्म में ईश्वर के स्थान पर तीर्थंकरों को माना गया है।[61]

1.2.5. बौद्ध दर्शन

ई0 पू0 पॉचवी एवं छठी शताब्दी से लेकर ग्यारहबी बारहवीं शताब्दी ई0 तक बौद्ध धर्म और दर्शन का काल माना जाता है। इसके प्रवर्तक महात्मा बुद्ध थे। महात्मा बुद्ध के बाद उनकी शिक्षा के आधार पर दार्शनिक विचारों का उद्भव हुआ। सिद्धान्त 'चन्द्रोदय' के 18 भेद तथा उपभेद किये गये है।[62] किन्तु इनमें से दार्शनिक जगत् में चार मत ही प्रमुख रूप से प्रचलित हैं ये निम्नानुसार है– (1) सौत्रान्तिक (2) वैयाषिक (3) योगाचार (विज्ञान वाद) (4) माध्यमिक (शून्यवाद)।

सामान्यतः चारों मतों तथा इनके अवान्तर भेदों में मूल रूप विनाश शीलक्रिया अथवा कर्म को ग्रहण करने के कारण यह दर्शन 'क्रियावादी,' वैयाषिक या, 'श्रमणवादी' दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। इस दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त हैं कि सब कुछ क्षणिक है, स्व लक्षण और शून्य है।[63]

बौद्ध धर्म तथा दर्शन कालांतर में विकास को पाकर नाना रूपों में परिवर्तित हो गया, परन्तु उसके मूल में कतिपय सिद्धान्त आधारभूत होने के हेतु सर्वदा विद्यमान रहे । ये मौलिक सिद्धान्त तीन है।[64]

(1) सत्ता अविच्छिन्न रूप से प्रवाहशील है।

(2) एक में अनेक की और अनेक में एक की उपलब्धि होती है।

(3) निर्वाण ही परम् शान्ति है।

महात्मा बुद्ध के विचारों में चार आर्य सत्य प्रमुख हैं– दुःख, दःख समुदय (दुःख का कारण), दुःख निरोध (दुःख से मुक्ति), दुःख–निरोध–मार्ग। दुःख निरोध हेतु आष्टांगिक मार्ग का उल्लेख किया गया है जो निम्नानुसार हैं[65]–

(1) सम्यक् ज्ञान – आर्य सत्यों को ठीक–ठीक समझना।

(2) सम्यक् संकल्प – दृढ़ निश्चय पर डटे रहना।

(3) सम्यक् वचन – सत्य बोलना, मिथ्या का परित्याग।

(4) सम्यक् कर्मान्त – हिंसा, द्रोह तथा दुराचरण से रहित कर्म।

(5) सम्यक् आजीव – न्यायपूर्ण जीविका चलाना।

(6) सम्यक् व्यायाम – भलाई उत्पन्न करने के लिये सतत् उद्योग करना।

(7) सम्यक् स्मृति – लोभ आदि चित्त संताप से अलग रहना।

(8) सम्यक् समाधि – राग–द्वैष से हीन चित्त की एकाग्रता।

आचार्य बलदेव उपाध्याय[66] ने लिखा है – बुद्ध धर्म की आचार प्रधान शिक्षाओं के मूल में दो दार्शनिक सिद्धान्त प्रधानतया दृष्टिगोचर होते हैं– संघातवाद एवं सन्तानवाद। वे मानसिक अनुभव तथा विभिन्न प्रवृत्तियों को स्वीकार करते हैं। परन्तु आत्मा को उनके संघात (समूह) से भिन्न पदार्थ नहीं मानते । आत्मा प्रत्यक्ष गोचर मानस प्रवृत्तियों का पुंजमात्र है। इसे ही 'नैरात्म्यवाद' भी कहा गया है। त्रिपिटकों के अनुसार यह आत्मा तथ जगत् अनित्य है। इसका कालिक संबंध दो क्षण तक भी नहीं रहता है। वह तो प्रतिक्षण परिणाम प्राप्त करता रहता है। इस प्रकार जीव तथा जगत् दोनों परिणामशाली हैं। महात्मा बुद्ध के अनुसार' हमारे दुःख का मूल कारण अविद्या है, जिसकी अद्भुत शक्ति के कारणों से एक परम्परा हो जाती है। इस कारण परम्परा को 'प्रतीत्य–समुत्पाद'[67]–एक वस्तु की प्राप्ति होने पर दूसरी वस्तु की उत्पत्ति कहते हैं, अर्थात् एक कारण के आधार पर कार्य उत्पन्न होता है।

1.2.6. न्याय दर्शन

दार्शनिक सम्प्रदायों के वर्गीकरण के अन्तर्गत आस्तिक दर्शनों की संख्या छः मानी गई है। वे हैं– न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांसा। न्याय दर्शन के प्रवर्तक गौतम हैं इनके नाम पर इसे गौतम दर्शन भी कहते हैं। इन्हें अक्षपाद भी कहा जाता है एवं यह दर्शन तर्कशास्त्र और प्रमाणशास्त्र पर अत्यधिक जोर देता है इसलिये इसे अक्षपाद दर्शन, तर्कशास्त्र, प्रमाणशास्त्र एवं वादविद्या भी कहा जाता है।

न्याय दर्शन के ज्ञान का आधार 'न्याय सूत्र' है जिसके रचयिता गौतम मुनि को माना गया है। न्याय शब्द की व्युत्पत्ति में 'नीयते विवाक्षितार्थः अनेन इति न्यायः अर्थात् जिस साधन से हम अपने विक्षित् (ज्ञेय) तत्व के पास पहुँचते हैं वही साधन न्याय है। न्याय शास्त्र में सोलह श्रेय पदार्थो की गणना की गई है जिसमें प्रमाण प्रथम और सत्य है। 'प्रमाण–प्रमेय–संशय–प्रयोजन–दृष्टान्त–सिद्धान्त–अवयव–तर्क–निर्णय–वाद–जल्प–वितण्डा–हेत्वाभास–छल–जाति–निग्रहस्थाना नां – तत्व ज्ञानान्नि; श्रेयसााधिगमः।[68] न्याय दर्शन; अर्थात्–प्रमाण प्रमेय, संशय प्रयोजन, दृष्टान्त ,सिद्धान्त, अवयव ,तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा ,हेत्वाभास, छल जाति और निग्रह स्थान इनके तत्व ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

गौतम के अनुसार प्रमेयों की संख्या 12 है। प्रमेय का अर्थ है जानने योग्य पदार्थ। प्रमा (यथार्थ ज्ञान) के द्वारा जानने योग्य पदार्थ 12 है– आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ (इन्द्रियों के विषय) बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष (अर्थात् रागादि विचार), प्रेत्य भाव (पुनर्जन्म), फल–कर्मफल, दुःख (कर्म फल का परिणाम) तथा अपवर्ग (मोक्ष)।

न्याय दर्शन में असत् कार्यवाद के सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया है। कारण में कार्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। न्याय की दृष्टि मे कर्म की उत्पत्ति होती है अर्थात् उत्पन्न होने वाला घड़ा एक नवीन वस्तु है, जो मिट्टी में पहले विद्यमान नहीं था। न्याय दर्शन का यह अपना विशिष्ट मत है।

न्याय दर्शन बाह्यवादी होने के कारण बाह्य जगत की सत्ता को स्वीकार करता है। यह जगत नित्य एवं अनित्य तत्वों से परिपूर्ण है, इसका निर्माण नित्य तत्वों से हुआ हैं। ये नित्य तत्व पृथ्वी, जल, वायु तथा तेज के परमाणु हैं। न्याय दर्शन ईश्वरवादी दर्शन है ईश्वर विश्व का सृष्टा है, पालक और संहारक है।

न्याय के अनुसार आत्मा एक द्रव्य है, सुख, दुःख, इच्छा आदि आत्मा के गुण है। न्याय, आत्मा को स्वरूपतः अवचेतन मानता है। आत्मा में चेतना का संचार विशेष परिस्थितियों में होता है। आत्मा कर्म के नियम के अधीन है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी स्वीकार करते हैं। आत्माओं की संख्या अनन्त है। बंधन की अवस्था में आत्मा को सांसारिक दुःख के अधीन रहना पड़ता है। बंधन की अवस्था में आत्मा को निरंतर जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार जीवन में दुःखों को सहना तथा पुनः जन्म ग्रहण करना बंधन है।

मोक्ष दुःख के पूर्ण निरोध की अवस्था है। अपवर्ग का अर्थ है शरीर और इन्द्रियों के बंधन से आत्मा का मुक्त होना। मोक्ष ऐसी अवस्था है जिससे केवल दुःखों का ही अन्त नहीं होता है बल्कि उसके सुखों का भी अन्त हो जाता है। मोक्ष पाने के लिये न्याय दर्शन में श्रवण, मनन, और निदिध्यासन पर जोर दिया जाता है।

1.2.7. वैशेषिक दर्शन

व्याकरण शास्त्र में जो स्थान 'पाणिनि व्याकरण' व्याकरण का है, दर्शन शास्त्र में वही स्थान वैशेषिक दर्शन का है। यह श्लोक प्रसिद्ध है– 'कणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रों पकारकम्।''[69]

इस दर्शन के प्रवर्तक एवं सूत्रकार महर्षि कणाद मुनि है। कणाद का असली नाम ''उलूक'' था। इसी कारण इस दर्शन को ''औलूक्य'' दर्शन भी कहते है। इनके द्वारा विशेष नामक पदार्थ के पता लगाने के कारण वैशेषिक नाम दिया गया है। न्याय तथ वैशेषिक दर्शनों में इतनी समानता है कि दोनों को न्याय–वैशेषिक का संयुक्त नाम दिया गया है।

वैशेषिक दर्शन वस्तुवादी और पदार्थवादी दर्शन है। यह गोचर जगत को सत्य मानता है। वैशेषिक दर्शन में जगत की वस्तु के लिये पदार्थ इस शब्द का व्यवहार करते हैं पदार्थ का अर्थ है नाम धरण करने वाली वस्तु। वैशेषिक दर्शन में पदार्थ की संख्या कितनी है? इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती ने इस दर्शन को षड़ पदार्थवादी माना है। कुछ ने 'अभाव' पदार्थ मानते हुए सात पदार्थ बताए है तथा कुछ ने पदार्थो की संख्या दस तक बतायी है। पदार्थों का वर्गीकरण भाव और अभाव दो रूपों में किया गया है। छः पदार्थ इस प्रकार है– (1) द्रव्य (2) गुण (3) कर्म (4) सामान्य (5) विशेष एवं (6) समवाय।

जगत् के सभी कार्य द्रव्य, जल, तेज, तथा वायु इन चार प्रकार के परमाणुओं से बनते है। जगत् की सृष्टि इस प्रयोजन से होती है कि चेतनता सम्पन्न जीवात्मायें अपनी–अपनी

योग्यता के अनुसार अनुभव प्राप्त कर सकें। प्राणियों की मूलभूत शक्तियों को वास्तविक रूप देने का नाम ही विश्व है। इस की रचना कर्मो के कारण तथा अनुभव कराने के प्रयोजन से हुई है।

जीवात्मा अपनी बुद्धि, कर्म और ज्ञान के अनुसार ही सुख और दु:ख भोगते हैं। वैशेषिक दर्शन ने परमाणुओं के अतिरिक्त सृष्टि में ईश्वर, जीवात्माओं और कर्म नियमों को माना है। वैशेषिक के अनुसार सृष्टि का चक्र अनन्त काल तक नहीं जारी रखा जा सकता, सृष्टि के बाद प्रलय का प्रादुर्भाव होता है। पदार्थो के तत्वज्ञान से मोक्ष होता है। तत्वज्ञान धर्म विशेष से उत्पन्न होता है।

1.2.8. सांख्य दर्शन

सांख्य दर्शन पर अध्याय चतुर्थ में विस्तार से विचार किया गया है इसलिये यहाँ प्रसंगवश अत्यंत संक्षेप में सांख्य तथा योग दर्शन का विवरण प्रस्तुत है।

सांख्य–दर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि होने के कारण इसे –कपिल दर्शन' भी कहते हैं। यह दर्शन प्रकृति के स्थूल तत्वों की संख्या प्रतिपादित करता है अतः इसे सांख्य दर्शन कहते हैं इस दर्शन के अनुसार पदार्थो की संख्या 25 है। ये पदार्थ हैं– (1) प्रकृति (2) महत् (3) अहंकार (4) पंचतन्मात्रा (5) पंचमहाभूत (6) एकादशेन्द्रिय (7) पुरूष। इन 25 तत्वों को चार भागों में विभाजित किया गया है–

1. मूल प्रकृति संख्या–1
2. प्रकृति–विकृति संख्या–7 (महत्, अहंकार, पंचतन्मात्रा)
3. विकृति–संख्या–16 (एकादशइन्द्रियाँ, पंचमहाभूत)
4. प्रकृति–विकृति–रहित संख्या–1(पुरूष)

मूलतः इस दर्शन में दो तत्व हैं– प्रकृति और पुरूष। दोनों स्वयंभू हैं। अतः दोनों की सत्ता पृथक्–पृथक् है। सांख्य तीन प्रमाण मानता है–प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द। प्रकृति के समस्त पदार्थ जड़ है और वे भोग्य है। पुरूष चेतन और भोक्ता है। पुरूष प्रकृति से अलग नहीं समझा जाता अतः बद्ध है। प्रकृति से अपने को पृथक् समझना मुक्त होना है। यही सांख्य दर्शन का उद्देश्य है।

1.2.9. योग दर्शन

इस दर्शन के प्रवर्तक पतंजलि ऋषि है। अतः इसे पातंजल दर्शन भी कहते है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के ये आठ अंग है। इन योगांगों के अभ्यास से मल का नाश होकर प्रकृति पुरूष का विवके होता है समाधि के द्वारा जीवात्मा प्रकृति को बंधन से छूट जाती है, यही मुक्ति है। पहले यह प्रकृति के साथ एक हो रहा था अब उससे अलग होकर केवल स्वरूप होना केवल्य है। कतिपय दार्शनिक योग को अलग दर्शन के रूप में स्वीकार न करके सांख्य का ही अन्तरंग मानते है।

1.2.10. पूर्व मीमांसा दर्शन

'मीमांसा' मात्र वेद की प्रामाणिकता को ही नहीं मानती है बल्कि वेद पर पूर्णतः आधारित है। वेद के दो अंग है– ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड। वेदों के ज्ञानकाल की मीमांसा वेदान्त दर्शन में हुई है जबकि वेद के कर्मकाण्ड की मीमांसा, मीमांसा दर्शन में हुई है इसलिये ही इसे कर्म–मीमांसा या पूर्व मीमांसा कहा जाता है। इसके विपरीत वेदान्त को ज्ञानमीमांसा या उत्तरमीमांसा कहा जाता है।

पूर्व मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक जैमिनी मुनि है। उन्हीं के नाम पर इसको जैमिनीय–दर्शन कहते है। मीमांसा दर्शन में जगत् व उसके समस्त विषयों को सत्य माना है। यह प्रत्यक्ष जगत् को अतिरिक्त आत्मा, स्वर्ग, नरक, वैदिक यज्ञ के देवताओं का भी अस्तित्व स्वीकार करता है। पदार्थो की संख्या के विषय में विचारकों में मतभेद है। प्रभाकर ने पदार्थो की संख्या 8 मानी है–(1) द्रव्य (2) गुण (3) कर्म (4) साम्य (5) परतंत्रता (6) गणित (7) सादृष्य (8) संख्या।[70] कुमारिल के अनुसार पदार्थो की संख्या पॉच है। मुरारि ने व्यावहारिक दृष्टि से चार पदार्थ माने है। मीमांसा मत में अपूर्व नामक पदार्थ की कल्पना की गई है। कर्म का फल जब प्राप्त होता है तब कर्म का संपादन नहीं होता प्रत्युत वह अतीत की कोटि में चला जाता है। कर्म की जो सूक्ष्म उत्तरावस्था है या फल की अवस्था है वहीं अपूर्व कहलाती है। मीमांसक ईश्वर पर कर्म और अपूर्व को ही महत्व देते है।

मीमांसा दर्शन के अनुसार संसार के तीन विभाग है– (1) शरीर या योगायतन (2) इन्द्रियॉ (3) भोग्य या भौतिक पदार्थ। त्रिवर्ग संयुत यह संसार अनादि अनन्त और सतत प्रवाहयुक्त है जगत् के सब पदार्थ अणु से उत्पन्न हुए हैं, कर्मो के कालोन्मुख होने एवं 'अणु'–'संयोग' से व्यक्ति उत्पन्न होते हैं तथा काल की समाप्ति पर उनका नाश हो जाता है।

मीमांसा दर्शन में छः प्रमाण माने गये है।–(1) प्रत्यक्ष (2) अनुमान (3) उपमान (4) शब्द (5) अर्थापत्ति (6) अनुपलब्धि। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य सभी प्रमाणों को परोक्ष कहा गया है।

आत्मा को मीमांसा दर्शन में एक द्रव्य माना गया है जो चैतन्य गुण का आधार है। चेतना आत्मा का स्वभाव नहीं गुण है। आत्मा अजर तथा अमर है। मीमांसा दर्शन में ईश्वर का स्थान अत्यंत गौण है। कहा गया है कि प्राचीन मीमांसकों ने स्वर्ग को जीवन का चरम लक्ष्य माना था परन्तु मीमांसा दर्शन के विकास के साथ बाद में मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य कहा है। मोक्ष की अवस्था में आत्मा का सम्पर्क शरीर, इन्द्रिय तथा मन से टूट जाता है पुनर्जन्म का अन्त हो जाता है। मोक्ष, दुःख के अभाव की अवस्था है। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान और कर्म से संभव है।

1.2.11. उत्तर मीमांसा

इस दर्शन के प्रवर्तक बादरायण व्यास है। परन्तु इस विषय में मतभेद है। गुरूदत्त एवं कुवंरलाल व्यास का मत है कि ब्रह्मसूत्र के लेखक व्यास और महाभारत के प्रवक्ता व्यास भिन्न है, बादरायण व्यास से पूर्ववर्ती या समकालीन थे।[71] परन्तु प्राचीन परम्परा बादरायण और व्यास को अभिन्न मानती है एवं इन्हें ही महाभारत का रचयिता मानती है। प्रस्थानत्रय में ब्रह्मसूत्र का स्थान सर्वोपरि हे इसे उत्तर मीमांसा, वेदांत दर्शन या भिक्षुसूत्र से अभिहित किया जाता है।

ब्रह्मसूत्र के प्रथम पाद के प्रथम सूत्र में ही कहा गया है कि ब्रह्मसूत्र का ज्ञातव्य तत्व ब्रह्म है।[72] इसके उपरान्त ही द्वितीय सूत्र में यह कहा गया हे कि इस कार्य जगत् का जिससे जन्मादि होता है, वह ब्रह्म है। एक ही परमतत्व है– ब्रह्म,। उसके दो विभाग है– निर्विशेष तथा सविशेष। जगत् के मूल उपादान के रूप में ब्रहमसूत्र ब्रह्म तत्व का निरूपण करता है। ईश्वर ही विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण है। ईश्वर से आकाश की उत्पत्ति है तत्पचात् क्रमशः वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। सूक्ष्म शरीर से स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है और स्थूल शरीर पंचीकृत भूतों से बना है निर्विशेष ब्रह्म जब माया द्वारा आवृत्त होकर सविशेष या सगुण भाव को धारण करता है तब वह ईश्वर की संज्ञा पाता है। अविद्या की उपाधि से संपन्न ब्रह्म जीव कहलाता है तथा माया रूप उपाधि से युक्त होकर ब्रह्म ईश्वर कहलाता है।

इस दर्शन में माया के संबंध में कहा गया हे कि यह जगत् इस समय सृष्टि काल में नाम रूपात्मक व्यक्त रूप में है, परन्तु इसकी एक पूर्वावस्था भी होती है जो अव्यक्त रूप में रहती है, वही माया है। माया के द्वारा ही परमेश्वर सृष्टि के कार्य में प्रवृत्त होता है। उत्तर

मीमांसा मे 'विवेक ज्ञान उत्पन्न होने पर मुक्ति जीव के सामने वैभव के साथ प्रकाशित होने लगती है। दुःख का पूर्ण नाश हो जाता है और आनन्द विराजने लगता है। अतः वेदान्त मुक्ति की दशा आनन्द दशा है। मुक्ति दो प्रकार की होती है – जीव मुक्ति तथा विदेह मुक्ति। शरीर को धारण करते हुए जो प्राप्त होती हैं वह है जीव मुक्ति एवं शरीर के त्याग के बाद प्राप्त होने वाली मुक्ति विदेह मुक्ति कही जाती है। ब्रह्म सच्चिदानन्द हैं अतः जीव भी सद्चिदानन्द रूप हो जाता हैं कहा गया हैं –

वेदान्त सिद्वान्त –निरूक्तिरेशा, ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च।

अखण्डरूपपस्थितिरेवमोक्षो, ब्रह्मद्वितीये कुतयः प्रमाणम्।।[73]

1.3.0. शिक्षा

शिक्षा शब्द का प्रयोग विभिन्न रूपों एवं अनेक संदर्भो में किया जाता है। इसकी सीमाएं अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक हैं अतः सर्वप्रथम हमें इसका शाब्दिक अर्थ अभीष्ट हैं और उसके प्रकाश में व्यापकता को परिभाषित करना आवश्यक है।

1.3.1. शिक्षा का अर्थ

यदि शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखा जाय तो 'शिक्षा' शब्द का उद्गम संस्कृत की 'शिक्ष्' धातु से हैं 'शिक्ष' का अर्थ होता हैं ''सीखना'' तथा प्रेरक रूप में प्रयुक्त होने पर इसका अर्थ 'सीखना' भी हो जाता है। भारतीय भाषाओं में शिक्षा के पर्यायवाची के रूप में विद्या तथा ज्ञान शब्दों का प्रयोग भी किया जाता हैं । विद्या शब्द का उद्गम विद् धातु से हुआ है। विद् धातु के अनेक अर्थ है। मुख्य पॉच अर्थ तो इस प्रकार बताये जा सकते हैं – ज्ञान, वास्तविकता, उपलब्धि, विचारणा और श्रेष्ठ भावनायें । ऐसा प्रतीत होता हैं कि प्राचीन काल में विद्या शब्द इन पॉचों अर्थो में प्रयुक्त होता था। भारतीय दर्शनों में ज्ञान वही अर्थ रखता हैं तो व्यापक अर्थो में शिक्षा का होता हैं।

अग्रेजी में शिक्षा को Education कहा जाता हैं इस शब्द की उत्पत्ति लेटिन भाषा के एजुकेटम (Educatum) से मानी जाती है जो दो मूल शब्दों का संयुक्त रूप हैं –'ए'(e) तथा डूको (Duco) । प्रथम का अर्थ हैं अन्दर से तथा द्वितीय का अर्थ है अग्रसर करना। इसका

अर्थ हुआ आन्तरिक को बाहर लाना । कुछ शिक्षा शास्त्री लेटिन के दो अन्य शब्दों से भी Education की उत्पत्ति मानते हैं यथा–

एजुसीयर (Edureare)– जिसका अर्थ हैं विकसित करना।

एजुकेयर (Educare) जिसका अर्थ हैं बढ़ाना, पालन पोषण करना ।

उपर्युक्त आधार हम कह सकते हैं कि शिक्षा का सम्वंध विकास अथवा सीखने से है। शिक्षा वस्तु न होकर प्रकिया है।

वर्तमान समय में शिक्षा शब्द का प्रयोग अनेक रूपों तथा विभिन्न संदर्भो में किया जा रहा हैं । शिक्षा के संकुचित या सीमित अर्थ के अनुसार – शिक्षा का अभिप्राय , बालक को स्कूल में दी जाने वाली शिक्षा से हैं । दूसरे शब्दों में बालक को एक निश्चित योजना के अनुसार एक निश्चित समय तक और निश्चित विधियों से निश्चित प्रकार का ज्ञान दिया जाता है। उसको प्राप्त करने का मुख्य स्थान विद्यालय होता है। एस.एम. मेकन्जी के अनुसार – संकुचित अर्थ में शिक्षा का अर्थ हमारी शक्तियों के विकास एवं सुधार हेतु चेतनापूर्वक किये गये प्रयास से हैं ।[74]

शिक्षा के व्यापक अर्थ के अनुसार 'शिक्षा' आजीवन चलने वाली प्रकिया है। व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक कुछ न कुछ सीखता रहता है। प्रोफेसर डमविल का मत हैं – " शिक्षा के व्यापक अर्थ में सभी वे प्रभाव आते हैं जो व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रभावित करते है।[75] अन्य शिक्षाशास्त्री एवं विद्वानों ने शिक्षा का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है – पेस्टालॉजी कहते हैं – शिक्षा मानव की जन्मजात शक्तियों का स्वाभाविक ,समन्वित एवं प्रगतिशील विकास है ।[76] महात्मा गॉधी के अनुसार – शिक्षा से मेरा अभिप्रय है – बालक और मनुष्य के शरीर मस्तिष्क और आत्मा में पाये जाने वाले सर्वोत्तम गुणों का चतुर्मुखी विकास[77]। शिक्षा शास्त्री एडम्स शिक्षा को द्विमुखी प्रकिया (शिक्षक एवं शिक्षार्थी) स्वीकार करते हैं तो जॉन डीवी ने एडम्स के मनोवैज्ञानिक पक्ष को स्वीकार करते हुये सामाजिक पक्ष पर भी बल देते हुये शिक्षा को त्रिमुखी प्रकिया बताया है।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा को परिभाषित करना चाहे तो इस प्रकार कहा जा सकता है – ऋग्वेद के अनुसार "शिक्षा वह हैं जो मनुष्य को आत्मविश्वासी और स्वार्थहीन बनाये।[78] (सा विद्या या विमुक्तये) रवीन्द्रनाथ [79] का मत हैं कि शिक्षा का कार्य मन को अन्तिम सत्य खोजने योग्य बनाना है। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग रिपोर्ट के अनुसार "भारतीय

परम्पराओं के अनुसार शिक्षा जीविकोपार्जन का साधन मात्र नही है न ही विचारों का पालन – पोषण हैं न ही नागरिकता की पाठशाला हैं बल्कि यह आत्मा के जीवन का आरम्भ है। मानवीय आत्मा का सत्य की खोज के लिये प्रशिक्षण हैं एवं सद्‌गुण का अभ्यास है। यह दूसरा दिव्यात्म जन्म है।[80]

उपर्युक्त आधार पर स्पष्ट हैं कि शिक्षा की परिभाषा शिक्षाशास्त्रियों ने अपने–अपने मत से दी है। शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है। इसलिये कोई सर्वमान्य परिभाषा हो भी नही सकती है। अन्त में डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में कह सकते हैं "शिक्षा को मनुष्य और समाज का निर्माण करना चाहिये।[81]

1.3.2. शिक्षा की आवश्यकता

शिक्षा एक प्रकिया हैं । जब मानव वातावरण से सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करना हैं तो शिक्षा प्रारम्भ हो जाती हैं। यद्यपि शिक्षा निरन्तर चलने वाली प्रकिया है। बालक जन्म के बाद से ही घर ,समाज ,परिवार के सदस्यों आदि से कुछ न कुछ सीखता रहता है। परन्तु शिक्षा सही अर्थ में तभी होती है जब शिक्षा प्राप्त करने के बाद बालक के व्यवहार में परिवर्तन आये एवं बालक के व्यक्तिव का विकास हो। अतः मानव जीवन को उत्तम बनाने ,उसे प्रगति के पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर करने एवं जीवन लक्ष्यों की पूर्ति के लिये शिक्षा आवश्यक है।

इसीलिये आदिकाल से ही शिक्षा किसी न किसी रूप में प्रदान की जाती हैं । प्रारम्भ में जब ज्ञान सीमित था, जीवन बड़ा सरल था तो अनौपचारिक शिक्षा ही पर्याप्त थी परन्तु ज्यों –ज्यों ज्ञान के क्षेत्र में अभिवृद्वि होती चली गई एवं ज्ञानार्जन की भावना में वृद्वि के कारण शिक्षालयों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी ,व्यापक दृष्टि से शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। तब से शिक्षा विशेष स्थानों पर विशेष व्यक्तियों द्वारा प्रदान की जाय ,ऐसी अपेक्षा की जाने लगी। इसी दृष्टिकोण ने शिक्षक तथा शिक्षालयों के विकास पर बल दिया ।

शिक्षाशास्त्री यह स्वीकार करते है कि शिक्षा की आवश्यकता प्रत्येक मनुश्य को हैं क्योकि सर्वप्रथम यह मानव का पूर्ण विकास करती है। जैसा कि एडिसन ने लिखा हैं[82] "शिक्षा वह प्रकिया है जिसके द्वारा मनुष्य में निहित उन शक्तियों और गुणों का दिग्दर्शन होता हैं जिसका होना शिक्षा के बिना असंभव है। श्री अरविन्द[83] का ही कहना हैं– "शिक्षा मानव के

मस्तिष्क और आत्मा की शक्तियों का निर्माण करती है। यह ज्ञान चरित्र और संस्कृति का उत्कर्ष करती हैं। " कोई भी प्राणी ऐसा नहीं हैं जो कुछ सीखे बिना जीवन की गुत्थियों को सरलता से सुलझा सके , कोई भी कठिनाई आने पर या किसी भी समस्या के उपस्थित होने पर व्यक्ति अपने सीखे हुऐ ज्ञान के आधार पर उसका हल ढूंढता हैं। अतः समस्या के उपयुक्त समाधान के लिये शिक्षा आवश्यक है।[84] इतिहास साक्षी हैं कि शिक्षा ने समाज के विकास के रूप निर्धारण में योगदान दिया हैं अतः शिक्षा सामाजिक आवश्यकता है।[85] रवीन्द्रनाथ टैगोर[86] का भी कहना था कि सर्वोत्तम शिक्षा वही हैं जो संपूर्ण दृष्टि से हमारे जीवन का समन्वय स्थापित करती है।

शिक्षा की आवश्यकता स्पष्ट रूप से द्विमुखी हैं एक ओर तो यह हमें एक विशाल वातावरण में जीने योग्य बनाती हैं तथा दूसरी ओर यह हमारे सामाजिक जीवन की विशेषता हैं हमारा व्यक्तिगत जीवन तथा सामाजिक जीवन दोनों ही इस पर निर्भर है। वास्तव में यह हमारे जीवन से पूर्ण रूप से संलग्न प्रकिया हैं जिसकी हमारे लिये शारीरिक एवं जैविक तथा सामाजिक दोनों दृष्टियों से आवश्यकता हैं ।[87]

1.3.3. शिक्षा के उद्देश्य

रिवलिन महोदय एनसाइक्लोपीडिया ऑफ मॉडर्न एजूकेशन में लिखते हैं कि ' शिक्षा एक सप्रयोजन तथा नैतिक क्रिया है। अवएव यह कल्पना ही नही की जा सकती हैं कि यह उद्देश्यहीन हैं।[88] परन्तु जॉन डिवी के अनुसार शिक्षा का वस्तुतः कोई लक्ष्य नहीं होता हैं। डॉ. डिवी के अनुसार[89] – शिक्षा एक विकासात्मक कार्य हैं और किसी भी विकासत्मक कार्य का कोई लक्ष्य नही होता है। उपयुक्त दोनों कथनों से स्पष्ट हैं कि शिक्षा के उद्देश्य का प्रश्न विवादास्पद है। कुछ शिक्षाशास्त्री शिक्षा का उद्देश्य आवश्यक मानते हैं जबकि कुछ इनका विरोध करते हैं रॉक ,रस्क , तथा डे शिक्षा का विशिष्ट उददेश्य मानते हैं । इसी प्रकार भारतीय शिक्षाशस्त्रियों में रवीन्द्रनाथ टैगोर , महात्मा गॉधी ,महर्षि अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द सभी ने् शिक्षा के विशिष्ट उद्देश्य बताये है। अधिकांश शिक्षाशास्त्रियों का यही कहना है कि मानव जीवन के प्रयेत्क पक्ष तथा दैनिक जीवन की क्रियाओं को सफल बनाना शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य है। शिक्षा के क्षेत्रों में भी यही तथ्य ग्राह्म होता है।

जब यह प्रश्न उठता है कि शिक्षा का उद्देश्य क्या होना चाहिये ? तब भी बहुत से उत्तर प्राप्त होते है। कुछ के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य चरित्र निर्माण होना चाहिये , दूसरे

पूर्व जीवन की तैयारी इसका उद्देश्य बताते हैं। [90] कुछ यह नारा लगाते है कि शिक्षा को केवल यह ध्यान रखना चाहिये कि स्वस्थ मस्तिष्क ,स्वस्थ शरीर में ही हो सकता है। [91] परन्तु जैसा कीटिग महोदय[92] ने कहा है कि शिक्षा के सार्वभौमिक उद्देश्य का पता लगाना असम्भव है। इस अवस्था की उत्पत्ति का मूल कारण वैयक्तिक वैविध्य है। एक व्यक्ति का उद्देश्य अन्य व्यक्ति के लिये अनुचित ,असंगत यहॉ तक कि हास्यास्पद भी हो सकता है। यही नही एक व्यक्ति का उद्देश्य भी व्यक्तिगत ,समाजगत, कलागत, विभिन्नता एवं परिवर्तन के कारण एक रूप नहीं होता । शिक्षा को सोद्देश्य प्रकिया मानते हुए जब शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार करे तो ज्ञान होगा कि शिक्षा शास्त्रियों ,विद्वानों ,मनीषियों ने शिक्षा के अनेकानेक उद्देश्य बताये है। जिन्हें प्रमुख रूप से – निम्नानुसार स्पष्ट किया जा सकता है।

शारीरिक विकास का उद्देश्य

सामान्य रूप से प्रायः सभी देशों और कालों में शारीरिक विकास को महत्वपूर्ण उद्देश्य माना गया है। शरीर ही आध्यात्मिक ,नैतिक , मानसिक और व्यावसायिक विकास का साधन है। कहा भी गया है 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। शरीर ही ज्ञानशक्ति , इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति का माध्यम है। [93]स्वामी विवेकानन्द ने शरीरिक बल पर अत्यधिक आग्रह किया है।[94] जॉन जेबक रूसों एवं हरबर्ट स्पेनसर ने शरीरिक शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया है। उस उद्देश्य के अन्तर्गत अन्नमय कोश एवं प्राणमय कोश दोनों विकास सम्मिलित है।[95]

मानसिक विकास का उद्देश्य

इस उद्देश्य का संबंध मानसिक एवं बौद्विक शक्तियों एवं क्षमताओं के विकास एवं ज्ञान प्राप्त करने से है। सुकरात, प्लेटो, अरस्तु, दांते ,कमेनिमस , बेकन, इत्यादि ज्ञानार्जन के उद्देश्य के समर्थक है। कमेनियस महोदय[96] का कथन है कि आदर्श शिक्षा का कर्तव्य है कि वह बालक को अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करे। मानसिक विकास का सम्वन्ध मनोमय एवं विज्ञानमय कोश से है। पॉच ज्ञानेन्द्रियों सहित मन से युक्त मनोमय कोश किया प्रधान हैं बुद्विं तत्व सहित विज्ञान कोश[5] चिन्तन, मनन ,तर्क, शक्ति, तुलना, भेद करना एवं निर्णय करने की शक्ति आदि मानसिक विकास के उद्देश्य के अर्न्तगत ही आते है। वास्तव में ज्ञानार्जन एवं मानसिक शक्ति का विकास अन्योन्य– आश्रित है। अरविन्द आश्रम की श्री मॉ ने मन की शिक्षा का उद्देश्य माना है। एकाग्रता की शक्ति का सजग होने की क्षमता का विकास।[98]

व्यवसायिक शिक्षा का उद्देश्य

विद्वानों का विचार है कि शिक्षा जीविका – निर्वाह में सहायता करने वाली होनी चाहिये अर्थात शिक्षा का उद्देश्य जीविकोपयोगी हो ।[99] दूसरे शब्दों में कहें तो व्यक्तिगत जीविकोपार्जन हेतु एवं राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि हेतु आवश्यक व्यावहारिक कुशलताओं एवं सम्बधित गुणों एवं वृत्तियों का विकास करना ।[100]

डॉ. जाकिर हुसैन ने इस उद्देश्य पर बल देते हुये लिखा है – " राज्य का पहला कार्य यह होना चाहिये कि वह नागरिक को किस लाभप्रद कार्य के लिये एवं समाज मे किसी निश्चित कार्य के लिये शिक्षित करना अपना उद्देश्य बनाये।[101] महात्मा गॉधी ने भी उद्योग पर आधारित शिक्षा का समर्थन करते हुये बेसिक शिक्षा पद्धति के नाम से देश को नई योजना दी थी। उनका कहना था –" सच्ची शिक्षा को बच्चों की बेरोजगारी से एक प्रकार की सुरक्षा देनी चाहिये।[102] स्वतन्त्र भारत में शिक्षा के लिये गठित विभिन्न आयोगों में भी शिक्षा के व्यावसायिक उद्देश्य का समर्थन किया है। विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग[103] (1948–49) ने इस संबन्ध में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया हैं "शिक्षा वह क्रम हैं जो मनुष्य को किसी व्यवसाय में व्यावसायिक दृष्टिकोण के उत्तरदायित्व के साथ कार्य करने की क्षमता देती हैं कोठारी शिक्षा आयोग ने कार्यानुभव को सामान्य शिक्षा में आवश्यक विषय के रूप में रखने की संस्तुति की हैं आयोग का मत है शिक्षा का उद्देश्य उत्पादन को बढ़ावा होना चाहिये।[104]

नैतिक शिक्षा का उद्देश्य

प्रायः सभी विचारको एवं शिक्षाशास्त्रियों ने नैतिक शिक्षा एवं चरित्र निर्माण को शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य माना है। हरबर्ट महोदय[105] ने चरित्र निर्माण और नैतिकता के लिये शिक्षा पर बहुत अधिक बल दिया है। उनके अनुसार –"नैतिकता को मानव जाति और फलतः शिक्षा का सामान्य रूप से सबसे श्रेष्ठ उद्देश्य माना गया है। रसेल महोदय[106] भी शिक्षा का उद्देश्य उचित चरित्र का निर्माण समझते है। भारतीय शिक्षाशास्त्रियों में महर्षि अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द एवं महात्मा गॉधी ने नैतिक शिक्षा एवं चरित्र का निर्माण की शिक्षा पर बल दिया हैं। एक बार जब गॉधीजी से पूछा गया कि जब भारत स्वतन्त्र हो जायेगा तब आपकी शिक्षा का क्या उद्देश्य होगा? उनका उत्तर था चरित्र निर्माण ।[107] श्री अरबिन्द के अनुसार – "मनुष्य की नैतिक प्रकृति के साथ व्यवहार करते हुए तीन बाते अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है –भाव, संस्कार, अर्थात बनी हुई आदतें और साहचर्य तथा स्वभाव । इन साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में

हरर्बाट[108] द्वारा नीति शास्त्र और सौन्दर्य के समन्वय हेतु सद्‌गुणों का उल्लेख मिलता है, जो निम्नलिखित है।

1. आंतरिक स्वतन्त्रता 2. सिद्धि 3. परोपकारिता 4. अधिकार 5. प्रतिकार या समानता ।

कुछ विद्वानों ने नैतिक शिक्षा के उद्‌देश्य का विवेचन निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर किया है[109] –

1. धर्म एवं संस्कृति के प्रति श्रद्धा 2. राष्ट्र प्रेम 3. सदाचार

वस्तुतः परिपूर्ण व्यक्ति के लिये नैतिक शिक्षा अपरिहार्य है ।

आध्यात्मिक शिक्षा का उद्‌देश्य

आदर्शवादी विचारकों के अनुसार शिक्षा का उद्‌देश्य 'बालक का आध्यात्मिक विकास करना होना चाहिये, जिससे कि वह संसार के माया – मोह में न फँसकर असीम आनंद को प्राप्त करने का प्रयत्न करे।[110] आध्यात्मिक उद्‌देश्य के संबंध में कुछ अन्य मतों एवं विचारधाराओं को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता हैं – भारतीय जीवन दर्शन के अनुसार जीवन के परम लक्ष्य के प्रति सचेत करना, अन्तरात्मा में एवं दूसरे प्राणियों में ईश्वर के दर्शन करना, निर्भयता, प्रेम, करूणा आदि आध्यात्मिक गुणों का विकास करना।[111] महान दार्शनिक डॉ राधाकृष्णन[112] के शब्दों में "शिक्षा का उद्‌देश्य न तो राष्ट्रीय कुशलता हैं और न अन्तर्राष्ट्रीय एकता वरन् व्यकित को यह अनुभव करना हैं कि उसमें बुद्वि से भी अधिक महत्वपूर्ण कोई चीज हैं जिसे यदि आप चाहें तो आत्मा कह सकते है।"

अध्यात्म का सम्बंध आत्मा से हैं "आत्मा को अधिकृत करके जो रहता हैं उसे आध्यात्मिक कहते हैं । स्वयं गीताकार ने परब्रह्म के प्रति देह में अन्तरात्मा रूप से स्वभाव रूप में जो से स्थापित होता हैं उस स्वभाव को ही आध्यात्मिक कहा जाता है।[113] विद्यार्थियों के जीवन को आध्यात्मिक संस्कारों से संस्कारित करना, आध्यात्मिक शिक्षा का उद्‌देश्य है। उपयुक्त बिन्दुओं के आधार पर शिक्षा के विभिन्न उद्देश्यों पर चर्चा की गयी हैं; वस्तुतः इन सभी उद्‌देश्यों का लक्ष्य है " बालक का सर्वागीण विकास करना", जो कि शिक्षा का वास्तविक उद्‌देश्य हैं। महात्मा गॉन्धी[114] ने भी शिक्षा के उद्‌देश्य निर्धारित करते हुये लिखा हैं "शिक्षा से मेरा तात्पर्य हैं मानव के शरीर, मन, और आत्मा में निहित सर्वश्रेष्ठ तत्वों का विकास "कॉमेनियस ने अपने शिक्षा दर्शन में बतलाया गया हैं कि "शिक्षा मनुष्य का सम्पूर्ण विकास है।"[115]

उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णित उद्देश्यों की व्याख्या से एक बात स्पष्ट है कि शिक्षा का एक उद्देश्य स्वयं में पूर्ण नहीं। शिक्षा की सार्थकता तभी हैं जबकि मानव के व्यक्तित्व तथा जीवन के विभिन्न पहलुओं –शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक का समुचित विकास किया जाये । शिक्षा की पूर्णता इसी में हैं कि वह व्यक्ति का सर्वोन्मुखी विकास करे। यह स्थिति तभी आती है जब समस्त उद्देश्यों के मध्य समन्वय हो। शिक्षा शास्त्रियों एवं विद्वानों ने शिक्षा के जो बहुविधि उद्देश्यों की चर्चा की है उसका कारण है –मानव का बहुमुखी व्यक्तित्व एवं जीवन – दर्शनों के प्रति विभिन्नता का भाव। अतः शिक्षा का कोई एक मात्र उद्देश्य बताया नहीं जा सकता ।

भारतीय शिक्षा दर्शन एवं मनोविज्ञान को दृष्टिगत रखते हुऐ उद्देश्य पर विचार करें तो शिक्षाशात्रियों के विचारों में अद्भुत साम्य देखने को मिलेगा। यथा–डॉ. अल्तेकर[116] के अनुसार "शिष्य को पवित्रता और धर्म की भावना, चरित्र निर्माण, व्यक्ति का विकास,नागरिक और सामाजिक कर्तव्य की भावना, सामाजिक समर्थता की समुन्नति और राष्ट्रीय संस्कृति की दृष्टि से शिक्षा देनी चाहिये। स्वामी विवेकानन्द[117] का कथन था–"हमें ऐसी शिक्षा चाहिये जिससे चरित्र बने, मानसिक विकास हो, बुद्धि का विकास हो और जिससे मनुष्य अपने पैरो पर खड़ा हो सके।" श्री अरविन्द[118] का कथन –बालक की प्रकृति में जो कुछ सर्वोत्तम सर्वाधिक शक्तिशाली, सर्वाधिक अन्तरंग और जीवनपूर्ण है, उसको व्यक्त करना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय मनीषियों ने शिक्षा के उद्देश्यों के संबंध में जो विचार व्यक्त किये है वे प्रायः समान है। केवल अभिव्यक्ति की भिन्नता के कारण शब्दों में थोड़ा बहुत अन्तर मिलता है। यद्यपि शिक्षा के उद्देश्य जीवन के उद्देश्यों से भिन्न नहीं है। शिक्षा एक प्रणाली हैं जिससे जीवन के उददेश्य प्राप्त होते हैं शिक्षा मानव की उन अन्तर्निहित शक्तियों, कुशलताओं एवं गुणों का विकास करती है जिससे वह अपने जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल होता है।

1.4.0. भारत में शिक्षा का स्वरूप

"भारत में शिक्षा का स्वरूप" इस विषय में विचार करने के लिये इसे दो भागों में बॉटा जा सकता है। प्राचीन शिक्षा एवं वर्तमान शिक्षा। सर्वप्रथम भारत में प्राचीनकाल में शिक्षा का

स्वरूप कैसा था इस पर विचार करेंगे। इसके अन्तर्गत प्राचीन काल से लेकर स्वतंत्रता के पूर्व तक विचार करेंगे। वर्तमान शिक्षा के अन्तर्गत स्वतंत्रता के बाद से अब तक के शिक्षा के स्वरूप पर विचार करेंगे।

1.4.1. प्राचीन शिक्षा

मनुष्य सृष्टि के आदिकाल से ही ज्ञान प्राप्त करने का अभिलाषी रहा है। शिक्षा सदा से मानव जीवन की सहायिका रही है। शिक्षा एक गतिशील विषय (प्रक्रिया) है। इसका रूप स्थिर नहीं रहा है। जहॉ शिक्षा बदलते हुये समय में परम्पराओं परिस्थितियों से प्रभावित हुई है वहीं उसने समाज मानव और राष्ट्र को न केवल परिवर्तित ही किया है वरन् – प्रभावित भी किया है। भारत में शिक्षा की प्रक्रिया अति प्राचीन काल से चल रही है। प्राचीन भारतीय शिक्षा की गौरवशाली परम्परा कभी भी विस्मृत नहीं की जा सकती है। अपनी शिक्षा नीति के कारण हम उन दिनों अति वैभवशाली थे। प्राचीन शिक्षा से प्रकाश की महिमामयी आभा प्रस्फुटित होती है, जो कि समय–समय पर हमारी पथ प्रदर्शिका है।

प्राचीन भारत मे शिक्षा ज्ञान का स्त्रोत थी। उसे लोक और परलोक के सुधारने का माध्यम माना जाता था। मोक्ष तथा आध्यात्मिक मुक्ति प्राप्त करने के लिये ही इस युग की शिक्षा का विकास हुआ था। वास्तव में प्राचीन शिक्षा धर्म से प्रेरित थी। इसका प्रमुख कारण प्राचीन भारतीय विचारधारा तथा जीवन दर्शन का पूर्ण रूप से धार्मिक होना था। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र चाहे आर्थिक हो, चाहे राजनैतिक या सामाजिक सब पर धर्म का प्रभाव था। कालान्तर में शिक्षा में लौकिक पक्ष भी आ गया। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक एवं साहित्यिक शिक्षा प्रदान करना था जिसके द्वारा आर्य संस्कृति का विकास हो सके।[119]

प्राचीन भारत में गुरूकुल प्रणाली प्रचलित थी। इस युग में छात्र की शिक्षा का आरंभ उपनयन संस्कार से किया जाता था। गुरू आश्रम में केवल ब्रह्मचारी ही रह सकते थे। इस युग में गुरू को अत्यधिक महत्व दिया जाता था। शिक्षा यद्यपि धर्म प्रधान थी परन्तु साहित्य तथा दर्शन के अतिरिक्त व्यावसायिक विषय जैसे चिकित्सा शास्त्र, हेतु विद्या आदि की शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। लेखन कला का विकास न होने के कारण अध्यापन की प्रणाली प्रमुख रूप से मौखिक थी। एफ0डब्ल्यु0थामस के अनुसार "ऐसा कोई भी देश नहीं है जहॉ ज्ञान के प्रति प्रेम इतने प्राचीन समय से प्रारम्भ हुआ हो या जिसने इतना स्थायी और शक्तिशाली प्रभाव

उत्पन्न किया हो। भारत में वैदिक युग के साधारण कवियों से लेकर आधुनिक युग के दार्शनिकों तथा शिक्षकों और विद्वानों का एक सतत क्रम रहा है।"[120]

बौद्धधर्म का प्रादुर्भाव होने के पश्चात् शिक्षा व्यवस्था में परिवर्तन आया, संगठित रूप में शिक्षा संस्थाओं का उदय बौद्धयुगीन शिक्षा की विशेषता थी। तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला, बलभी, उडपंतपुर, औदन्तपुरी आदि अनेक शिक्षा केन्द्र थे, जिसमें विदेशी छात्र भी आकर अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त करते थे। इस युग में व्याकरण, तर्कशास्त्र, धर्म–दर्शन, आदि की शिक्षा दी जाती थी।

मध्ययुग में मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से भारतीय शिक्षा के स्वरूप में परिवर्तन आया। एक ऐसी शिक्षा की नींव पड़ी जो वेद कालीन शिक्षा से भिन्न थी। अतः हिन्दुओं की पाठ्शालाओं के साथ मकतब और मदरसे स्थापित हुये। जहॉ धार्मिक (कुरान आदि की) एवं लौकिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी।

पन्द्रहवी शताब्दी से ही भारत में यूरापीय जातियों का आना प्रारंभ हो गया था। सोलहवीं शताब्दी के आरंभ तक भारत मे कई व्यापारिक कम्पनियां स्थापित हो गई। इसी समय ईसाई मिशनरियों ने भी यहॉ आना प्रारंभ कर दिया जिनका प्रमुख उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना था। इस हेतु उन्होने शिक्षा को माध्यम बनाया और यूरोपीय शैली पर आधारित कई स्कूल खोले। भारत में अंगेज व्यपारिक दृष्टिकोण से आये थे। अतः उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की और सन 1600 ई0 से भारत से व्यापारिक संपर्क स्थापित कर लिया। कंपनी का प्राथमिक उद्देश्य व्यापार के साथ–साथ धर्म प्रचार भी था। इस हेतु ईसाई मिशनरियों के माध्यम से शिक्षा देने का कार्य प्रारंभ किया।

सन 1698 ई0 में सर्वप्रथम अंग्रेजी स्कूल खोले गये, मद्रास तथा मुम्बई में कुछ निःशुल्क विद्यालयों की स्थापना की गई। यहीं से अंग्रेजी स्कूलों का खोला जाना प्रारंभ हुआ। सन 1813 ई0 से 1833 ई0 तक कम्पनी की शिक्षा के संबंध में अनिश्चित नीति रही और शिक्षा के क्षेत्र में विवाद छिड़ गया जो बहुत दिनों तक चलता रहा। विवाद का मुद्दा था– शिक्षा का माध्यम क्या हो?, शिक्षा प्रणाली क्या हो? प्राच्य हो अथवा पाश्चात्य हो। सन् 1834 ई0 में लार्ड मैकाले ने भारत में प्रवेश किया और तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम वेंटिक के समक्ष अपना विवरण पत्र रखा। पर्याप्त विचार विमर्श के पश्चात बैंटिक ने 7 मार्च 1835 ई0 आज्ञापत्र में मैकाले की सभी बातें स्वीकार कर ली और शिक्षा नीति की घोषणा करके 22 वर्षो से चले आ

रहे पूर्व–पश्चात्य विवाद का अन्त कर दिया। इसी के साथ शिक्षा के क्षेत्र में एक नये युग की शुरूआत हुई, शिक्षा की अनिश्चित एवं अस्थिर नीति अब सदा के लिये स्थाई बन गई।

सन् 1935 ई से स्वतंत्रता प्राप्ति तक कई आयोगों एवं घोषणाओं के माध्यम से प्राथमिक से उच्चस्तरीय शिक्षा में अनेक परिवर्तन किये गये। अनेक प्रयास किये गये, यह सारे प्रयास शिक्षा प्रणाली पर ही आधारित थे जिनका उद्देश्य अंग्रेजी शासन को मजबूती प्रदान करना एवं भारतीयों का शोषण करना था। लार्ड मैकाले का यह कथन अंग्रेजी विचारधारा को स्पष्ट करता है– "हम एक ऐसा वर्ग बनाना चाहते हैं, जो रंग रूप में तो भारतीय हों, परन्तु वेषभूशा, आचरण एवं विचारों में पूर्णतया अंग्रेज हो।"[121] वास्तव में अंग्रेज क्लर्की शिक्षा देना चाहते थे। शिक्षा के वास्तविक उद्देश्यों की ओर उन्होने कभी ध्यान नहीं दिया। जो भी आयोग बैठे और जो योजना प्रस्तुत की उसमें सबसे बड़ा दोष यह था कि उनके द्वारा भारत के समक्ष इंग्लैंड की शिक्षा व्यवस्था का आदर्श रख गया, जबकि दोनों देशों की सामाजिक, राजनैतिक, तथा आर्थिक व्यवस्थाएँ एक दूसरे से भिन्न है। परिणाम स्परूप शिक्षा कभी भी अपने उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर सकी एवं अनेक दोष उत्पन हुये उसके हानिकारक परिणाम आज तक भारत को भुगतने पड़ रहे है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन काल में जब शिक्षा भारतीय पृष्ठभूमि पर आधारित थी तथा भारतीय दर्शन एवं धर्म से प्रभावित थी तो अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफल रही। परिणाम स्वरूप भारत ने भी सभी क्षेत्रों में प्रगति की, चहुँमुखी उन्नति की एवं विश्व का गुरू कहलाया, परन्तु जब विदेशी आक्रान्ताओं ने भारत पर अधिकार कर लिया तो शिक्षा व्यवस्था भी प्रभावित हुई। शिक्षा जब विदेशी संस्कृति एवं दर्शन से प्रभावित रही तो अनुकूल परिणाम नहीं दे सकी फलतः भारत राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं वैज्ञानिक सभी क्षेत्रों में पिछड़ गया और आज भी अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है।

1.4.2 वर्तमान शिक्षा

वर्तमान शिक्षा पर विचार दो तरीके से करेंगे प्रथम तो संविधान एवं आयोगों द्वारा प्रस्तावित ढॉचा और कार्यक्रम आदि पर एवं द्वितीय, अन्य महत्वपूर्ण पहलुओं पर जैसे– शिक्षा के उद्देश्य, राष्ट्रीय शिक्षा नीति आदि। अब पहले वर्तमान शिक्षा व्यवस्था पर विचार करेंगे।

समय व परिस्थितियों के परिवर्तन का परिणाम शिक्षा पर पड़ा और जैसे–जैसे भारत की देश काल और परिस्थितियॉ परिवर्तित होती चली गई वैसे–वैसे भारत की शिक्षा व्यवस्था भी परिवर्तित होती चली गई। प्राचीन भारत से वर्तमान समय के भारत की स्थिति बहुत भिन्न है। विदेशी आकान्ताओं के प्रभाव एवं विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी द्वारा की गई नई तकनीकों ने प्राचीन भारत का स्वरूप ही बदल कर रख दिया है। परिणामतः वर्तमान युग में धर्म, दर्शन व शिक्षा की स्थिति व स्वरूप में बहुत सारे परिवर्तन दृष्टिगोचर होते है।

भारत में पुनर्जागरण की शुरूआत से ही आधुनिक युग का आरंभ होता है। राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द के प्रयासों से दार्शनिक चिन्तन का नवीन मार्ग खुला। उन्होने दर्शन को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया, इस क्षेत्र में एफ0मेक्समूलर एवं शॉपेन हावर जैसे पश्चिमी विद्वानों का भी विशेष योगदान रहा है। वीसवीं शताब्दी में वेदान्त से हटकर कुछ भिन्न प्रकार का चिन्तन भी हुआ जो मानवेन्द्रनाथ के नव्य मानववाद, राजाराममोहन राय के ब्रह्म समाज तथा ऐनीबेसेन्ट के विचारों में मिल सकता है। आधुनिक युग में दर्शन के निजी तर्क प्रधान रूपों के अन्वेषण एवं पुनर्व्याख्या का कार्य हुआ। साथ ही धर्म– आध्यात्म की नई–नई व्याख्याएं की गई। आधुनिक युग के कई विचारकों ने दर्शन को नई दिशा दी। उनमें से कुछ प्रमुख के नाम इस प्रकार बताये जा सकते है– डॉ. भगवानदास, डॉ.दासगुप्ता, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन, अरविंन्द्र आदि। इस प्रकार नवीन चिन्तन, प्राचीन की पुनर्व्याख्या, समन्वित विचारधारों का क्रम निरन्तर जारी है। उपयुक्त परिवर्तन एवं विचारधाराओं ने शिक्षा को भी प्रभावित किया। फलतः प्राचीन शिक्षा व्यवस्था के स्थान पर नवीन शिक्षा प्रणाली का आरम्भ हुआ।

स्वाधीन भारत ने ब्रिटिश सरकार द्वारा छोड़ी गई अनेक परम्पराओं के आधार पर चलना प्रारंभ किया। उनमें से एक थी 'शिक्षा व्यवस्था'। देश की भावी शिक्षा का स्वरूप क्या हो? यह स्पष्ट नहीं था। भारतीय संविधान में शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर विचार व्यक्त किये गये हैं यथा– निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा के सम्बंध में संविधान की धारा 45 में कहा गया है नारी शिक्षा एवं धार्मिक शिक्षा के सम्बंध में भी धारा 15 एवं 28 में भारत का द्रष्टिकोण व्यक्त किया है। संघ व राज्य सूची में शिक्षा संम्बंधी कार्यो का बटवारा किया गया है। भारत में शिक्षा संबंधी नीति निर्धारण एवं शिक्षा में सुधार करने के उद्देश्य से बहुत से कमीशन एवं आयोगों की स्थापना की गई तथा शिक्षा में परिवर्तन के प्रयास किये गये है। आज की शिक्षा पूर्व प्रारम्भिक , प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च में विभक्त है। स्वतंत्रता के पश्चात् माध्यमिक शिक्षा

आयोग(1952–53) के द्वारा पूर्व में प्रचलित शैक्षिक रूप –रचना को नया और तर्क पूर्ण आधार देने का प्रस्ताव किया गया था इस आयोग के सुझावों के निष्कर्ष[122] इस प्रकार थे –

1. प्रथम चार या पॉच वर्ष प्राथमिक या जूनियर बेसिक शिक्षा।
2. मिडिल या जूनियर सेकेण्डरी या सिनियर बेसिक जिसकी अवधि 3 वर्ष रहेगी।
3. उच्च माध्यमिक शिक्षा – इसकी अवधि चार वर्ष रहेगी।
4. माध्यमिक शिक्षा की अवधि सात वर्ष होगी।
5. प्रथम उपाधि कोर्स तीन वर्ष का।
6. स्नातक कोर्स – दो वर्ष का।

यद्यपि आयोग का प्रयास था कि समस्त भारत की शिक्षा संरचना एक जैसी हो परन्तु केन्दीय प्रशासन ने आयोग के सुझावों को स्वीकार करना या न करना राज्य सरकारों पर छोड़ दिया। इस का दुष्परिणाम यह हुआ है। कि संपूर्ण देश में एक सा शैक्षिक ढॉचा लागू नहीं हो पाया । सन् 1966 में शिक्षा आयोग द्वारा शैक्षिक संगठन की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है जिसमें सामान्य शिक्षा की अवधि 10 वर्ष की रखी गयी है जिसके अन्तर्गत निम्न माध्यमिक स्तर तक शिक्षा रखी गयी । इसके बाद दो वर्ष की उच्च माध्यमिक शिक्षा रखी गई। तदनन्तर विश्वविद्यालय शिक्षा प्रारम्भ होगी। बाद में यह 10+2+3+2 के नाम से प्रचलित हुई । कोठारी आयोग के सुझाव भारत के शैक्षिक इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते है। क्योकि इनके द्वारा शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया था जैसे –शिक्षा के उद्देश्य, शिक्षक प्रशिक्षक आदि इनके द्वारा कार्यानुभव को महत्व दिया गया था कोठारी आयोग द्वारा शिक्षा के सभी महत्वपूर्ण विषयों पर सुझाव दिये गये थे।

यद्यपि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात चौथे दशक की समाप्ति पर राष्ट्रीय शिक्षा के स्वरूप तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति की आवश्यकता तीब्रतर हुई इस दिशा में राष्ट्रीय शिक्षा आयोग ने पहली बार विचार किया । तत्पश्चात सन् 1979 ई. में राष्ट्रीय शिक्षा नीति का भारतीय विकल्प प्रस्तुत किया गया परन्तु इससे भी शिक्षा का दशा से सुधारा नहीं हो पाया तत्पश्चात् देश की बदली हुई राजनैतिक स्थितियों ने शिक्षा को महत्व दिया और राष्ट्रीय शिक्षा नीति के निर्माण में संपूर्ण राष्ट्रीय सहभागिता इस दृष्टि से "शिक्षा की चुनौती" नामक दस्तावेज को राष्ट्रीय विचार करने हेतु वितरित किया गया । परिणामस्वरूप भारत सरकार ने सन् 1886 ई में नई शिक्षा नीति के अंतर्गत राष्ट्रीय विकास के व्यापक एवं महत्वपूर्ण संकल्प लिये। स्वतंत्रता के

बाद शिक्षा की सामान्य दिशा (शैक्षिक –रूप –संरचना) के अतिरिक्त अन्य पक्षों पर भी आयोगों द्वारा सुझाव दिये जाते हैं जैसे– व्यावसायिक शिक्षा ,प्रौढ़ शिक्षा, स्त्री शिक्षा, असामान्य बालकों की शिक्षा एवं निर्देशन आदि।

इन प्रयासों के फलस्वरूप शिक्षा के क्षेत्र में परिमाणात्मक प्रगति हुई है। विद्यालयों की संख्या बढती गई, पढ़ने वाले बढ़ते गये । अनेक नवीन व्यावसायिक संस्थान स्थापित हुये। नवीन विश्वविद्यालय स्थापित हुए एवं शिक्षा में नवीन प्रयोग हुए इसके अतिरिक्त अध्यापको के वेतनमानों में परिवर्तन हुए एवं नारी शिक्षा का विकास हुआ आदि।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत की शिक्षा व्यवस्था के कुछ और अन्य पहलुओं पर भी विचार किया जाना आवश्यक है। यथा – राष्ट्रीय लक्ष्यों का निर्धारण एवं उसके अनुकूल शिक्षा की पुनर्स्थापना । यह प्रत्येक प्रगतिशील राष्ट्र की पहली आवश्यकता है। शिक्षा आयोग ने इस पर विचार कर अपने सुझाव भी दिये। देश की आवश्यकता को देखते हुए शिक्षा आयोग ने विज्ञान की शिक्षा तथा कार्यानुभव का सुझाव दिया था। सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के उन्नयन के लिये आयोग ने सुझाव दिये हैं।[123] इसी प्रकार सन् 1986 में राष्ट्रीय शिक्षा नीतियों में भी शिक्षा के आधुनिकीकरण में सुक्षाव दिये गये। अध्यापकों की स्थिति पर एवं शिक्षक–शिक्षा पर भी सुझाव दिये है। विद्यालयों में प्रवेश तथा जन समुदाय की भागीदारी पर भी समय–समय पर प्रस्ताव पेश किये गये है। शैक्षिक अवसरों की समानता के संबंध में भी समय–समय पर सिफारिशें की गई है।

इस प्रकार स्वतंत्रता के बाद से अब तक शिक्षा के क्षेत्र में अनेक सुझाव प्रस्तुत किये जाते रहें हैं एवं अनेक प्रयास भी हुए है। फिर भी भारतीय शिक्षा अनेक समस्याओं से ग्रस्त रही हैं एवं अनेक आलोचनाओं का सामना भी कर रही है। उदाहरण स्वरूप –"स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात से आज तक भारतीय शिक्षा का दर्शन निश्चित नहीं हो सका।........भारतीय शिक्षा भी दिशाहीन है।[124] डॉ. संपूर्णानन्द ने भी भावात्मक एकता समिति के प्रतिवेदन मे कहा था –"भारतीय शिक्षा दर्शन के अध्ययन की इतनी उपेक्षा हुई है कि अनेक लोग इसके नाम तक से अपरिचित है।[125] "शिक्षालय के संगठन में श्रेणी –विभाजन एक महत्वपूर्ण व्यवस्था है। लेकिन कुछ लोगों का कहना है कि इससे छात्र का क्षैतिज संचरण नही हो पाता है और साथ ही ऊर्ध्वगामी संचरण भी तीव्र नहीं हो पाता अतएव श्रेणी विभाजन की वर्तमान परिपाटी असंगत है। हमारे देश में अभी तक समुचित राष्ट्रीय शिक्षा नीति का निर्धारण नहीं हुआ है। जो कुछ प्रस्तुत किया गया हैं उसमें राष्ट्रीय कुछ नहीं है[4] सन् 1947 ई. से लेकर आज तक भारतीय

शिक्षा को उद्देश्यहीनों की उद्देश्यहीन शिक्षा के नाम से अभिहित किया जाये तो अत्युक्ति नही होगी। .... आज के समय में शिक्षा के क्षेत्र में जितनी भी समस्यायें पायी जा सकती है। उन सब का एक ही कारण हैं – उद्देश्यहीनता।[126] शिक्षा आयोग के विचार में शिक्षा की क्रान्तिकारी पुनर्रचना की आवश्यकता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हैं कि वर्तमान की भारतीय शिक्षा अत्यंत शोचनीय दशा में है। अनेक दोषों से युक्त है। इन्हें दूर करने के लिये स्वतंत्रता के उपरांतर बहुत से प्रयास तो किये गये हैं परन्तु वे सभी पूर्ण सफल नहीं रहे हैं । विचारकों की कोई ठोस दार्शनिक विचारधारा नहीं हैं। कोई विशेष दार्शनिक पक्ष नही हैं। यह अपने वास्तविक उद्देश्यों को पूर्ण नहीं करती हैं। इसलिये इस शिक्षा में चाहे जितने भी सुधार ऊपर से किये जायेंगे तो वे शिक्षा को वांछनीय नहीं कर सकते, तब तक कि, इसके आधारों में मौलिक परिवर्तन नहीं लाया जायेगा। इसलिये शिक्षा की पुनर्रचना की आवश्यकता हैं शिक्षा के आधारों में परिवर्तन लाकर संपूर्ण शिक्षा का नवनिर्माण किया जाए।

शिक्षा संरचना का शैक्षिक धरातल विभिन्न कालों में

काल	शैक्षिक नियंत्रण	शैक्षिक निष्पत्ति
प्राचीन काल	अध्यापक	चारित्रिक विकास
मध्यकाल	संभ्रात वर्ग	व्यावहारिक संस्कार
अग्रेजों का काल	प्रशासक	कार्यालयीय कुशलता
वर्तमान काल	शासक दल	(अस्पष्ट)

1.5.0. शिक्षा और दर्शन

शिक्षा धर्म एवं दर्शन ये तीनों मनीषियों विद्वानों एवं आचार्यो के लिये हमेशा से चिन्तन का विषय रहे हैं। इनके बीच में क्या संबंध है ? इनमें क्या अन्तर ? इस पर भी गहन चिन्तन हुआ है। एवं विभिन्न मत एवं तर्क प्रस्तुत हुये हैं। वर्तमान अध्ययन के संदर्भ में इनके परस्पर संबंध को जानना अत्यन्त आवश्यक हैं। शिक्षा, धर्म एवं दर्शन के आपसी सम्बन्धो के विचार, अनेक शिक्षाशात्रियों ने अपने–अपने ढंग से किया है।

1.5.1. दर्शन एवं शिक्षा में संबंध

एडम्स[127] के अनुसार किसी भी कार्य को पूर्ण करने के लिये दो बातें आवश्यक होती हैं – प्रथम विचार अथवा योजना, द्वितीय,–प्रयोग अथवा व्यवहार। दर्शन विचार हैं सिद्वान्त हैं, शिक्षा सिद्वान्त व्यवहार में परिवर्तन करने का साधन है। पुष्ट शैक्षिक योजना के अभाव में दर्शन का कोई अस्तित्व नहीं हैं। इसलिये इन्होने कहा हैं ''शिक्षा दर्शन का गत्यात्मक रूप हैं। ''शिक्षा और दर्शन परस्पर संबंधित हैं इसे निम्न आधारों पर स्पष्ट किया जा सकता हैं।

शिक्षा दर्शन पर आधारित है

'दर्शन' शिक्षा का प्रमुख आधार है। दर्शन द्वारा शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि, विद्यालय संगठन, अनुशासन आदि को एक निश्चित रूप प्रदान किया जाता है। स्पेन्सर ने ठीक ही कहा हैं कि वास्तविक शिक्षा का संचालन वास्तविक दर्शन द्वारा ही संभव हैं। उच्च कोटि के दार्शनिक उच्चकोटि के शिक्षा शास्त्री भी हुये हैं। जान डीवी, प्लेटो, स्पेंसर, आदि सभी दार्शनिक भी थे एवं शिक्षा शास्त्री भी थे। फिक्टे महोदय[128] कहते हैं –शिक्षा की कला, दर्शन शास्त्र की सहायता के बिना पूर्णता एवं स्पष्टता प्राप्त नही कर सकती । अनुभव तथ व्यवहार करते समय अनेक समस्याएं हमारे सम्मुख उपस्थित होती हैं। हर समस्याओं पर चिन्तन करके उनके आधार पर सिद्वान्तों का निरूपण करना दर्शन का कार्य होता है। शिक्षा जीवन का ही एक पक्ष है और जीवन के मौलिक प्रश्नों की व्याख्या दर्शन करता हैं इस दृष्टि से दर्शन और शिक्षा एक दूसरे से जुड़े हुये है।

दर्शन शिक्षा पर आश्रित हैं

शिक्षा उद्देश्यों को व्यावाहारिक रूप प्रदान करती हैं। शिक्षा के माध्यम से ही दर्शन के सिद्वान्त कार्यरूप में परिणत होते है। अतः डी.वी. के शब्दों में कह सकते है –''शिक्षा एक प्रयोगशाला है जिसमें दार्शनिक विशेषताएं परीक्षित होती हैं ।''[129] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हैं कि दर्शन शिक्षा का सिद्वान्त है और शैक्षिक प्रकिया इस सैद्धांतिकता को संभावित बनाती हैं। दर्शनशास्त्र शिक्षा पर प्रभाव डालता है तो शैक्षिक विचारधारायें दार्शनिक प्रकिया को स्पष्ट करती हैं दोनों का लक्ष्य सत्यान्वेषण एवं उत्तम जीवन की प्राप्ति हैं। बटलर का कथन हैं– दर्शन शिक्षा के प्रयोगों के लिये पथ प्रदर्शक हैं शिक्षा अनुसंधान के क्षेत्र के रूप में दार्शनिक निर्णय के लिये निश्चित सामग्री को आधार के रूप में प्रदान करती हैं।[130] अतः रौस ने ठीक ही कहा है–दर्शन और शिक्षा में अन्तर नहीं हैं वे एक ही वस्तु के दो पक्ष है।[131] निष्कर्षतः कहा

जा सकता हैं कि शिक्षा और दर्शन अन्योन्याश्रित हैं और परस्पर पूरक है।[132] दर्शन ज्ञान हैं शिक्षा ज्ञान का संचार, दर्शन विचार के संस्थान का प्रतिनिधि कर्ता हैं शिक्षा उस विचार को ग्रहण करने वाला अभिकर्ता। अतः शिक्षा और दर्शन में अन्योन्याश्रित सम्बंध है।
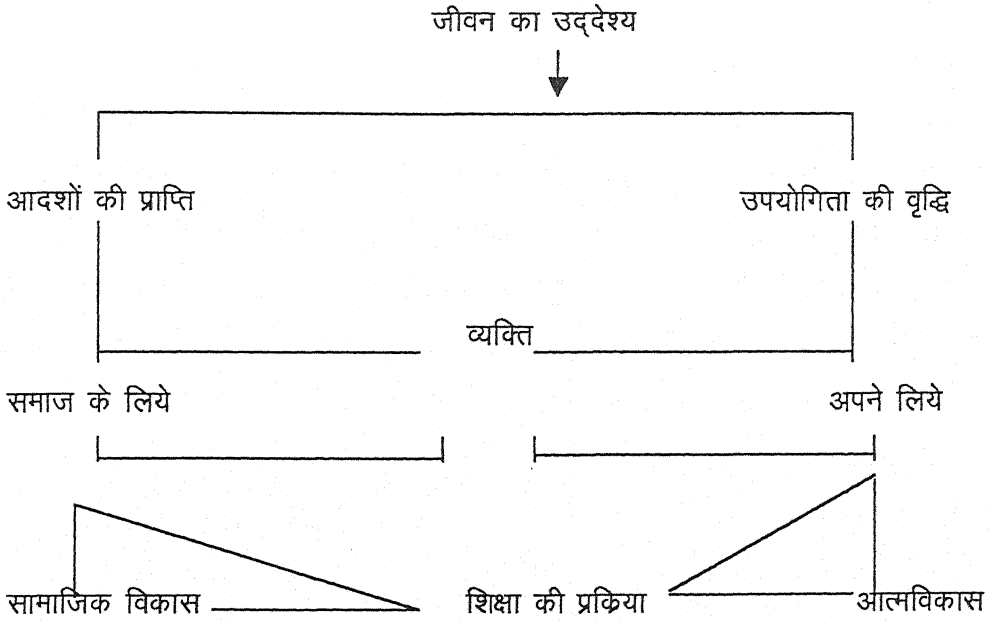
1.5.2. दर्शन तथा धर्म में अन्तःसंबध

धर्म और दर्शन इस विषय पर भी गहन चिन्तन हुआ है एवं विभिन्न मत एवं तर्क प्रस्तुत हुये है। कई देशों में धर्म के साथ दर्शन जुड गया है एवं कई देशों में धर्म दर्शन से पूर्णतः असपृक्त बना रहा। यूरोप व मध्य पूर्व के देशों में यह अलगाव देखने को मिलता है। परन्तु भारत में एक विशेषता देखने को मिलती है कि विभिन्न दार्शनिक मतों के प्रवर्तक एक ही धर्म के अनुयायी थे और अनेक धर्माचार्यो में भी किसी विशेष दार्शनिक तथ्य के संबंध में एक मत था यद्यपि उद्देश्य भाव ,विधि तथा क्रिया की दृष्टियों से दर्शन तथा धर्म में विभिन्नताये हैं। दर्शन का उद्देश्य हैं –" सत्यस्य सत्यं" (परमसत्य) का ज्ञान प्राप्त करना। जबकि धर्म का उद्देश्य हैं – अध्यात्मिक मूल्यों को भावनात्मक ढ़ग से स्वीकार करना। "दर्शन एक दृष्टि से विचारात्मक और बौद्विक प्रयास हैं और धर्म व्यवहरात्मक ।" दर्शन संदेह,तर्क तथा बौद्विकता की उपादानों के सहारे सत्य को तौलना चाहता है। जवकि धर्म आस्था विश्वास श्रद्धा और भक्ति के उपकरणों से ह्रदय को प्रभावित करता है। दर्शन के लिए तर्क का उन्मूलन करना असम्भव

हैं परन्तु धर्म तर्क को स्थान नही देता है। दर्शन आलोचना तथा प्रत्यालोचना करके ही संन्तुष्ट रहता हैं जबकि धर्म प्रार्थना, पूजा, अर्चना आदि साधनों का प्रयोग करता हैं उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हैं कि धर्म एवं दर्शन में बहुत फर्क है।

परन्तु इस तथ्य को नजर अन्दाज नही किया जा सकता है कि धर्म और दर्शन में अभिन्न और अटूट संबन्ध है। यदि धर्म सत्य से रागात्मक संबंध स्थापित करना चाहता हैं तो दर्शन उस सत्य को बौद्धिक रूप से समझना चाहता हैं। सत्य की उपासना धर्म भी करता है। धर्म एवं दर्शन एक दूसरे के परिपूरक हैं,विरोधी नही। धर्म और दर्शन मिलकर सत्याथी के लिये एक आन्दमय समष्टि का निर्माण करता है। दर्शन धर्म पर पड़ी उन परतों को हटाने में सहायता देता है जिसके नीचे धर्म का प्रन्जल एवं जीवन को प्रफुल्ल करने वाला जीवान्त रूप छिपा है। ज्ञान मार्ग रास्ते में पडें अवरोधों को दूर करता हैं तब कही धर्म के वास्तविक धर्म के – तात्विक धर्म के दर्शन हो पाते हैं । दर्शन धर्म को समाप्त नही करता वरन् उसे विशुद्ध करता हैं। धर्म को दर्शन की और दर्शन को धर्म की सदा आवश्यकता रहती है दोनों सापेक्ष हैं , निरपेक्ष नही। मानव जीवन के लिये दोनों आवश्यक ही नही अनिवार्य भी हैं। सुकरात ने धर्म व दर्शन को एक दूसरे का पर्याय कहा हैं ।

धर्म व दर्शन में अन्तर मात्र इतना सा है कि धर्म में श्रद्धा की प्रधानता है तो दर्शन में तर्क की प्रमुखता हैं परन्तु तर्क धर्म में बाधक नही है। तो श्रद्धा दर्शन में वाधक नही है। दर्शन विचार को प्रधानता देता हैं तो धर्म आचार्य को। दर्शन का अर्थ है – सत्य का साक्षात्कार करना और धर्म का अर्थ हैं उस सत्य को जीवन में उतारना । दर्शन हमें राह दिखाता है तो धर्म उस पर चलने को प्ररित करता है। स्पष्ट शब्दों में धर्म दर्शन की प्रयोगशाला है।

धर्म व दर्शन इन दोनों में यह भी समानता हैं कि दोनो मानवीय ज्ञान की योग्यता में विश्वास करते हैं। भारत में धर्म और दर्शन एक दूसरे के बिना नही रह सकते है। वेदों में जो पूर्व मीमांसा है वह धर्म है उत्तर मीमांसा दर्शन है योग आचार है तो सांख्य विचार हैं। बौद्ध परम्परा में हीन यान धर्म है तो महायान दर्शन है। जैन परम्परा में अहिंसा धर्म तो अनेकान्त दर्शन हैं। साधना की धरती पर दर्शन को धर्म का रूप धारण करना पड़ता है। तो धर्म को दर्शन का रूप लेना पड़ता हैं यहाँ विचार को आचार होना होता है तो आचार को विचार बनना पड़ता है। जबकि पश्चात्य देशों में दोनों एक दूसरे से पृथक हैं।

धर्म व दर्शन इन दोनों का विषय सम्पूर्ण विश्व हैं संक्षेप में कह सकते हैं कि धर्म और दर्शन दोनों एक दूसरे को छोडकर कभी नही रह सकते। धर्म के आभाव में दर्शन अपूर्ण है तो दर्शन रहित धर्म भी अपूर्ण है। मानव जीवन को सरस, सुन्दर और मधुर बनाने के लिये धर्म व दर्शन इन दोनों की आवश्यकता हैं।

1.5.3. धर्म,दर्शन एवं शिक्षा

जीवन के प्रति दृष्टिकोण का नाम'दर्शन' हैं व्यक्ति इसी दृष्टिकोण के अनुसार अपना जीवन यापन करता हैं व्यक्ति जिसे धारण करता हैं वह धर्म है।[133] इसी पर आधारित उसका व्यवहार होता है। शिक्षा व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करती है। शिक्षा का धर्म एवं दर्शन से धनिष्ठ संबन्ध रहा है। जब व्यक्ति अपने जीवन के दृष्टिकोण के अनुसार व्यवहार करता है तो शिक्षा उसे परिष्कृत बनाने का प्रयास करती है। शिक्षा दर्शन से निश्चित सिद्वान्त ग्रहण करती है। तो धर्म से जीवन को उच्च ,पवित्र और दिव्य बनाने वाले विधि विधान या क्रिया कलाप तदुपरान्त व्यक्ति को उसके उद्देश्यों को प्राप्त करने में मदद करता है। शिक्षा धर्म और दर्शन को व्यावहारिक रूप प्रदान करती है। व्यक्ति उन्हे जीवन में शिक्षा की मदद से ही अपनाता है। शिक्षा ही व्यक्ति को धार्मिक ,दार्शनिक या अन्य बनाती है। स्पष्ट है कि शिक्षा, धर्म एवं दर्शन के मध्य घनिश्ट संबंध है।

1.5.4. दर्शन आधारित शिक्षा व्यवस्था

दर्शन व शिक्षा अन्योन्याश्रित हैं। दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। अतः किसी भी शिक्षा व्यवस्था की दर्शन के बिना कल्पना ही नही की जा सकती है। इस दृष्टि से प्राचीन भारत एवं वर्तमान भारत की शिक्षा की व्यवस्था में बहुत अंतर है।

1.5.4.1. प्राचीन भारत में

प्राचीन भारत की शिक्षा प्रणाली भारतीय दर्शन पर आधारित थी।[134] इसका प्रमाण प्राचीन भारतीय ग्रंथ वेद, उपनिषद् भगवत्गीता आदि है। इन ग्रथों से प्राचीन भारत की शिक्षा प्रणाली का ज्ञान होता है। चूकिं शिक्षा दर्शन पर जीवन दर्शन का प्रभाव होता है। इसलिये तत्कातीन जीवन दर्शन के सभी तत्व उस समय की शिक्षा की प्रणाली में देखने में मिलते है। जीवन में लक्ष्यों को प्राप्त करने का माध्यम तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था थी जो कि अपने उद्देश्यों को पूर्ण करती है।

प्राचीन भारत का शिक्षा दर्शन आदर्शवादी शिक्षा का दर्शन माना जाता हैं परन्तु भारतीय शिक्षा का आदर्शवाद छात्रों को किसी विशेष सिंद्वान्त के अनुसार शिक्षा देना मात्र ही पर्याप्त नही समझा जाता था अपितु वह संस्कारों के माध्यम से आदर्श के अनुरूप जीवन गठन की व्यवस्था थी। प्राचीन भारतीय शिक्षा का प्रधान लक्ष्य विद्यार्थियों को परमतत्व का ज्ञान कराना था यह भारतीय जीवन दर्शन के अनुसार ही था। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरूषार्थ चतुष्टय की सिद्वि प्राप्त कर परिपूर्ण मानव के विकास की व्यवस्था भारतीय शिक्षा दर्शन में की गई है। प्राचीन भारतीय शिक्षा में इनको प्राप्त करने की व्यवस्था थी। प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली उद्देश्यों के अनुरूप ही थी । उसमें धर्म, ज्योतिष ,गणित, अर्थशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि समस्त विषयों का ज्ञान सम्मिलित था।

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्वति भी भारतीय दर्शन के अनुकूल थी। उदाहरण स्वरूप श्रवण, मनन, निधिध्यासन, प्रवचन एवं सत्संग आदि बृहदारण्य उपनिषद में ज्ञानार्जना की श्रवण ,मनन और निधिध्यासन इन तीनों प्रकियाओं की व्याख्या मिलती है। उस काल में मल्यांकन की प्रणाली भी व्यावहारिक थी यह विद्याथी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का मूल्यांकन करती थी। प्राचीन काल में गुरूकुल प्रणाली प्रचलित थी जहॉ विद्यार्थी रह कर शिक्षा ग्रहण करते थे। श्रीमद् भगवतगीता के चतुर्थ अध्याय के 34 वें श्लोक में प्रश्न द्वारा ज्ञान प्राप्ति का वर्णन किया गया हैं

तद्विद्वि प्रणिपातेन परि प्रष्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्षिनः।।

स्मृतिचन्द्रिका में ज्ञानार्जन के निम्नांकित अंग इस प्रकार वर्णित हैं[135] – श्रुषया, श्रवण , ग्रहण धारणम् ऊहापोहः, अर्थ विज्ञानम्, तत्वज्ञानम्।

भारतीय दर्शन के अनुसार शैक्षिक परिप्रेक्ष्य की रूपरेखा

शिक्षा के उद्देश्य

(तीन आदर्श)

अध्यापन की क्रिया

परिवर्तन की क्रिया

शिक्षार्थी

कर्म

अध्ययन की क्रिया
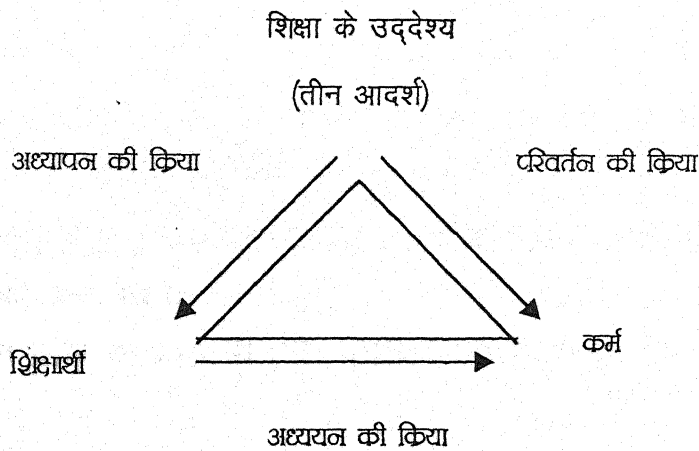
1.5.4.2. अर्वाचीन भारत में

वर्तमान शिक्षा की प्रणाली के संबंध के अधिकांश विद्वानों का यही मत है कि यह भारतीय नही हैं तथा भारतीय संस्कृति के अनुरूप नहीं है। यद्यपि कुछ ऐसी संस्थाये हैं जो कि भारतीय दर्शन पर आधारित शिक्षा व्यवस्थायें चलाने का दावा करती रही हैं औपचारिक रूप से भारत में जो शिक्षा या शिक्षण व्यवस्था हैं उसमें भारतीय दर्शन को केन्द्र में रखना या उसके अनुसार शैक्षिक उद्देश्य, विषय, शिक्षण विधि तथा मूल्याकंन विधि रखना संभव नहीं है। कारण बहुत ही स्पष्ट और व्यावहारिक है भारत में प्रचलित वर्तमान स्कूल या तो केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा परिषद् से संम्वद्व हैं या राज्य शिक्षा बोर्ड से और दोनों ही प्रकार की बोडों की शिक्षा पद्धितियों में भारतीय दर्शन पर आधारित इक्का दुक्का परम्परा जहॉ वहॉ दृष्टि गोचर होती हैं पर पूर्ण रूप से कहीं नहीरं । इन स्कूलों में भारतीय दर्शन, वेद, वेदान्त, उपनिषद् पुराण आदि कुछ भी न तो औपचारिक विषय रूप में है और न ही व्यवस्था, सोच, चिन्तन, दृष्टिकोण के रूप में । समस्त भारतीय स्कूली शिक्षा व्यवस्था आज कोठारी आयोग (1964–66) के 10+2 ढॉचे पर आधारित है। जिससे आधुनिक तकनीकी का स्थान तो हैं पर प्राचीन दर्शन का नही । ऐसे में समीचीन होगा कि प्राचीन भारतीय दर्शनों पर आधारित शिक्षा पद्वतियों पर एक दृष्टिपात् किया जाए।

बुनियादी शिक्षा पद्वति

महात्मा गॉधी द्वारा प्रतिपादित 'वर्धा शिक्षा योजना', बुनियादी शिक्षा या बेसिक शिक्षा के नाम से प्रसिद्व है। गॉधी जी का विचार था कि शिक्षा पद्वति भारतीय होनी चाहिए। इस प्रणाली में हस्त कौशल के माध्यम से बालक को संपूर्ण शिक्षा प्रदान करने का प्रयास किया जाता हैं परन्तु आज यह सर्वविदित तथ्य हैं कि बुनियादी शिक्षा पद्वति न तो केन्दीय स्तर पर और न ही राज्य स्तर पर लागू हैं हॉ गॉधी जी द्वारा स्थापित गुजरात विद्यापीठ अहमदावाद में जरूर स्थित हैं पर एक तो इसका वर्तमान स्वरूप अपने मूल स्वरूप से काफी बदल चुका हैं दूसरे यह उच्च शिक्षा के स्तर पर है जो कि वर्तमान अनुसंधान का क्षेत्र एवं विषय नही है।

शान्ति निकेतन शिक्षा पद्धति

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शान्ति निकेतन में शिष्य और गुरूओं के परस्पर धनिष्ठ आध्यात्मिक संबंध द्वारा प्रकृति की गोद,स्वतंत्रता का वातावरण एवं सांस्कृतिक परिवेश के माध्यम से नवीन पद्वति का प्रयोग किया है। कलान्तर में शान्ति निकेतन का रूप परिवर्तित हो

गया । आज यह जिस स्थिति में हैं वह टैगोर की कल्पना के अनुसार नहीं है। साथ ही यह प्रयोग महाविद्यालय स्तर पर है न कि शालीय स्तर पर।

गुरूकुल एवं दयानंद एंग्लो–वैदिक विद्यालय

स्वामी दयानंद जी की प्रेरणा से इन विद्यालयों की स्थापना हुई ऐसा विद्यालय सर्वप्रथम लाहौर में आरम्भ हुआ। हरिद्वार के पास कांगडी एवं वृन्दावन में अन्य गुरूकुल आरम्भ हुये परन्तु आज इनका वह रूप नहीं हैं जिसकी कल्पना दयानन्द सरस्वती ने की थी।

श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी की शिक्षा पद्धति

इस संस्था की शिक्षा पद्धति 'प्रगतिशील शिक्षा' (प्रोग्रेसिव एज्युकेशन) के नाम से जानी जाती है। इस पद्धति में परीक्षा और प्रमाण पत्र या डिग्री देने की व्यवस्था नही हैं यहॉ बालक को मानसिक, शारीरिक एवं आध्यात्मिक विकास द्वारा जीवन की पूर्णता प्राप्त करने हेतु प्रशिक्षित किया जाता है। नई दिल्ली स्थित अरविन्द आश्रम द्वारा सचांलित दोनों स्कूल–मदर्स इन्टरनेशनल एवं मीराम्बिका भी श्री अरविन्दो दर्शन पर आधारित स्कूल कहे जा सकते हैं पर भारतीय दर्शन पर आधारित नहीं हैं क्योंकि इन स्कूलों का मूल स्परूप, माध्यम भाषा आदि भी अन्य स्कूलों की ही भॉंति है।

सरस्वती शिशु मंदिर शिक्षा पद्धति

स्रस्वती शिशु मंदिर का आरम्भ सन् 1952 में उत्तर प्रदेश के गोरखपुर नगर में हुआ था। इन स्कूलों में अभिनव पचंपदी शिक्षक पद्धति के अन्तर्गत निम्न पॉच पदों पर जोर दिया जाता हैं

1.अधीति 2.बोध 3. अभ्यास 4.प्रयोग 5.प्रसार

भारत में संचालित सरस्वती शिशु मंदिर भी पूर्णतया भारतीय दर्शन पर आधारित नही कहे जा सकते क्योकि ये भी 10 + 2 शिक्षा पद्धति पर आधारित स्कूल हैं।

सार रूप में उपर्युक्त वर्णित संस्थायें भारतीय दर्शन पर आधारित नहीं कही जा सकती क्योकि–

1. ये संस्थायें अपने संस्थापको के स्थापन के मूल उद्देश्यों से हट चुकी हैं और इनका स्वरूप बदल चुका है।
2. स्कूली स्तर की ऐसी संस्थाये वर्तमान में प्रचलित 10+2 पद्धति पर आधारित है जिसका भारतीय दर्शन से संबंध न के बराबर है।

3. इन संस्थाओं में कुछ परम्पराएँ जैसे प्रार्थना, सहभोज, छात्र–अध्यापक संबंध भारतीय दर्शन पर आधारित कहे जा सकते हैं , किन्तु सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था भारतीय दर्शन पर आधारित नहीं है।

4. भारतीय दर्शन पर आधारित शिक्षा व्यवस्था उसे कहा जा सकता हैं जो

(अ) किसी न किसी षडदर्शन को केन्द्र मानकर स्थापित की गई हो या

(ब) अपने सम्पूर्ण स्वरूप में (शैक्षिक उद्देश्य , विषय वस्तु, शिक्षण विधि एवं मूल्यांकन) भारतीय दर्शन पर आधारित हो।

ऐसे में स्वाभाविक हैं कि एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था की कल्पना की जाए जो न केवल किसी भारतीय दर्शन पर आधारित हो अपितु सांगोपांग रूप में भी भारतीय दर्शन का परिलक्षित करती हो।

1.5.5. भारतीय दर्शनों में सांख्य दर्शन का स्थान

विविध दर्शनों के मध्य सांख्य दर्शन का स्थान महत्वपूर्ण है। वेद, उननिषद्, भगवत् गीता भागवत् पुराण आदि सभी में सांख्य योग दर्शन की चर्चा हुई है एवं साख्य के सिद्धान्तों का विशेष महत्व दिया गया है।

नास्ति सांख्य समं ज्ञानम्।

नास्ति योग समं बलम्।।

महाभारत[136]

मैक्समुलर के मत में – अद्वैत सिद्वान्त के बाद हिन्दुओं का प्रमुख दर्शन सांख्य है।"[137] श्रीमद्भगवद्गीता अपने को योग शास्त्र की संज्ञा देती है और सांख्य तथा योग दोनों का आधार लेती हुई जन–जीवन के अभ्युदय का पथ प्रशस्त करती है।[138] सांख्य के प्रवर्तक कपिल मुनि के नाम उपनिषद् (श्वेता /5/2), भगवत् गीता (10/6) और महाभारत के शन्ति पर्व तथा अन्यत्र आदर के साथ उल्लेखित हुआ है।[139] भागवत पुराण में कपिल को 24 अवतारों में गिना गया है।[140] भारत के विभिन्न दर्शनों में यथा –गीता भागवत् पुराण आदि में सांख्य दर्शन के सिद्धांतों का उल्लेख हुआ है। इसकी विस्तृत चर्चा इस शोध प्रबंध के अध्याय चार में की जायेगी ।

1.5.5.1. सांख्य दर्शन की उपादेयता

सांख्य तथा योग दोनों एक ही दर्शन के सैद्धातिक एवं क्रियात्मक पहलू हैं दोनों एक दूसरे के पूरक हैं ।

1. सांख्य दर्शन की सर्वप्रथम उपादेयता है – इस दर्शन के सिद्धान्त।[141] ये सिद्धान्त वैज्ञानिक, तार्किक एवं उपयोगी हैं अतः दर्शन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखते है। सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों की कुछ विशेषताओं को निम्नानुसार बताया जा सकता हैं –

(a) भौतिक जगत की वैज्ञानिक व्याख्या की गई हैं यह प्रकृति – परिणामवाद में देखी जा सकती है। यह दर्शन प्रकृति के क्रमिक विकास की व्यख्या प्रस्तुत करता है।

(b) सांख्य के अनुसार प्रकृति एवं उसके परिणाम से उत्पन कुल तत्व 24 होते है – पुरूष 25 वां तत्व हैं, जो चैतन्य स्वरूप , निष्क्रिय एवं निर्गुण हैं पुरूष का न बंधन होता हैं न मोक्ष, उसका पुनर्जन्म भी नही होता है। पुनर्जन्म या देहांतर प्राप्ति वास्तव में लिंग शरीर की होती हैं

(c) सांख्य का मोक्ष सिद्वान्त भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं मोक्ष का अर्थ पुरूष द्वारा किसी बाह्य वस्तु या लोक की प्रात्ति नहीं ,पुरूष की अपने स्वरूप में अवस्थिति ही मोक्ष है। इस प्रकार का मोक्ष विवेक रूप ज्ञान में होता है। सांख्य दर्शन में विवेक व ज्ञान का विशेष महत्व है।

(d) सांख्य दर्शन पुरूष को अनेक मानता हैं , इसके लिए तर्क भी देता हैं। यह सिद्वान्त भी सांख्य दर्शन को एक अलग पहचान देता है।

(e) सांख्य दर्शन में योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार , धारणा, ध्यान एवं समाधि ये अंष्टांग मार्ग बताये हैं यह एक ऐसा साधन हैं जिये समस्त दर्शनों ने स्वीकार किया हैं ।

(f) वस्तुतः सांख्य दर्शन की विचाारधारा मौलिक एवं व्यावहारिक हैं इसकी तुलना डार्विन के विकासवाद से की गई है। यह आधुनिक शरीर क्रिया विज्ञान के समीप भी है।

2. सांख्य मन के संयम के उपाय बताता है। अस्थिर मन से कोई कार्य नहीं हो सकता है। मन एकाग्र करने के साधनों का ज्ञान एवं प्रयोग, सांख्य योग दर्शन बताता है। कुछ विद्वान ्‌ इसीलिए योग को मानस शास्त्र कहते हैं।[142]

3. आधुनिक सभ्यता में सभी बुंराइयों की जड़ आहार –विहार के विषय में मर्यादा का न होना एवं विषय भोग की अधिकता है। सांख्य योग सदाचार की शिक्षा देता है। सांख्य योग दर्शन द्वारा बतलाये गये तरीको से बुद्धि स्थिर ,चित्त प्रसन्न एवं शरीर स्वस्थ बन सकता है।

4. मानव जन्म उन्नति के पथ पर अग्रसर होने हेतु प्राप्त हुआ हैं धर्म, अर्थ, काम, रूप, पुरूषार्थ चतुष्टय का आधार स्वस्थ शरीर ही हैं आचार्य 'चरक'[143] ने भी इसके महत्व को स्वीकार किया हैं योग शक्ति के सामुचित उपयोग द्वारा मानव चारो पुरूषार्थो (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) को प्राप्त कर सकता हैं एवं सर्वज्ञान, सर्वानन्द और सर्वसत्ता से परिपूर्ण हो सकता है।

5. कर्म, काम और बुद्वि ये तीनों घोडे शरीर रूपी रथ में जुते हुए हैं इन तीनों के व्यापार में परस्पर सामन्जस्य होगा तभी रथ आसानी से चल सकता है। समस्त अंगो, मस्तिष्क एवं हृदय का समुचित विकास होना भी आवश्यक हैं ऐसी स्थिति सांख्य योग दर्शन से ही आ सकती है।

1.5.5.2 सांख्य दर्शन और शिक्षा

सांख्य दर्शन का शिक्षा के दृष्टिकोण से विचार करेंगे तो ज्ञान होगा कि यह दर्शन शिक्षा की दृष्टि से अत्यधिक उपयुक्त दर्शन हैं इसके कारण निम्नांकित बताये हैं –

1. सांख्य दर्शन सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्षों की स्पष्ट व्याख्या करता हैं जीवन के प्रत्येक पक्ष से संबंधी ज्ञान की सैद्वाांतिक व्याख्या करता ही हें । साथ ही उसे अपनाने एवं प्रयोग करने संबंधी नियम विधियाँ भी स्पष्ट करता हैं

2. सांख्य दर्शन शिक्षा संरचना के सभी पक्ष एवं सभी चरणों की आवश्यकता की पूर्ति कर सकता हैं यथा – शिक्षा के उद्‌देश्य, शिक्षण विधियों एवं पाठ्य क्रम आदि सांख्य दर्शन को आधार बनाकर निर्मित किये जा सकते हैं।

3. सांख्य दर्शन और शिक्षा के उदे्‌दश्य एक ही है। दर्शन का मूल उद्‌देश्य कैवल्य की प्राप्ति हैं और शिक्षा का अन्तिम उद्‌देश्य मुक्ति प्राप्त करना है जैसा कि कहा गया हैं – सा विद्या या विमुक्तये । शिक्षा में अन्य उद्‌देश्य यथा– शारीरिक विकास, मानसिक विकास, आध्यात्मिक विकास आदि । सभी की सांख्य योग दर्शन के माध्यम से हो सकती हैं ।

4. सांख्य दर्शन के सिद्वान्त , शिक्षा की विषय वस्तु के लिये पर्याप्त हैं इसमे प्रत्येक विषय एवं मानव जीवन संबंधी प्रत्येक पहलू का ज्ञान समाहित है।
5. सांख्य सृष्टि विकास का तर्क युक्त वैज्ञानिक क्रम विकास प्रस्तुत करता है यह शंकाओं का भी समााधान प्रस्तुत करता हैं अतः गूढ से गूढ़ एवं कठिन से कठिन प्रश्नों का उत्तर दे सकता हैं ।
6. यह दर्शन ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रमाण देता है। प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द प्रमाण के माध्यम से जिज्ञासाओं को शान्त किया जा सकता है।
7. सांख्य दर्शन दुःख का कारण एवं दुःख निवृति के उपाय बताता है। इस दष्टिकोण से साख्यं दर्शन की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा इह लौकिक एवं पार लौकिक दोनो प्रकार के दुखों से निवृत्ति पाई जा सकती हैं

शिक्षा का अर्थ, महत्व, आवश्यकता, उद्देश्य आदि शिक्षा के सभी संदर्भों में साख्यं सहायता कर सकता है। इसका विस्तृत विवेचन प्रकृत शोध प्रबध में यथा स्थान किया जायेगा।

****

संदर्भ अनुक्रम

1. डा. नंद किशोर देवराज, भारतीय दर्शन, 1992, प. 2
2. वही पृ. 2
3. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रूप रेखा, 1993, पृ. 2
4. वही पृ. 2
5. रामशकल पाण्डेय, शिक्षा दर्शन, 1983 पृ. 1
6. वही पृ. 2
7. रामशकल पाण्डेय, शिक्षा दर्शन, 1983, पृ. 5
8. डॉ. कुसुम चतुर्वेदी, शिक्षा के आधार, 1987, पृ. 120
9. वही। पृ. 120
10. डा. कुसुम चतुर्वेदी, शिक्षा के आधार, 1987, पृ. 120
11. वही पृ. 121
12. रामशकल पाण्डेय, शिक्षा दर्शन, 1993, पृ. 8
13. गैरोला, भारतीय दर्शन, 1962, पृ. 13
14. गैरोला, भारतीय दर्शन, 1962 पृ. 12
15. राधाकृष्णन भारतीय दर्शनख 1996 पृ. 24
16. डा. उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, 1970 हिन्दी समिति लखनऊ पृ. 7
17. वही पृ. 7
18. बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, शारदा मंदिर, वाराणसी 1991 पृ. 13
19. डा. उमेश मिश्र पृ. 9
20. बृह उप. 2/4/8
21. देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय भारत दर्शन सरल परिचय, 1980 पृ. 10
22. वही 1980 पृ. 11
23. वही, पृ. 12
24. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा भारतीय दर्शन की रूप रेखा, 1993 पृ. 4
25. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, भारतीय दर्शन सरल परिचय, 1980 पृ. 48
26. ज्योति उपाध्याय, सृष्टि विषयक भारतीय चिंतन धारा में मधुसूदन ओझा का योगदान (शोध प्रबंध), 1995, पृ. 73
27. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, भारतीय दर्शन, सरल परिचय, 1960 पृ. 49

28. ज्योति उपाध्याय, सृष्टि विषयक भारतीय चिन्तन धारा में मधुसूदन ओझा का योगदान – 1995 पृ. 23 (शोध प्रबंध)
29. डॉ. रामनाथ शर्मा, भारतीय दर्शन के मूलतत्व पृ. 5
30. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन 1991 पृ. 19
31. बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन पृ. 23
32. वही पृ. 25
33. बलदेव उपाध्याय पृ. 26
34. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, 1979 पृ. 56
35. राधाकृष्णन भारतीय दर्शन भाग एक, 1996 पृ. 63
36. नन्दकिशोर देवराज, भारतीय दर्शन, 1992 पृ. 53 (Vedic Mythology P. 11)
37. वही पृ. 54.
38. डॉ. उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन 1970 पृ. 41
39. छांदोग्य उपनिषद – 6, 6/2/3
40. कौषीतकि उपनिषिद – 3–9
41. डॉ. नन्दकिशोर देवराज, भारतीय दर्शन 1992, पृ. 72
42. वही पृ. 73.
43. डॉ. नन्दकिशोर देवराज, भारतीय दर्शन, 1992 पृ. 79
44. आचाग्र बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, 1991 पृ. 45.
45. वही – एषा देवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्र दयध्वमिति।
46. वही – सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। (मु. उप. 3/1/6)
47. सर्वोनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
    पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।। – गीता माहात्म्य 6
48. वही
49. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। (गीता 15/7)
50. कर्मण्येवधि कारस्ते मा. फलेषु कदाचन।
    मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। – गीता 2/47
51. ज्योति उपाध्याय, सृष्टि विषयक भारतीय चिन्तन धारा में मधुसूदन ओझा का योगदान 1995, पृ. 113,(शोध प्रबंध)
52. उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन पृ. 87.

53. पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्वानि। चार्वाक सूत्र–2 (भारतीय दर्शन की रूपरेखा, बलदेव उपाध्याय से उद्धत) पृ. 116.
54. सर्वदर्शन संग्रह प्रथम अध्याय।
55. उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, 1970, पृ. 99
57. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, वेद वि. भा. सं. पृ. 40.
58. तत्वार्थ सूत्र 5/37
59. ज्योति उपाध्याय, 'सृष्टि विषयक भारतीय चिन्तन धारा में मधुसूदन ओझा का योगदान' पृ. 141 (शोध प्रबंध)
60. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन पृ. 225
61. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रूप रेखा 1993, पृ. 164
62. सर्व दर्शन सग्रंह, बौ0 दर्शन, पृ. 33
63. उमाशंकर ऋषि हिन्दी सर्व दर्शन संग्रह पृ. 35–36
64. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, 1979, पृ. 167
65. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, 1979 पृ. 176.
66. बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, 1991, प. 125
67. डॉ. उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, 1970, पृ. 137
68. पं. राजाराम शास्त्री नवदर्शन परिचय, 1977 पृ. 10 52.
69. ज्योति उपाध्याय – सृष्टि विषयक चिन्तन धारा में मधुसूदन ओझा का योगदान– पृ. 94 (शोध प्रबंध)
70. तत्व रहस्य, पृ. 2024
71. (अ) ब्रहासूत्र, (सरल सुबोध भाष्य), गुरूदत्त खण्ड 2, उपसंहार, पृ. 270–71
    (ब) भारतीय दर्शन, व्यास शिष्य (कंवरलाल) पृ. 134
72. अथातो ब्रहा जिज्ञासा – ब्रहासूत्र 1/1/1
73. विवेक चूणामणि श्लोक, 479 7 अ.ब.उ. – भारतीय दर्शन की रूप रेखा, 1979, पेज 360
74. डॉ. कुसुम चतुर्वेदी शिक्षा के आधार 1987, पृ. 8
75. पाठक एवं त्यागी, शिक्षा के सिद्धान्त 1988, पृ. 5
76. डॉ0 कुसुम चतुर्वेदी, शिक्षा के आधार 1987 पृ. 11
77. वही पृ. 14
78. वही पृ. 14

103. वैधनाथ प्रसाद वर्मा, शिक्षा शास्त्र, पृ. 11.
104. डॉ. एस.एस. माथुर, शिक्षा सिद्धान्त, 1986, पृ. 202
105. पाठक एवं त्यागी, शिक्षा के सिद्धांत, पृ. 62
106. एस.एस. माथुर, शिक्षा सिद्धान्त, पृ. 62
107. पाठक एवं त्यागी, शिक्षा के सिद्धान्त पृ. 62
108. लज्जा राम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूलतत्व, पृ. 104
109. लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूलतत्व, पृ. 105
110. पाठक और त्यागी, शिक्षा के सिद्धान्त, पृ. 83.
111. लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूलतत्व, पृ. 83
112. पाठक एवं त्यागी, शिक्षा के सिद्धान्त, पृ. 65.
113. लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूलतत्व, पृ. 110
114. वैधनाथ प्रसाद वर्मा, शिक्षा शास्त्र, पृ. 22
115. वही पृ. 30
116. लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूलतत्व पृ. 82
117. वही पृ. 82
118. लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूलतत्व पृ. 82 – (श्री अरविन्द शिक्षा के आयाम)
119. B.G. Ghokale- Ancient India, History भारतीय शिक्षा का इतिहास कपूरचन्द जैन, 1961, पृ. 2.
120. वही पृ. 19
121. कपूरचन्द जैन, भारतीय शिक्षा का इतिहास, 1961, पृ. 40
122. भाई योगेन्द्र जीत, शैक्षिक एवं विद्यालय प्रकाशन, 1984 पृ. 22
123. डॉ. एस. एस. माथुर शिक्षा सिद्धान्त पृ. 459
124. लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूलतत्व, पृ. 25
125. वही पृ. 26
126. डॉ. सुबोध अदावल, भारतीय शिक्षा की समस्यायें तथा प्रवृत्तियां, 1982, पृ. 209
127. डॉ. कुसुम चतुर्वेदी, शिक्षा के आधार पृ. 124
128. डा. एस. एस. माथुर, शिक्षा सिद्धान्त, पृ. 29.
129. डॉ. कुसुम चर्तुवेदी, शिक्षा के आधार पृ. 125
130. पाठक एवं त्यागी, शिक्षा के सिद्धान्त, पृ. 183

131. लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूलतत्व, पृ. 22
132. रामशकल पाण्डेय, शिक्षा दर्शन, 1983 पृ. 78
133. देवेन्द्र मुनि शास्त्री, धर्म, दर्शन, मनन और मूल्यांकन, 1985, पृ. 5
134. लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूल तत्व, 1987, पृ. 27.
135. R.K. Mookerji, Ancient Indian Education, P. 196-
136. श्रीमद् हरिहरानंद आरण, पातंजल योग दर्शन
137. डॉ. नन्दकिशोर देवराज, 1992, भारतीय दर्शन पृ. 374
138. डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, पातंजल योग दर्शनम्, 1993 पृ. 4
139. डॉ. नन्दकिशोर देवराज, भारतीय दर्शन 1992, पृ. 374
140. श्रीमद्भागवत् महापुराण–24/10 एवं 24/16, दृष्टव्य परिशिष्ट क्र. तीन
141. इस संबंध में विस्तृत चर्चा अध्याय चार में की गई है।
142. कल्याण, योगांक विशेषांक, पृ. 614
143. धमार्थ काममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च।।
प्रादुर्भूतो मनुष्याणमन्तरायो महानयम्।। – चरक सूत्र 1/15–16

****

अध्याय द्वितीय

सम्बन्धित साहित्य का सिंहावलोकन

2.0.0 परिचय

अनुसंधान के व्यापक अध्ययन के लिय उस अनुसंधान से संबन्धित साहित्य का अध्ययन करना आवश्यक होता है। प्रत्येक शोधकर्ता को यह ज्ञात होना चाहिए कि उसके अन्वेषण के क्षेत्र में कौन–कौन से स्रोत प्राप्य है। शोधकर्ता देश–विदेश में किये गये विभिन्न प्रकार के अध्ययनों की सहायता से समस्या चयन के कारणों पर प्रकाश डालना चाहता है। सम्बन्धित साहित्य के महत्व पर प्रकाश डालते हुए गुड, बार एवं स्केट्स ने कहा है – "एक कुशल चिकित्सक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने क्षेत्र में हो रही औषधि सम्बन्धी आधुनिकतम खोजों से परिचित होता रहे, उसी प्रकार शिक्षा के जिज्ञासु छात्र, अनुसंधान के क्षेत्र में कार्य करने वाले तथा अनुसंधानकर्ता के लिए उस क्षेत्र से संबन्धित सूचनाओं एवं खोजों से परिचित होना आवश्यक है।"

बेस्ट के अनुसार " व्यवहारिक दृष्टि से सारा मानव–ज्ञान पुस्तकों एवं पुस्तकालयों में प्राप्त किया जा सकता है। अन्य जीवों के अतिरिक्त, जो प्रत्येक पीढ़ी में नये सिरे से प्रारंभ करते हैं, मानव–समाज अपने प्राचीन अनुभवों को सर्गहीत एवं सुरक्षित रखता है। ज्ञान के अथाह भण्डार में मानव का निरंतर योग सभी क्षेत्रों में उसके विकास का आधार है।"

बोर्ग के अनुसार "किसी भी क्षेत्र का साहित्य उस आधार शिला के समान है जिस पर सम्पूर्ण भावी कार्य आधारित होता है। यदि सम्बन्धित साहित्य के सर्वेक्षण के द्वारा इस नींव को दृढ़ नहीं कर लेते तो हमारे कार्य की प्रभावहीन एवं महत्वहीन होने की सम्भावना है अथवा यह पुनरावृत भी हो सकता है।"

इस प्रकार सभी लेखकों ने एकमत से अनुसंधान कार्य की सफलता के लिए संबन्धित साहित्य का अध्ययन अपरिहार्य माना है। मनुष्य अतीत के संचित एवं आलेखित ज्ञान के आधार पर नवीन ज्ञान का सृजन करता है। मनुष्य के ज्ञान में अटूट क्रमिकता एवं प्रगति–शीलता पाई जाती है। ऐंसे साहित्य दो प्रकार के होते हैं।

प्रत्यक्ष :–

पत्रिका, समाचारपत्र, शासकीय समाचारपत्र , एवं शोध प्रबन्ध आदि.

अप्रत्यक्ष :–

साहित्य, निर्देशिकायें, विश्वज्ञान कोष, ग्रन्थसूची आदि।

शोधकर्ती को उपरोक्त प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष साधनों का उपयोग आवश्यक है तभी उसका शोधकार्य सफल एवं प्रभावी हो सकता है। सन्दर्भ सामग्री का सर्वेक्षण समय–साध्य तो अवश्य होता है, परन्तु शोध कार्यक्रम का एक उपयोगी पक्ष भी है। पूर्व शोध–साहित्य को पढ़कर शोधकर्ता उसमें से उपयोगी सामग्री का चयन एवं संकलन कर लेता है।

प्रस्तुत शोध– अध्ययन में समस्या से संबन्धित आधुनिक भारतीय संदर्भ में सांख्य शिक्षा–दर्शन से संबन्धित पुस्तकों एवं शोधकार्यों का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है। शिक्षा दर्शन की पुस्तकों एव शोध कार्यो से सांख्य शिक्षा दर्शन से संबन्धित विविध पहलुओं की जानकारी उपलब्ध करने का प्रयास किया गया है।

2.1.0 सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन

इक्कीसवीं सदी में सांख्य–शिक्षा दर्शन को व्यावहारिक एवं प्रभावी बनाने के लिए इस समस्या से संबन्धित शोध–कार्यों में किसी ठोस हल का नितान्त अभाव परिलक्षित हुआ। अतः सांख्य–शिक्षा को प्रभावी रूप देने की दिशा में अंशतः प्रयास ही दृष्टिगोचर होता है। शोध–साहित्य एवं स्रोतो में इस दिशा में प्रयास सर्वथा अभाव सा दिखायी पड़ता है। अध्ययन की समस्या से संबन्धित साहित्य कम ही उपलब्ध है। सांख्य शिक्षा एवं सम्बन्धित दर्शनोंके क्षेत्र में अधोलिखित साहित्य उपलब्ध हो सका है –

बुद्ध और जैन दर्शन पर दो शोधकर्ताओं गोखले **(1950)** एवं देशपांडे **(1955)** ने कार्य किया जिसमें पाली, संस्कृत, तिब्बती एवं तमिल के साहित्य का प्रयोग किया गया। इन अध्ययनों में विकास की अवस्थाओं, परीक्षण विधियों आदि पर कार्य किया गया तथा कुछ तुलनाएं भी की गयीं। शोधकर्ताओं ने निष्कर्ष निकाला कि केवल पठन–पाठन पर अधिक ध्यान न देकर शिक्षा के उच्च क्षेत्र पर बल दिया जाना चाहिए।

सन 1954 में सरन ने गुरूकुल प्रणाली को विश्लेषित करने का प्रयास किया, कुछ पाश्चात्य प्रतिमानों से तुलना की एवं कुछ सुझाव दिये ।

तीन शोधकर्ताओं **देवरपुरकर, सेठ** व वर्मा ने विकासात्मक दृष्टिकोणों पर कार्य किया। **सेठ (1953)** ने अपने शोध " भारतीय शिक्षा दर्शन में आदर्शवादी दृष्टिकोण " में आदर्शवाद पर जोर दिया। **देवपुरकर (1964)** ने अपने शोध "आधुनिक भारत में शिक्षा दर्शन का विकास" में उन्नीसवीं व बीसवीं सदी के अनेक दार्शनिकों पर कार्य किया और आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, प्रयोजनवाद, अन्तर्राष्ट्रीयवाद आदि दृष्टिकोणों से संबन्ध स्थापित

करने का प्रयास किया। वर्मा **(1969)** ने अपने शोध "आधुनिक भारत में राजाराम मोहन राय से महात्मा गांधी तक शिक्षा दर्शन का विकास", में पाश्चात्य प्रणाली पर आधारित विकासात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया।

तीन अनुसंधानकर्ताओं ने हिन्दी, अरबी व फारसी स्रोतों को प्रयोग करते हुए भारतीय दार्शनिकों के चिन्तन को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। शर्मा **(1960)** ने तुलसी के शिक्षा दर्शन का विस्तृत विश्लेषण किया । सईद **(1952)** ने शाह वलीउल्लाह के शिक्षा दर्शन एवं रसूल **(1968)** ने मौलाना आजाद पर कार्य किया।

अधिकतर शोध आधुनिक दार्शनिक चिन्तकों पर किये गये। इनमें "गांधी जी", सर्वाधिक प्रिय विषय रहे हैं। नायक **(1956)** ने बेसिक शिक्षा की सामाजिक आवश्यकताओं पर संरचना के दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया। सुब्रहमन्यम **(1965)** ने गांधी जी व टैगोर के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया। कुजजदकवलू (1965) ने गांधी जी व डीवी का पॉच दृष्टिकोणों पर अध्ययन किया । राबीन्सन **(1970)** ने प्रयोजनवाद के आधार पर बेसिक शिक्षा का अध्ययन किया। सिद्दीकी **(1971)** ने समाजवाद के आधार पर बेसिक शिक्षा का मूल्यांकन किया। राम जी **(1968)** ने गांधी जी के व्यक्तित्व संबन्धी विचारों का अध्ययन किया। सेन **(1973)** ने एक अन्य अध्ययन गांधी के शिक्षा दर्शन पर प्रस्तुत किया।

दिवाकर, **(1960)** ने उपनिषदों में शिक्षा दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन किया। इस अध्ययन का उद्देश्य आधुनिक शिक्षा सिद्धांतों के आधारभूत दोष की खोज था। किन्तु अनुसंधानकर्ता उपनिषदों के आधार के सिद्धांतों एवं उद्दश्यों, पाठ्यक्रम व विद्यालय के सामान्य संदर्भ तक ही सीमित रहा।

चौबे (1962) ने दयानन्द, विवेकानन्द, बेसेट, अरविन्द टैगोर व गांधी जी के शिक्षा दर्शन को आधुनित परिप्रेक्ष में देखने का प्रयास किया। आचार्य (1965) ने महाराष्ट्र के सन्दर्भ में उन्नीसवी व बीसवीं सदी के आधुनिक शिक्षा दार्शनिक के शिक्षा के सिद्वान्त व प्रयोग पर प्रभाव का विशलेषण करने का प्रयास किया।

ओड. एल. के. (1962) ने अपनी पुस्तक – "शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि" में सांख्य शिक्षा दर्शन से संबन्धित छात्र संकल्पना तथा बालक का विकास , शिक्षा के उद्देश्य . विभिन्न अवस्थाओं के लिए पाठ्यक्रम. शिक्षण विधियां, अनुशासन, हमारी शिक्षा और सांख्य शिक्षा आदि के विषय में वर्णन किया गया है।

सफाया **(1965)** ने भारतीय दर्शन के मनोविज्ञान संबन्धी दृष्टिकोण का ऐतिहासिक विवेचन करने का प्रयास किया यद्यपि इस क्षेत्र में स्वामी अखिलानन्द व यदुनाथ सिन्हा का पहले ही उच्च स्तर का कार्य था।

भट्ट, गुप्त एवं चौधरी **(1965)** ने अपनी पुस्तक "भारतीय दर्शन की रूपरेखा" में सांख्य शिक्षा से संबन्धित सभी पक्षों का समावेश किया है। उन्होंने इस पुस्तक में सांख्य से सम्बन्धित ज्ञान का अर्थ, सांख्यदर्शन का उदय एवं विस्तार पर विशद् वर्णन किया है।

भट्टाचार्य, राम शंकर **(1965)** ने अपनी पुस्तक सांख्य–दर्शन "प्रवचन भाष्य" में तत्व समाज सूत्र तथा सांख्य दर्शन से सम्बन्धित अन्य क्षेत्रों जैसे सांख्य का अनुशासन, सांख्य का सिद्धांत. मोक्ष आदि का वर्णन किया है।

अन्य शोध भगवद्गीता के शिक्षा दर्शन पर चार्लू द्वारा (1971) में किया गया जिसमें गीता को शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में आधार मानकर विश्लेषण का प्रयास किया गया।

सिंह **(1972)** ने टैगोर के अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षिक विचारों का विश्लेषण किया और अपने निष्कर्षों को ऐतिहासिक आधार देने का प्रयास किया। आचार्य विनोवा पर दो कार्य (1973) व सिंह (1974) द्वारा किये गये। हुसैन **(1973)** ने अध्ययन का आधार विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन को बनाया।

दास. के **(1975)** ने अपने शोध प्रबन्ध "सांख्य–योग और गीता में व्यक्तित्व का सम्प्रत्यय" का निश्चय करना ही इसका मुख्य उद्देश्य था। शोध अध्ययन के निष्कर्ष में यह पाया कि सांख्य योग में व्यक्तित्व का स्वरूप मनोशारीरिक संरचना का गत्यात्मक स्वरूप था। जिसमें आत्म या आत्म चेतन समरूप में निहित था। यह आत्मन परिवेश के सम्पर्क में आने पर अपने अनुभवों से प्रभावित हुआ।

सांख्य और गीता दोनों में व्यक्तित्व की संरचना और विकास में वंशानुक्रम और वातावरण दोनों कारकों को स्वीकार किया गया है। योग मनोविज्ञान के अन्तर्गत केवल कुछ मूल प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है। सांख्य–योग मनोविज्ञान में अचेतन को नकारात्मक सम्प्रत्यय के रूप में नहीं माना गया है।

सभी वस्तुओं और जीवों में भिन्न–भिन्न मात्रा में चेतना विद्यमान होती है। सांख्य–योग और गीता में पश्चिमी मनोविज्ञान के अन्तर्गत मन और पदार्थ का द्वैत भाव मिटा दिया गया है। व्यक्तित्व के पक्ष है चेतन और अचेतन। प्रथम ज्ञान का सिद्धांत और द्वितीय क्रिया का सिद्धांत। सांख्य योग और गीता में मुख्य रूप से संकल्प शक्ति ओर वृद्धि

के प्रशिक्षण पर बल दिया गया है। जिससे वे विवेक के आधार पर कार्य कर सके। चेतना और स्वचेतना जो व्यक्तित्व के आवश्यक अंग हैं सांख्य योग मनोविज्ञान में पर्याप्त रूप से भिन्न है।

उपाध्याय, बलदेव **(1976)** ने अपनी पुस्तक "भारतीय दर्शन" में सांख्य दर्शन से संबन्धित प्रसिद्ध सांख्याचार्य, सांख्य तत्व मीमांसा; (प्रकृति, विकृति, प्रकृति–विकृति तथा न प्रकृति न विकृति यानि पुरूष या आत्माद्ध) सांख्य कर्तव्य शास्त्र; (दुःख, विवेक, ज्ञान, जीवन, मुक्ति, विदेहमुक्ति) आदि का वर्णन किया है।

सूरी **(1983)** ने श्री अरविन्दो के "योग" की शैक्षिक उपयोगिता के संबन्ध में एक आलोचनात्मक अध्ययन किया है। इस शोध प्रबन्ध के मुख्य उद्देश्यों में श्री अरविन्दो की योग के सापेक्ष योग दर्शन के प्रमुख विचारों का समन्वय करना था। अरविन्दो के जीवन पृष्ठभूमि एवं उसके विस्तृत प्रक्रति का वर्णन करना था। सूरी ने अपने शोध निश्कर्श में पाया कि अरविन्दो का दर्शन द्रव्य एवं आत्मा के समाधान पर आधारित है। सत्य आठ सिद्धांतों पर आधारित है

सिंह **(1983)** ने प्लेटो एवं श्री अरविन्दो के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया इसमें उन्होंने दोनों के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं समाजिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया। इन्होंने अपने शोध निष्कर्ष में पाया कि मनुष्य का वर्तमान एवं सामाजिक जीवन दार्शनिक कल्पनाओं पर आधारित है और इसके द्वारा भविष्य में आशावादी हो सकता है। प्लेटो सत्य ज्ञान की तरफ अधिक अभिमुख थे। जबकि अरविन्दो शिक्षण को कम महत्व देते थे। वे मनुष्य के विकास एवं परिवर्तन पर अधिक बल देते थे।

शर्मा, **(1983)** ने अपने शोध प्रबन्ध "श्री अरविन्दो के शिक्षा दर्शन में मानववाद" में पाया कि विकास, वैयक्तिक से अनेकों वैयक्तिक की तरफ सूक्ष्म तत्व से हुआ। अरविन्दो का शैक्षिक दर्शन मानवतावादी प्रकृति का था। अरविन्दो के अनुसार मनुष्य के भविष्य का विकास उसकी शिक्षा पर आधारित होकर सर्वांगीण विकास करना था। अरविन्दो ने मनुष्य का मनोविकास भौतिक, आध्यात्मिक एवं मानसिक विकास पर आधारित माना था। उन्होंने बताया विद्यार्थी की प्रकृति एवं क्षमता के अनुसार शिक्षा दी जानी चाहिए।

प्रसाद, (1984) ने अपने "याज्ञवाल्क्य शिक्षा का आलोचनात्मक अध्ययन" में महर्षि याज्ञवाल्क्य के जीवन में वैदिक एवं वेदांग के महत्व को बताया है। प्रथम अध्याय में वर्ण प्रकरण जो कि वर्ण के विषय से संबन्धित है, वर्णन किया गया है।

तिवारी **(1984)** ने अपने शोध प्रबन्ध "वर्णाश्रम शिक्षा व्यवस्था तथा आधुनिक युग में उसकी उपयोगिता" में प्राचीन भारतीय वर्णाश्रम शिक्षा व्यवस्था एवं आधुनिक युग में उसकी उपयोगिता पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

इस शोध प्रबन्ध के मुख्य निष्कर्ष निम्नवत् थे –

- वर्णाश्रम शिक्षा पद्धति का मुख्य उद्देश्य आन्तरिक शक्तियों का विकास, धार्मिक भावना, चरित्र, व्यक्तित्व, साहित्य एवं संस्कृति का प्रचार एवं नागरिक की जिम्मेदारी की भावना का विकास करना था।
- वर्ण या जाति कर्म "कार्य" के द्वारा प्रतिपादित किये थे न कि उसके जन्म द्वारा।
- व्यक्ति अपनी रूचि एवं अभिक्षमता के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र थे।

सिंह. **(1984)** ने रूसों के समय से स्वतन्त्रता के संप्रत्यय के विकास पर अध्ययन किया है। इन्होंने अपने शोध निष्कर्ष में पाया कि शिक्षा, स्वतन्त्रता के आदर्श को पोषित करती है और यह स्वतन्त्रता तभी मजबूत हो सकती है जब मनुष्य का विश्वास शिक्षा में हो।

सिंह बहादुर (1984) ने "अद्वैत में ज्ञान योग की प्रतिमा शीर्षक पर कार्य किया । निष्कर्ष के रूप में अद्वैतवाद का प्रमुख सिद्वान्त हैं ब्रह्म सत्यं जगत्मिथ्य जीवों ब्रह्मैव नापरः " अर्थात ब्रह्म ही सत्य हैं जगत मिथ्या है। उससे ऊपर कुछ नही । भारतीय दर्शन में परमतत्व को प्राप्त करने के लिऐ अनेक भागों का निर्देश दिया गया है। जैसे – कर्मयोग, शक्तियोग, ज्ञानयोग, प्रेमयोग, राजयोग व ध्यानयोग आदि। अतः वेदान्तानुसार श्रवण, मनन, निदिध्यासन ही मोक्ष के कारण हैं

वैद, **(1985)** ने अपने शोध कार्य में एनीवेसेन्ट और महात्मा गांधी के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। इसमें उन्होंने पाया कि दोनों दार्शनिकों ने मानवता की सेवा में अपना जीवन न्योछावर कर दिया। पश्चिमी सभ्यता एवं विज्ञान को पूर्वोत्तर शैक्षिक दर्शन से जोड़ने का प्रयास किया है।

पाण्डेय, (1985) ने "गीता और कुरान में दार्शनिक शिक्षा का तुलनात्मक अध्ययन" में पाया कि – गीता के अनुसार जीव 'ब्रह्मा' का अंश मात्र है और इसका मुख्य उद्देश्य 'मोक्ष' के द्वारा ब्रह्मा को जोड़ना है। 'मोक्ष' अच्छे कार्यों के द्वारा प्राप्त किया जा

सकता है। जिसे 'निष्काम कर्म' कहा गया है। कुरान के अनुसार – सभी 'जीव' 'अल्लाह' के द्वारा बनाये गये हैं और जब 'जीव' की मृत्यु होती है तो उसकी आत्मा उसके कर्मों के आधार पर 'जन्नत' 'स्वर्ग' या 'दोजख' 'नरक' में जाती है। कुरान में धर्म की शिक्षा पर बल दिया गया है।

व्यास, **(1986)** ने श्री जे० कृष्णमूर्ति के शिक्षा के विभिन्न आयामों का आलोचनात्मक अध्ययन किया है। कृष्णमूर्ति की दार्शनिक शिक्षा सत्य पर आधारित थी। उन्होंने मनुष्य–मनुष्य के बीच एक सत्य सम्बन्ध स्थापित कर उसके उद्देश्यों को आगे बढ़ाने हेतु प्रयास किया। उनका नया योगदान शिक्षा के उद्देश्यों, में था। कृष्णमूर्ति ने यौन शिक्षा देने की भी वकालत की है।

पाठक, **(1986)** काकासाहब कालेकर के शैक्षिक विचार के संबन्ध में अध्ययन किया है। अपने शोध अध्ययन में काका साहेब के अनुसार शिक्षा की परिभाषा का मूल्यांकन किया गया जो कि आर० सी० पीटर की शिक्षा पर आधारित थी। काका साहब की परिभाषा जेम्स के विचारों से मिलती–जुलती थी। काका साहब के शैक्षिक विचार रूचिकर किन्तु प्रक्रम–अभिमुख नहीं थे।

देसाई, **(1987)** ने अपने शोध अध्ययन "सामाजिक एवं सांस्कृतिक संदर्भ में शिक्षा के सम्प्रत्यय के विकास" में पाया कि – शिक्षा के सम्प्रत्यय में संपूर्ण उम्र भर विचारों का जुड़ाव था। शिक्षा के विभिन्न दार्शनिक विचार, आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, वास्तववाद एवं अस्तित्ववाद शिक्षा के विचार से प्रभावित थे।

चिखलिकर, (1988) ने अपने शोध प्रबन्ध में पाया कि शिक्षा में मुख्य उद्देश्य 'स्वानुभूति' है। शिक्षक और शिक्षार्थी के मध्य सहयोग होना 'स्व' का ज्ञान होने में बताया गया है और इसका त्वरित उद्देश्य सत्य की प्राप्ति करना होता है। भारतीय जीवन के प्रमुख उद्देश्यों में दर्शन और धर्म, ज्ञान और चरित्र तथा कला अभिन्न अंग थे।

सन् 1988 में कुमारी पूनम सिहं ने सांख्य सिद्वान्त का समीक्षात्मक अध्ययन शीर्षक पर एक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया जिसमें उन्होनें साख्यं के सिद्धान्तों " पर विचार विमर्श किया ।

अंसारी, **(1988)** ने इस्लामिक संस्कृति में शैक्षिक दर्शन की विशेषताओं पर शोध अध्ययन किया है। भगवत्ती (1988) ने राधाकृश्णन के शैक्षिक दर्शन एवं उसका सामाजिक परिवर्तन में योगदान विषय पर एक महत्वपूर्ण शोध अध्ययन किया है।

1989 में सुस्मिता भट्टाचार्या द्वारा "स्वामी विवेकानन्द के सेवायोग का आलोचनात्मक अध्ययन शीर्षक पर शोध किया गया। शोध के निष्कर्ष के रूप में सेवायोग से भारतीय जीवन की वर्तमान परिस्थिति से सम्बधित तीन समस्यायें हल होती हैं – 1. गरीबी ,कष्ट व वस्तुओं का दुरूपयोग 2. निरक्षरता तथा अज्ञानता 3. स्वार्थ केन्द्रित व गन्दी राजनीति।

धाल, **(1990)** ने रवीन्द्र नाथ टैगोर एवं महर्षि अरविन्दो के शैक्षिक दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन किया है।

सन् 1990 में ललित कुमार चौबे ने अपने शोध प्रबन्ध में श्रीमदभगवद् गीता में सांख्य एवं योग पर विचार प्रस्तुत किये। सन् 1990 में घनश्याम पांडे ने "सांख्य एवं वेदांत दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन" पर एक शोध प्रस्तुत किया जिसमें उन्होंने सांख्य एवं अद्वैत वेदांत दर्शन पर विचार प्रकट किया। सन् 1991 में कुमारी सुपर्णा ने "साख्य एवं अद्वैत वेदांत में मोक्ष का स्वरूप, एक समीक्षात्मक अध्ययन" पर एक शोध–प्रबन्ध प्रस्तुत किया और उसमें सांख्य एवं अद्वैत वेदांत में मोक्ष पर प्रकाश डाला।

द्विवेदी, कमला **(1991)** ने विश्व के परिप्रेक्ष्य में गांधी जी के शैक्षिक दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन अपने शोध में प्रस्तुत किया है। महालिंगम (1992) ने भी अपने एम0 फिल0 उपाधि हेतु गांधी जी के शैक्षिक विचारों के संबन्ध में शोध कार्य किया है। जबकि विजया (1993) ने स्वामी विवेकानंन्द्र एवं डीवी के शैक्षिक दर्शनों का तुलात्मक अध्ययन किया।

आलम (1992) ने मनुष्य एवं समाज के परिप्रेक्ष में इस्लाम धर्म के शैक्षिक विचारों का अध्ययन किया।

आचार्य शर्मा **(1994)** ने अपनी पुस्तक "सांख्य दर्शन" में सांख्य सिद्धांत का दर्जा तत्व ज्ञान की दृष्टि से बहुत ऊंचा बताया है। इनके अनुसार भगवद्गीता में सांख्य–निष्ठा को बहुत महत्व दिया गया है और उसको निष्काम कर्मयोग का पूरक माना है। इस लिए गीताकार सांख्य और योग से भेद भाव करने वालों को अज्ञानी समझते हैं – "सांख्य–योगी पृथग्बालाः प्रदन्ति न पंडिताः"। इसमें केवल इतना अन्तर माना गया है– योग निष्ठा में गुणों का किसी न किसी अशं में सम्बन्ध रहता है और उनमे ईश्वर को समर्पण करके वासनाओं का त्याग किया जाता है, सांख्य निष्ठा पहले से ही तीनों गुणों के सर्वथा त्याग पूर्वक होती है और आत्मा को अकर्ता मानकर तीनों गुणों को ग्रहण ओर ग्राह्य रूप से मान लिया जाता है।

1994 में सुनीता कुमार पाण्डेय ने साख्य दर्शन एवं श्री अरविन्द दर्शन में विकास का स्वरूप शीर्षक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया, जिसमें इन्होने सांख्य एवं अरविन्द दर्शन के विकास पर प्रकाश डाला।

महमूद (1995) ने जमात–ए–इस्लामी हिन्द और इनके शैक्षिक निहितार्थो पर एक आलोचनात्मक अध्ययन किया।

लाल, रमन बिहारी **(1995)** ने अपनी पुस्तक "शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धांत" में सांख्य शिक्षा से संबन्धित सांख्य दर्शन की तत्व मीमांसा, सांख्य दर्शन की ज्ञान मीमांसा, सांख्य दर्शन की आचार मीमांसा, सांख्य दर्शन की शिक्षण विधियां, अनुशासन, शिक्षक–विद्यार्थी, विद्यालय तथा शिक्षा के अन्य पक्षों का वर्णन किया है।

कुशवाहा, **(1996)** ने आधुनिक भारतीय संदर्भ में सांख्य–शिक्षा दर्शन की प्रासंगिकता पर लघु शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया है। 1996 में राजहंस ने डा0 बी.आर. अम्वेडकर के शैक्षिक विचारों पर अध्ययन किया।

पाण्डेय, संगम लाल **(1999)** ने अपनी पुस्तक "भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण" में शिक्षा से संबन्धित सांख्य दर्शन के आचार्य एवं साहित्य, सत्कार्यवाद, तत्वविचार, सृष्टि और लय, प्रमाण–विवेचन, मोक्ष तथा सांख्य दर्शन की आलोचना के संबन्ध में भी लिखा है कि सांख्य दर्शन अधिकांश भारतीय विद्वानों का अधार है ही, इसके अतिरिक्त वह नीतिशास्त्र , सौन्दर्यशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र का भी आधार है।

देवराज, नन्द किशोर **(1999)** ने अपनी दार्शनिक पुस्तक "भारतीय दर्शन" में सांख्य दर्शन के संबन्ध में सांख्य का साहित्य , सांख्य का सिद्धांत, पच्चीस तत्वों का स्वरूप, विकासक्रम, परिणामवाद, सत्कार्यवाद, ईश्वर की कारणता का खण्डन, सांख्य की ज्ञान मीमांसा, प्रत्यक्ष, अनुमान, सांख्य का भ्रम सिद्धांत, सांख्य की तत्व मीमांसा, पुरूष की सिद्धी, प्रकृति और पुरूष का संबन्ध, कर्म–सिद्धांत, पुनर्जन्म और मोक्ष के संबन्ध में विस्तृत वर्णन किया है।

सांकृत्यायन, राहुल **(2000)** ने अपने प्रस्तुत संस्करण 2000 के "दर्शन दिग्दर्शन" में ऋशिप्रोक्त विरोधी दर्शनों के खण्डन के संबन्ध में सांख्य खण्डन के विषय में बताया है कि उपनिषद के बह्मकारणवाद से सांख्य का प्रधान कारणवाद कई बातों में उल्टा था। वादरायण कारण से कार्य को विलक्षण मानते थे, जबकि सत्कार्यवादी सांख्य कार्य–कारण

को संलक्षण अभिन्न मानता था। सांख्य का पुरूष निष्क्रिय था, जबकि वेदान्त का पुरूष सक्रिय था।

मसीह, या0 **(2000)** ने अपनी पुस्तक "भारतीय दर्शन के मूल तत्व" में सांख्य तत्व मीमांसा, सांख्य ज्ञान मीमांसा आदि का वर्णन किया है।

पाण्डेय (2002) ने साख्य योग दर्शन पर आधारित शालीय पाठ्यक्रम का विकास शीर्षक पर कार्य किया। वैचारिक आधार पर जो निष्कर्ष निकाले गये उन्हें मुख्यता चार भागों – शिक्षा के उद्देश्य पाठयचर्या, शिक्षण विधि एवं मूल्यांकन में बॉटकर लिखा गया है। इस शोध प्रबन्ध द्वारा शिक्षा के सम्पूर्ण ढॉचे को भारतीय दृष्टिकोण से देखने और तत्पश्चात् बनाने का प्रयास किया गया है।

ओझा (2002) ने इक्कीसवीं सदी के भारत में सांख्य शिक्षा दर्शन की प्रांसगिता का आंकलन किया । इस शोध प्रबन्ध में पाश्चर्य व पौर्वात्य में मूल्यांकन भी किया गया है। इसमें आधुनिक शिक्षा प्रणाली की समीक्षा करते हुए प्राचीन आध्यात्मिक ,नैतिक व चारित्रिक मानवीय मूल्यों को सांख्य शिक्षा प्रणाली के संन्दर्भ में जोडा गया है।

शुक्ल (2003) ने योग दर्शन के विचारों का वर्तमान संन्दर्भ में मूल्याकन, शीर्षक पर लघु शोध प्रवन्ध प्रस्तुत किया।

2.2.0 निष्कर्ष

उपरोक्त अध्ययनों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय शिक्षा दर्शन अभी भी एक अविकसित स्थिति में है। कहीं तो वह अतीतोन्मुख हो जाता है, और कभी उसे पश्चिम के अन्धानुकरण की स्थिति में पाते हैं।

आज भारत एक संक्रमण काल से गुजर रहा है। आधुनिक परिस्थितियों में पुरानी मान्यतायें तेजी से बिखर रहीं हैं। बदलती परिस्थितियों के अनुरूप नवीन मूल्य निर्मित नहीं हो पा रहे हैं। किसी ऐसे प्रयोगवादी दर्शन का अभाव है जो शिक्षा को गतिशील बना सके। भारत का प्राचीन दर्शन सांख्य ही यह आधार प्रदान कर सकता हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि उसमें निहित शिक्षा के दार्शनिक आधारों का विश्लेषण इस दृष्टिकोण से किया जाये, जो वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप हो सके। उनमें निहित शैक्षिक विचारों को एक व्यवस्थित रूप दिया जाये, जिससे आधुनिक भारतीय शिक्षा दर्शन की तुलना में उनके महत्व का सही मूल्यांकन किया जा सके।

अब तक जितने भी अनुसंधान हुये हैं उनमें भारतीय शिक्षा दर्शन का विवेचन पाश्चात्य शिक्षा दर्शन के संप्रदायों के दृष्टिकोण से किया गया है। उपनिषद, पुराण अथवा काव्यों में वर्णित बातों की आदर्शवाद, प्रकृतिवाद या प्रयोजनवाद के अन्तर्गत रख कर विवेचना की जाती है। इसी प्रकार श्री अरविन्द, विवेकानन्द, टैगोर व गांधी जी आदि दार्शनिकों को इन्हीं पाश्चात्य वर्गीकरण के अन्तर्गत स्थापित कर दिया जाता है। यह उचित नहीं है। प्रत्येक दर्शन किसी सांस्कृतिक परम्परा की विशिष्ट अभिव्यक्ति होता है। एक ही शब्दावली दूसरी परम्परा में भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेती है। इधर–उधर बिखरी सामग्री को बिना उचित परिपेक्ष में मूल्यांकित किये किसी संप्रदाय विशेष से संयुक्त कर देना, शैक्षिक व तार्किक दृष्टिकोण से अनुचित है। भारतीय दर्शन को आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, प्रयोजनवाद आदि में वर्गीकरण करना उतना ही अंसगत है जितना पश्चिमी दर्शन को न्याय अथवा वेदांत वर्ग में रखना युक्तिहीन है।

2.3.0 वर्तमान अध्ययन

प्रस्तुत अध्ययन बौद्धिक जिज्ञासा की तृप्ति मात्र नहीं है अपितु सांख्य शिक्षा दर्शन का एक व्यवस्थित अध्ययन करने का प्रयास है। यह भारतीय शैक्षिक चिंतन को नये आयाम देने में सक्षम होगा। इससे शिक्षा की अनेक समस्याओं के निराकरण में सहायता मिलेगी। प्रस्तुत अध्ययन सांख्य दर्शन में निहित शैक्षिक विचारों एवं आदर्शों की उपयोगिता का आधुनिक परिस्थितियों के संदर्भ में मूल्यांकन करने का प्रयास है। शिक्षा के क्षेत्र में इस दृष्टि से यह एक अभिनव प्रयास है, तथा एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति कर सकता है।

अब तक किये गये शोध कार्यों में सांख्य–शिक्षा दर्शन की उपयोगिता के संबन्ध में कोई शोध कार्य नही हुआ है। अतः इस क्षेत्र में शोध–कार्य की अत्यंत आवश्यकता प्रतीत हुई।

अध्याय तृतीय

वर्तमान अध्ययन

3.0.0 परिचय

शोध, अनुसंधान, प्रयोग एवं नवाचार व्यक्ति की जीवन–चर्या के अभिन्न अंग रहे हैं। उठते–बैठते, सोते–जागते, पढ़ते–लिखते, खेलते–कूदते एवं आते–जाते आदि सभी स्थितियों में व्यक्ति जाने–अनजाने आदिकाल से ही कुछ प्रयोग, अनुसंधान या नवाचार करता रहा है। कभी उसने इसे अभिव्यक्त किया है तो कभी मन में ही समेटे रखा। परंतु इतना अवश्य है कि इन प्रयोगों व अनुसंधानों ने उसकी जीवन धारा को प्रभावित किया। कभी–कभी तो केवल स्वयं के जीवन की दिशा ही बदली तो कभी समाज व देश को भी बदल कर रख दिया। व्यक्ति ने शोध व अनुसंधान विभिन्न क्षेत्रों में किये हैं और किये जा रहे हैं। 'शिक्षा' का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रहा है। शिक्षा क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं ने, व्यक्तिगत अनुभव एवं परिवर्तनों ने, उसे शोध और अनुसंधान की प्रेरणा दी है। परिणामतः शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक विचार, अनेक सिद्धांत देखने को मिलते हैं। इससे नवीन तकनीकें, नवीन पद्धतियां एवं नवीन प्रणालियां सामने आयी हैं।

शोध और अनुसंधान के लिये विषेशज्ञों ने विषय के अनुसार शोध विधियां प्रयुक्त की हैं और शिक्षा के उद्देश्य, विधियां, पाठ्यचर्या, मूल्यांकन, बालक और शिक्षक आदि सभी पर अपने नवीन विचार प्रस्तुत किये हैं। भारतीय शिक्षा, भारतीय दर्शन पर आधारित होनी चाहिए, यह विचार भारतीय शिक्षा शास्त्री, चिंतक एवं मनीषी समय–समय पर प्रस्तुत करते रहे परन्तु उसका स्वरूप क्या हो ? पाठ्यचर्या कैसे बनेगी ? आदि प्रश्नों के स्पष्ट उत्तर कुछ ही ने दिये हैं। अस्तु प्रथम अध्याय में दर्शन एवं शिक्षा पर विचार किया गया था और इस अध्याय में वर्तमान अध्ययन से संबन्धित विषयों पर चर्चा की जायेगी। यथा–शोध प्रबंध की आवश्यकता क्या है ? शोध के उद्देश्य क्या–क्या हैं ? एवं शोध के लिए कौन सी विधि ली गयी है ? वर्तमान अध्ययन की महत्ता एवं सीमांकन आदि विन्दुओं पर विचार किया जायेगा। अध्ययन का प्रथम बिन्दु है "वर्तमान अध्ययन की पृष्ठभूमि" , इस पर आगामी पंक्तियों में विचार व्यक्त किया जा रहा है।

3.1.0 अध्ययन की पृष्ठभूमि

समाज परिवर्तनशील है। परिस्थितियां बदलती रहती हैं। इन बदली हुई परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित करना आवश्यक होता है परिवर्तनों के अनुकूल शिक्षा प्रणाली में भी अभीष्ट परिवर्तन करने होते हैं। जब यह परिवर्तन नहीं होते हैं तो समाज प्रभावित होता है। देश व समाज की प्रगति रूक जाती है, व्यक्ति के विकास के मार्ग

अवरूद्ध हो जाते हैं। परिणामतः सम्पूर्ण ध्यान शिक्षा प्रणाली पर जाता है और इन प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास किया जाता है कि परिवर्तन कब और कैसे किया जाये ? परिवर्तन की दिशा क्या हो ? आदि ।

"शिक्षा में परिवर्तन", 'शिक्षा–सुधार का नारा' पिछले कई वर्षों से भारत में लगाया जाता रहा परन्तु इस दिशा में कार्य बहुत ही कम हुआ है। आज तक शिक्षा के स्तर में सुधार नहीं हो पाया है और शैक्षिक परिणाम में पहले से पतन ही हुआ है। अभी तक किसी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का विकास नहीं कर सके हैं। इस अभाव की पूर्ति हेतु, अनेक बार कई प्रयास हुये, आयोग बैठे परन्तु अपेक्षित परिणाम नहीं मिले हैं। शिक्षा सुधार की कोई भी योजना या प्रयास तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि असफलता के कारणों पर गंभीरता से विचार न किया जाये एवं समस्या के मूल तक न जाया जाये। अस्तु कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर विचार किया जाना अत्यंत आवश्यक है वे निम्नानुसार हैं –

शिक्षा के दो पक्ष हैं – सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक। शिक्षा का सिद्धांत पक्ष दर्शन पर आधारित है। दर्शन का संबंध जीवन से है। जीवन यापन के ढंग को दर्शन कहते हैं। यदि दर्शन स्वयं में जीवन का अंतिम विश्लेषण है तो शिक्षा उस मार्ग प्राप्ति का साधन है। जान डिवी के अनुसार "अपनी सामान्य स्थितियों में दर्शन शिक्षा सिद्धांत ही है।" उनका आगे कहना है कि शिक्षा और दर्शन के मध्य संबंध साधारण न होते हुए भी अत्यंत निकट का है। शिक्षा, दर्शन के उद्देश्यों को व्यावहारिक रूप प्रदान करती है।

शिक्षा प्रणाली राष्ट्र के अनुरूप होती है। भारत के लिये यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस समय जो शिक्षा प्रणाली प्रचलित है उसमें भारतीयता का भाव नहीं है। हमारे देश की शैक्षिक विचार धारा और उसका व्यावहारिक पक्ष अन्य देशों की शैक्षिक विचार धारा पर आधारित है अतः हमारी शिक्षा का सैद्धांतिक पक्ष, व्यावहारिक पक्ष, विधियां, पुस्तकें, शैक्षिक समस्याओं का समाधान तथा शिक्षा नीति का मुख्य रूप से विदेशों की देन है। अतएव हमारी शिक्षा प्रभावशाली नहीं है। शिक्षा अपने उद्देश्य की पूर्ति भली प्रकार नहीं कर पा रही है। स्पष्ट है जो पौधा एक विशेष जलवायु में उगता है वह दूसरी जलवायु में नहीं पनप सकता। जो शैक्षिक विचार धारा एक विशेष राष्ट्र की अवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विकसित की जाती है वह दूसरे राष्ट्र के लिये उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती। अतः यह प्रथम कर्तव्य है कि हम अपनी आवश्यकता के अनुसार शिक्षा का स्वरूप विकसित करें। वास्तविकता यह है कि अभी तक जो प्रयास हुये हैं वे बाहरी शैक्षिक विचारों को क्रियान्वित करने के संबंध में थे। देश के बुद्धिजीवियों ने अपनी शिक्षा प्रणाली के निर्माण की ओर भारतीय दृष्टिकोण से ध्यान नहीं दिया। अतः आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा तथा

शिक्षण संबंधी सिद्धांतों का नये सिरे से प्रतिपादन किया जाये। जिससे सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष को अधिक प्रभावशाली बनाया जा सके।

अस्तु ऐसे शोध कार्य की आवश्यकता है जो भारतीय शिक्षा की समस्याओं पर भारतीय दृष्टि से चिंतन करे तथा ऐसे निष्कर्ष निकाले जो व्यावहारिक हों तथा भारत की भावना के अनुरूप हों। अतएव इस दिशा में चिंतन करें तो परिणाम यह सामने आयेगा कि भारतीय दर्शन पर आधारित शिक्षा प्रणाली ही क्यों न विकसित की जाये। भारतीय दर्शन अपने आप में पूर्ण है उसमें जीवन के सभी क्षेत्रों से संबंधित विशाल एवं गहन सामग्री समाहित है। ये दर्शन शिक्षा के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष भी अपने में समेटे हुये हैं। आवश्यकता इस बात की है कि वर्तमान शिक्षा में इसका समावेश किया जाये।

भारतीय दर्शनों में 'षड् दर्शनों का' प्रमुख स्थान है। षड् दर्शनों में 'सांख्य दर्शन' की विचार धारा अधिक वैज्ञानिक एवं तार्किक है। उत्तरवर्ती दर्शनों में इसी का पल्लवन हुआ है। सृष्टि प्रक्रिया की वैज्ञानिक व्याख्याओं में सांख्य के प्रकृति परिणामवाद (सत्कार्यवाद) का स्थान सर्वोपरि है। सांख्य के मत में अन्तःकरण, बुद्धि या चित्त प्रकृति के ही परिणाम हैं। इस प्रकार से हमारी तथाकथित मानसिक क्रियाएं मुख्यतया भौतिक तत्व हैं यह सिद्धांत आधुनिक फिजियोलाजिकल सायकोलोजी (शरीर क्रिया विज्ञान) के बहुत समीप है। सांख्य का मोक्ष सिद्धांत भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। सांख्य ज्ञान से मोक्ष मानता है। ज्ञान किसी वस्तु का विनाश नहीं कर सकता, वह वस्तु का प्रकाशक होता है।

सांख्य तथा योग इन दोनों दर्शनों में घनिष्ठ संबंध है। ये दोनों समान विद्या के प्रतिपादक शास्त्र हैं। सांख्य अध्यात्म विद्या का सैद्धांतिक रूप है तो योग उसका व्यावहारिक रूप है। सांख्य दर्शन तात्विक विवेचन करता है, जबकि योग दर्शन लक्ष्य प्राप्ति मार्ग को प्रदर्शित करता है। सांख्य दर्शन में यह सिद्धांत प्रतिष्ठित हुआ कि विवेक ज्ञान से कैवल्य प्राप्त होता है, योग दर्शन, विवेक ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हो सकता है इस सिद्धांत की व्याख्या करता है। दोनों दर्शनों की ज्ञान मीमांसा , कर्म मीमांसा , प्रमाण मीमांसा, सृष्टि मीमांसा, तत्व मीमांसा, संसार मीमांसा तथा कैवल्य मीमांसा तुल्य है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। स्थान–स्थान पर दोनों की एकता की घोषणा की गयी है जो फल सांख्य का है वही योग का है जो योग है वही सांख्य है –

यत्सांख्यै प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।।

अस्तु सांख्य योग दर्शनों को एक मानते हुए शिक्षा प्रणाली का आधार इन्हें बनाया जा सकता है। अस्त प्रस्तुत शोध प्रबंध के विषय में सांख्य शब्द ही लिया गया है। सांख्य दर्शन की वर्तमान में शिक्षा में बहुत आवश्यकता है। वर्तमान युग की शिक्षा की दशा एवं व्यवस्था की विसंगतियों को दृष्टिगत रखते हुए सांख्य योग दर्शन पर आधारित शिक्षा व्यवस्था अनुकूल परिणाम दे सकती है। 'सांख्य योग दर्शन और शिक्षा' अथवा 'सांख्य दर्शन पर आधारित शिक्षा' इस विषय पर सामान्य दृष्टि से भी विचार करें तो सांख्य शिक्षा के लिये उपयुक्त और उचित पायेंगे। क्योंकि यह दर्शन भौतिक जगत, प्रकृति, ईश्वर, आत्मा और मोक्ष आदि की व्याख्या तो करते ही हैं साथ ही जीवात्मा, और परमात्मा, योग का वर्णन और योग की प्राप्ति का साधन भी स्पष्ट करते हैं। योगश्चित वृत्ति निरोधः अर्थात योग चित्त वृत्तियों का निरोध है, योग चित्त वृत्तियों को निर्मल करता है तथा उसे कैवल्य प्राप्ति के मार्ग में सहायता करता है और शिक्षा से तात्पर्य है – 'साविद्या या विमुक्तये' अर्थात शिक्षा व्यक्ति को मुक्ति प्रदान करती है। इस प्रकार दोनों के उद्देश्य एक ही हैं। योग चित्त वृत्तियों का निरोध करके , चित्त को बिल्कुल निर्मल व शुद्ध करने की बात करता है तो शिक्षा का भी अंतिम लक्ष्य यही है। शिक्षा के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास आदि उद्देश्यों की पूर्ति सांख्य द्वारा बहुत अच्छी तरह से हो सकती है। शिक्षा जगत की बहुत सारी समस्याएं जैसे – शिक्षा अनुशासनहीन हो गई है, उत्तरदायित्व का बोध नहीं कराती, स्वावलंबी नहीं बनाती आदि का हल भी इसी दर्शन में खोजा जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि आज सांख्य दर्शन पर आधारित शिक्षा की आवश्यकता है। अस्तु अब इस बात की भी आवश्यकता है कि शिक्षा की संरचना पर पुनः विचार करें, शोध करें। शिक्षा की संरचना कैसी हो इस हेतु शालीय पाठ्यक्रम में नवाचार की आवश्यकता है। प्रस्तुत शोध के माध्यम से शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर उद्देश्य, शिक्षण विधि, पाठ्यक्रम एवं मूल्यांकन आदि में नवाचार के साथ, सांख्य दर्शन पर आधारित शिक्षा की संरचना कैसी हो इसका उत्तर खोजने का प्रयास किया जायेगा।

3.2.0 अध्ययन की आवश्यकता

वर्तमान युग ज्ञान एवं विज्ञान का युग है। यह युग नवीन शोधों एवं अविश्कारों का है। शिक्षा का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रहा है। शिक्षा में भी बहुत से शोध हुये हैं एवं हो रहे हैं जिसका संबंध अधिकांशतः विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा एवं शिक्षण विधियों आदि से रहा है। शिक्षा में विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा को महत्व दिया जा रहा है। ऐसे युग में जब

'दर्शन आधारित शिक्षा' इस विषय पर शोध करने की बात कही जाती है तो सहज ही अनेक प्रश्न उठ खड़े होते है जैसे कि आज के युग में दर्शन एवं शिक्षा पर आधारित शोध की आवश्यकता है ? भारतीय दर्शन पर आधारित शिक्षा किस प्रकार की होगी ? विज्ञान के युग में दर्शन की क्या आवश्यकता है ? आदि आदि। इसके विपरीत आज के युग में एक ऐसा वर्ग भी है जो यह मानता है कि आज भारतीय दर्शन पर आधारित शिक्षा की आवश्यकता है ? जिसमें शोधार्थिनी भी शामिल है। परन्तु पुनः वही प्रश्न उपस्थित होते हैं कि वर्तमान शोध की क्या आवश्यकता है? अतः निम्नलिखित पंक्तियों में वर्तमान अध्ययन की आवश्यकता को स्पष्ट किया जा रहा है।

1. अद्यतन विभिन्न क्षेत्रों में बहुत शोध हो चुके हैं परन्तु पूर्णतः भारतीय दर्शन पर आधारित शोध की संख्या बहुत कम है। अतः इस शोध की आवश्यकता है।

2. स्वतंत्रता के पश्चात भारत की शिक्षा प्रणाली में सुधार के लिये गठित आयोगों ने भी अपनी संस्तुतियां दी हैं जिनके उल्लेखनीय बिंदु इस प्रकार हैं – विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग – (1948 & 1949) यह आयोग डा० राधाकृष्णन की अध्यक्षता में गठित हुआ। इस आयोग की रिपोर्ट में धार्मिक शिक्षा पर बल दिया गया – धर्म के बिना नैतिकता पर्याप्त नहीं है। स्वामी भक्ति, साहस, अनुशासन और आत्मबलिदान जैसे विशिष्ट गुणों का उपयोग अच्छाई एवं बुराई दोनों के लिए संभव है। ये गुण जितने सफल नागरिक या सज्जन व्यक्ति के लिए आवश्यक हैं तो दुर्जन व्यक्ति की सफलता के लिए भी उतने ही आवश्यक हैं। धर्म निरपेक्षता का अर्थ धर्म के बारे में अशिक्षित या अज्ञानी रहना नहीं है। धार्मिक शिक्षा के लिए आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिए

- कुछ मिनटों के लिए मौन–धारण करवाया जाए।
- प्रथम वर्ष के डिग्री पाठ्क्रम में धर्म के महान शिक्षकों की जीवनियों को पढ़ाया जाय।
- द्वितीय वर्ष में शास्त्रों में से सार्वभौम चरित्र को पढ़ाया जाए।
- तृतीय वर्ष में धर्म एवं दर्शन की मूल समस्याओं का अध्ययन कराया जाए।

अयोग ने इस बात को स्वीकार किया है कि नैतिक और धार्मिक पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से विद्यार्थी को नैतिक और धार्मिक बनाने का प्रयास अपर्याप्त है। मात्र बौद्धिक विकास से हृदय विकास संभव नहीं है। नैतिक विकास के लिए सर्वोत्तम प्रक्रिया है – व्यक्ति का अपना उदाहरण, दैनिक जीवन और कार्य, रोजमर्रा की पुस्तकें आदि।

माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952 & 1953) – यह आयोग श्री मुदालियर की अध्यक्षता में गठित हुआ। इस रिपोर्ट ने स्वीकार किया है कि शिक्षा का उद्देश्य तब तक पूरा नहीं होता जब तक देश की युवा पीढ़ी में नैतिक मूल्यों का विकास नहीं हो जाता। आयोग के अनुसार संविधान के धर्म निरपेक्ष राज्य के प्रावधान को देखते हुए नियमित कालांशों में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती। किंतु विद्यालय के अतिरिक्त समय में विद्यार्थी को स्वेच्छानुसार दी जा सकती है।

सन् 1958 ई. में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा की आवश्यकता के अध्ययन के लिए श्री प्रकाश समिति का गठन किया गया इस समिति की मुख्य सिफारिशें इस प्रकार हैं –

- शिक्षण संस्थाओं में नैतिक तथा अध्यात्मिक मूल्यों का विकास निश्चित सीमा में होना आवश्यक है।
- इस प्रकार की धार्मिक नैतिक शिक्षा की पाठ्यवस्तु तुलनात्मक होनी चाहिए और दर्शन–शास्त्र से उसका संबंध करते हुए समाज सेवा तथा देश भक्ति पर बल देना चाहिए।
- यूनीवर्सिटी एजुकेशन कमीशन की 'मौन प्रार्थना' की सिफारिश पर अमल किया जाना चाहिए। प्रार्थना के समय विभिन्न धर्मों के चुने हुए अंश छात्रों को सुनाये जाने चाहिए।
- शिक्षण संस्थाओं में समय–समय पर धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा को प्रोत्साहन देने वाले प्रवक्ताओं के प्रवचनों का आयोजन कराया जाए ।
- विद्यार्थियों के ऐसे संगठन का निर्माण किया जाये,जिनसे उन में नैतिक गुणों का विकास हो।

शिक्षा आयोग (1964&66) यह अयोग डा० दौलत सिंह कोठारी की अध्यक्षता में गठित हुआ। इसमें नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की तीव्र अपेक्षा को रेखांकित किया गया। इस आयोग ने अनुशंसा की कि शिक्षा को मूल्य परक बनाने के लिए सक्रिय उपायों को काम में लेना चाहिए। इसने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों प्रकार के उपायों को काम में लेने पर बल दिया। इनके अनुसार आधुनिक समाज के समक्ष ज्ञान के विस्तार एवं शक्ति विकास के प्रसंग बहुत अधिक हैं। अतः यह अपेक्षित हो गया है कि इनके साथ सामाजिक दायित्व की अनुभूति, आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों के गहरे मूल्यांकन की दृष्टि को भी संयोजित किया

जाए। वस्तुतः धार्मिक शिक्षा एवं धर्मों की शिक्षा में अन्तर है। बहुधर्मि लोक तांत्रिक राष्ट्र में सभी धर्मों के सहिष्णुता पूर्वक अध्ययन को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1977) – इस दस्तावेज में नैतिक एवं राष्ट्रीय मूल्यों के विकास पर बल दिया गया। शिक्षा पद्धति को चरित्रवान और राष्ट्रीय सेवा एवं विकास के प्रति समर्पित युवक–युवतियों को अवश्य तैयार करना चाहिए।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) इसने मूल्य परक शिक्षा पर बहुत बल दिया। इसका कारण यह है कि जीवन के आवश्यक मूल्यों में भारी गिरावट आ रही है। दूसरा कारण यह है कि शिक्षा के द्वारा हमारे बहुसंस्कृति प्रधान समाज में सार्वभौम व शाश्वत् मूल्यों का विकास होना चाहिए। मूल्य परक शिक्षा को हमारी सांस्कृतिक धरोहर , राष्ट्रीय लक्ष्य और सार्वभौम दृष्टि पर बल देना चाहिए।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति पर गठित "समीक्षा समिति" जो कि आचार्य राममूर्ति की अध्यक्षता में गठित हुई। इसके अन्तिम दस्तावेज में सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों में भारी गिरावट के प्रति चिंता प्रकट की गई और इन मूल्यों की रक्षा पर बल दिया गया।

इन संस्तुतियों में नैतिक शिक्षा को शिक्षा के एक आवश्यक अंग के रूप में स्वीकृत किया गया है। नई शिक्षा नीति के अंतर्गत मूल्य परक शिक्षा का प्रावधान रखा गया। इस मूल्य परक प्रावधान में नैतिक कहानियों, घटनाओं, कविताओं, गीतों, प्रगीतों, तथा महापुरूषों की जीवनियों को अन्य शैक्षिक विषयों के साथ पढ़ाने का निर्देश किया गया। जिससे शिक्षा के सर्वांगीण उद्देश्य की पूर्ति हो सके। इन विषयों से संबंधित पाठ, पुस्तकों में यत्र–तत्र प्रासंगिक रूप से पढ़ने को मिलते हैं। समस्या यह है कि केवल सैद्धांतिक शिक्षा का जीवन में आस्था सूचक प्रभाव व्यक्त नहीं होता। इसका एक कारण यह है कि ब्रिटिश परम्परागत यह वर्तमान शिक्षा प्रणाली एकांगी बौद्धिक विकास करने वाली है। इसमें विभिन्न व्यवसायों से संबंधित शिक्षा का प्रावधान है। परंतु अपने कार्यों के प्रति नैतिक कर्तव्य निभाने की प्रेरणा कम दिखायी देती है यही कारण है कि आज डाक्टर, वकील, अर्थशास्त्री, समाज शास्त्री, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, तर्क शास्त्री आदि उपलब्ध हैं परन्तु अपने द्वारा गृहीत कार्यो के प्रति वास्तविक उत्तरदायित्व का अनुभव करने वाले व्यक्ति नगण्य है। अतः शिक्षा जीवन से कैसे जुड़े? नैतिक व चारित्रिक शिक्षा किस प्रकार दी जाये? जीवन मूल्यों के प्रति आस्था कैसे पैदा की जाये? यह आज के समय के महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिये एवं शिक्षा में परिवर्तन लाने के लिए नवीन शोध की आवश्यकता है।

सभी शिक्षाविद् , विद्वान एवं विचारक इस तथ्य को एक स्वर में स्वीकार करते हैं कि शिक्षा–दर्शन आवश्यक है। परन्तु कुछ के अनुसार शिक्षा–दर्शन शिक्षा में दार्शनिक चिंतन का उपयोग करने की प्रक्रिया मात्र है तो कुछ ने शैक्षिक दर्शन की परिकल्पना, विशुद्ध शैक्षिक दृष्टिकोण से की है। उन्होंने प्रत्येक दार्शनिक विचार धारा यथा–आदर्शवाद, प्रकृतिवाद, प्रयोजनवाद, यथार्थवाद आदि के प्रत्येक विचार में तलाश करने का प्रयास किया है परन्तु शिक्षा का कोई विशेष दार्शनिक परिप्रेक्ष्य विकसित नहीं हो पाया है। जो कुछ है वह केवल शिक्षा के उद्देश्यों के विवेचन तक ही सीमित है। यद्यपि पिछले कई वर्षों से शिक्षा की विभिन्न समस्याओं पर दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार करने का प्रयत्न किया जा रहा है परन्तु शिक्षा का दर्शन क्या हो? कैसा हो? इसका कोई स्पष्ट और मूर्त रूप सामने नहीं आया है। अतः इस प्रकार के शोध की आवश्यकता है।

3. वर्तमान युग में शिक्षा दर्शन की जो स्थिति है वह या तो विशुद्ध दार्शनिक मतवाद का आधार लिये हुए है अर्थात अन्तिम सत्य तक पहुचना। अन्तिम सत्य तक पहुंचने का उद्देश्य तो निर्धारित अवश्य करते हैं परन्तु व्यावहारिक क्रिया को निर्देशित नहीं करते हैं या फिर इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था चल रही है जो समाज की एक पक्षीय संकल्पना (समाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि) पर आधारित है। अतः ऐसे शैक्षिक दर्शन की आवश्यकता है जो सभी पक्षों को लेकर चले एवं व्यावहारिक हो, इसलिए नवीन शोध की आवश्यकता है।

4. विचारकों ने दर्शन को शिक्षा का सैद्धातिक पक्ष कहा है। इसका प्रथम कार्य है। शिक्षा के उदृदश्यों का निर्घारण। शिक्षा केक्षेत्र में प्रथम साघ्य का स्थान है फिर साधनों का। समस्त शैक्षिक प्रावधानों एवं कार्यक्रम का निर्धारण इसी को ध्यान में रखते हुये किया जाता है। किन्तु आज विडम्बना यह है कि शैक्षिक विकास के नाम पर अनेक प्रयोजनाये एवं साधन हैं और लक्ष्य गौण हो गया हैं । भवन, सामग्री, शिक्षा सामग्री विधि को अधिक महत्व दिया जा रहा। शिक्षा अपने लक्ष्य से भटक गई है। शिक्षा दर्शन का मुख्य कार्य जीवन की विविधता में से चयनित संगत लक्ष्य की उपलब्धि एवं तदनुकूल साधनों के चयन हेतु निर्देश प्रदान करना है। ताकि शैक्षिक कार्यक्रम के माध्यम से राज्य की सांस्कृतिक तथा सामाजिक पराम्पराओं की सुरक्षा की जा सकें। अतः इस कार्य के लिये नवीन शोध की आवश्यकता है।

5. आज शिक्षा को न केवल मानव विकास का साधन माना जा रहा है बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय विकास का साधन भी माना जा रहा हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति सन् 1986 की समीक्षा समिति के द्वारा शिक्षा की भूमिका के संबंध में अपनी संस्तुति इस प्रकार

दी हैं – शिक्षा जागरूकता बढाने, अधिक खुला प्रश्न पूछने की क्षमता एवं साहस और समाधान की तलाश में दृढता का मार्ग प्रशस्त करती है। विकास के साधन के रूप में शिक्षा, वास्तव में सच्ची मुक्ति का अनुभव एवं मुक्त हाने की प्रकिया होनी चाहिये । भारतीय शिक्षा आयोग सन्1966 में तो प्रतिवेदन का शीर्षक शिक्षा और राष्ट्रीय विकास रखा था। वर्तमान समय में शिक्षा से दो अपेक्षायें की जा रही हैं – प्रथम – विचार धारा के अनुसार शिक्षा प्रक्रियाओं की व्यवस्था ऐसी बनाई जाये कि राष्ट्र की नतियों को सरल बनाने में सहायक हो। राज्य के आर्थिक व राजनैतिक उद्‌देश्य पूरे कर सके। दूसरी – विचार धारा के अनुसार वैज्ञानिक एवं तकनीकि प्रयोग द्वारा व्यक्ति का अधिकाधिक विकास किया जाये। ऐसी स्थिति में ऐसे शिक्षा दर्शन की आवश्यकता है जो व्यक्ति के निर्माण व विकास में नवीन प्रवृतियों का समुचित समावेश करते हुये आवश्यक पुरातन विचार धाराओं कों साथ लेकर चले। आज ऐसे दर्शन की आवश्यकता है जिससे समाज, राष्ट्र और व्यक्ति तीनों की आकांक्षाओं को प्रतिफलित करने की क्षमता हो, इस लिये नवीन शोध की आवश्यकता है।

6. भारत में अनेक शिक्षा संस्थायें कार्यरत हैं जैसे – विवेकानन्द शिक्षा दर्शन पर आधारित शारदा विद्यापीठ, अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी की शिक्षा पद्वति , सरस्वती शिक्षा मन्दिर, टेगोर दर्शन पर आधारित सस्थायें आदि परन्तु ये सभी पूर्णता भारतीय दर्शन पर आधारित नही हैं । अतः पूर्णतः भारतीय दर्शन पर आधारित शिक्षा व्यवस्था इस विषय पर शोध की आवश्यकता है।

7. शिक्षा दर्शन का कार्य नूतन एवं पुरातन व्यवस्था के मध्य समन्वय स्थापित करना है। नूतन के विकास हेतु एक स्थायी एवं स्थिर आधार अपेक्षित है। यह आधार पुरातन ही दे सकता है। पुरातन की संगत के अभाव में आज विद्यार्थी क्षुब्ध और एकागी है उसका अन्तिम सत्य, पृकति यहा तक कि मानव के साथ उसका संबंध विच्छेद हो गया है। फलतः वह हिन्सात्मक , उच्छ्श्रंखल एवं अहिंकारी हो गया है। भोग वादी संस्कृति, वैज्ञानिक एवं मशीनी सस्कृति ने उसे जकड लिया हैं वह सांस्कृतिक संकट के दौर से गुजर रहा है। शिक्षा का कर्तव्य है कि वह इस संकट को टाले। इस स्थिति से विद्यार्थी को निकालने के लिये शिक्षा को दर्शन की आवश्यकता है। एक ऐसा दर्शन तो नवीन व प्राचीन में उचित तालमेल व सन्तुलन बैठाते हुये विद्यार्थी को सन्मार्ग बताये सांख्य योग दर्शन के सिद्वान्त एवं विचार वर्तमान समस्या के निवारण में सहायक सिद्ध हो सकते हैं परन्तु प्रश्न उठता है कैसे? इसलिये शोध की आवश्यकता है।

8. वर्तमान में शिक्षा प्रणाली के बहुत से दोष बताये गये हैं जैसे यह गुणात्मक विकास नही करती ,बालक का सर्वोन्मुखी विकास नहीं करती है, नैतिक मूल्यों का विकास नही करती आदि। अणुव्रत अनुशास्ता तुलसी आचार्य महाप्रज्ञ का कहना है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली गलत नही हैं पर अधूरी है संतुलित नहीं है। संतुलित शिक्षा प्रणाली वह होती है जिसमें व्यक्तित्व के चारों आयाम – शारीरिक ,मानसिक ,बौद्धिक और भावात्मक संतुलित रूप से विकसित हों । आज की शिक्षा में इन चार आयाम में से दो पर ध्यान अधिक दिया जा रहा हैं ये दो आयाम है शारीरिक विकास और बौद्विक विकास शेष दो आयाम उपेक्षित पड़े है। बार –बार शिक्षा में आमूल–चूल परिवर्तन की मॉग की जाती है। अनेक विचार प्रस्तुत किये गये हैं एवं बहुत से प्रयास हुए है। परन्तु वे सब इस दिशा में सफल नहीं हुए हैं क्योकि उनका आधार पूर्णतः दर्शन नहीं रहा है। अतः उपयुक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि नये शोध की आवश्यकता है।

9. सांख्य कारिका की प्रथम कारिका में कहा गया है तीनों (आधिभौतिक ,आधिदैविक एवं आध्यात्मिक) दुःखों के अभिघात से मनुष्य को उन दुःखों को दूर करने वाले कारणों को जाने की इच्छा होती है। दुःखों को सर्वदा के लिये तथा निश्चित रूप से नष्ट करने के लिए दर्शन शास्त्र की आवश्यकता पडती है। शिक्षा दर्शन का व्यावहारिक रूप है। वह दुःखों को नष्ट करने के लिये माध्यम का कार्य करेगी। साख्यं की इस धारणा को व्यावहारिक रूप देने के लिये नये शोध की आवश्यकता है।

आज शिक्षा का जीवन कर प्रभाव नही है क्योकि उसकी प्रकिया पूरी नही हो पा रही है। शिक्षा की पूरी प्रकिया है–ग्रहण करो फिर उसका आसेवन करो जीवन में उतारो, जानो और प्रयोग करो। आज आसेवन की बात छुट गयी है। पन्त जली से पूछा गया –चित्त का निरोध कैसे होता है ? उन्होने कहा कि "चित्त निरोध के दो उपाय है – अभ्यास और वैराग्य अर्जुन ने कृष्ण से पूछा –मन का निरोध कैसे होता है ? श्री कृष्ण ने कहा – पार्थ अभ्यास और वैराग्य द्वारा मनोनिग्रह साधा जा सकता है। आज अभ्यासात्मक शिक्षा छूट गयी है। ज्ञानात्मक शिक्षा बच गयी है। शिक्षा का एक चरण टूट गया है वह लगडी हो गयी है। इसलिये शिक्षा का परिणाम आना चाहिये वही नही आ रहा हैं सबसे बड़ा काम है उस पिरामिड के आधार को सुदृढ़ बनाना ताकि यह इस शताब्दी के अन्त से पहले ही एक विलियन लोगों का लाभान्वित कर सके। यह सुनिश्चित करना भी उतना ही अधिक महत्वपूर्ण है। कि इस पिरामिड के शिखर पर जो भी हो वे विश्व में सर्वोतम में से हो अतीत में इन दोनों उद्‌देश्यों को हमारें सास्कृतिक स्रोत्रों में समुचित महत्व दिया गया। लेकिन विदेशी अधिपत्य और प्रभाव के कारण यह प्रकिया उल्टी हो गयी " ऐसी स्थिति में

स्पष्ट है। कि सांख्य हैं" दर्शन के सिद्वान्त शैक्षिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी हैं। अतः इसे आधार बनाकर शोध किया जा सकता है।

अन्ततः यह कह सकते हैं कि भारतीय शिक्षा को किसी भी दृष्टि से देखें तो शिक्षा के दार्शनिक आधार की आवश्यकता प्रतीत होती है। दर्शन, जीवन और शिक्षा में निकट का संबंध हैं इस बात को सभी स्वीकारते है। अतः भारत की शिक्षा का दर्शन कैसे हो ? निश्चित ही वह भारतीय ही होना चाहिये। अततः कहा जा सकता है। भारतीय दर्शन पर आधारित शिक्षा प्रणाली के लिये एक नवीन शोध की आवश्यकता है।

3.3.0 अध्ययन का कथन

उपर्युक्त कारणों से शोधार्थिनी ने वर्तमान अध्ययन का विषय निम्नानुसार चुना है :–

"वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सांख्य योग दर्शन और उसके शैक्षिक निहितार्थो का समालोचनात्मक अध्ययन'

3.4.0 अध्ययन में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ :–

प्रस्तुत शोध अध्ययन में विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन शब्दों के शाब्दिक अर्थ एवं शोध प्रबन्ध में लिये गये अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है:–

1– वर्तमान परिप्रेक्ष्य :–

इय प्रत्यय के अन्तर्गत आज वर्तमान समय (सन् 2005 से) में शैक्षिक विकास लक्ष्यों एवं संकल्पनाओं का समावेश किया गया है।

2 – सांख्य दर्शन :–

सांख्य दर्शन के आदि प्रणेता कपिल मुनि माने जाते हैं तथापि अन्य मनीषियों ने भी अपने बौद्धिक योगदान से इसके स्वरूप को निखारा है तथा उसकी दार्शनिक विषयवस्तु को समृद्व किया हैं किन्तु प्रस्तुत शोध में सांख्य दर्शन से आशय तथा परिभाषा कपिल पुनि द्वारा प्रतिपादित सांख्य दर्शन से ही हैं

3. निहितार्थ – इस शब्द उत्पात्ति जिन शब्द से हुई हैं उसका अर्थ इस प्रकार बताया जा सकता है।

निहित – स्थापित रखा हुआ ,अन्तर्हित ,प्रयुक्त

अर्थ – आशय ,प्रयोजन ,लक्ष्य ,उदेश्य ।

उपयुक्त शब्दों के आधार पर निहितार्थ का अर्थ इस रूप में लिया जा सकता है कि सम्बधित प्रसंग या उसके अंदर कही बात का अर्थ । सांख्य दर्शन में जो निहित हैं उसे जानने का प्रयास करना । जैसे प्रकृति, सृष्टि, पुरूष, मोक्ष आदि के सम्वंध में जो भी विचार व्यक्त किये गये हैं उन्हे जानने का प्रयास करना । वर्तमान समय में सांख्य दर्शन में दिये गये विचार कितने उपयोगी हैं कितने व्यावसायिक हैं इनका लाभ किस प्रकार लिया जा सकता हैं शोध प्रबन्ध में यह भी जानने का प्रयास किया गया हैं सांख्य शैक्षिक दृष्टि से कितना महत्वपूर्ण हैं कितना उपयोगी है। इसे जानने एवं व्यक्त करने का प्रयास इस शोध प्रवन्ध में किया गया है।

4. समालोचना –

समालोचना से तात्पर्य किसी पक्ष की निष्पक्ष भाव से गुण दोष विवेचना हैं समालोचनाओं से तात्पर्य सम्यक् रूपेण आलोचना से है। वर्तमान शोध में समालोचना से तात्पर्य वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सांख्य दर्शन के गुण तथा दोष विवेचना है।

3.5.0 अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत शोध अध्ययन के निम्न लिखित प्रासंगिक उद्देश्य निर्धारित किये गये है–

1. सांख्य दर्शन द्वारा प्रतिपादित विभिन्न सिद्वान्तों की विवेचना करना।
2. सांख्य दर्शन की मान्यताओं का वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विवेचना करना।
3. सांख्य दर्शन के शैक्षिक निहितार्थो का निर्धारण करना ।
4. सांख्य दर्शन के शैक्षिक निहितार्थो का वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करना।

3.6.0 अध्ययन का सीमांकन

शोधकत्री ने अपने शोध निष्कर्षो को अत्यधिक सारगर्मित बनाने की दृष्टि से साख्य दर्शन द्वारा प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों की दार्शनिक विवेचना तो की है तथापि इस विवेचना में केन्द्रीय भाव शिक्षा प्रक्रिया ही रही है। सांख्य की मान्यताओं को मनोविज्ञान की

दृष्टि से भी विवेचित करने का प्रयास किया गया हैं तथापि अन्य दार्शनिक मान्यताओं से विशद् तुलना वर्तमान शोध की सीमा से परे हैं ।

3.7.0. वर्तमान अध्ययन की महत्ता

शिक्षा जीवन के विकास की प्रकिया है। वह जीवन का साधन है। जीवन का साक्षात् स्वरूप है। व्यक्ति और समाज के जीवन में जो कुछ विकास हुआ है वह शिक्षा के द्वारा ही हुआ है।सभ्यता और संस्कृति के विकास के पीछे शिक्षा की प्रेरणा रही है। वास्तव में शिक्षा जीवन के विकास का पर्याय हैं। शिक्षा के माध्यम से प्रत्येक पीढ़ी के साथ की प्राचीन निधि का संरक्षण ,संवर्धन एवं स्थानान्तरण होता रहता है। भारत वर्ष भी अपने गर्भ में आधार भूत सत्यों को समेटे हुए है। सत्यों के आधार पर जीवन मूल्यों एवं आदर्शों का विकास हुआ है। भारतीय जीवन के ये सत्य ही भारतीय शिक्षा दर्शन के मूलाधार है। इन आधारों पर विकसित शिक्षा ही भारतीय जीवन का पर्याय बन सकती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् शिक्षा शास्त्रियों का ध्यान इस बात की ओर गया हैं कि भारतीय शिक्षा को किस प्रकार भारतीय बनाया जाय किन्तु अभी भी इस शिक्षा में बहुत कम कार्य हो पाये है। अतः प्रस्तुत शोध का यह कार्य हैं कि देश की सांस्कृतिक परम्परा के मूलभूत तत्वों को खोजा जाय और यह देखा जाय कि वर्तमान परिस्थिति में वह किस सीमा तक व्यवह्रत हो सकते है। " वर्तमान शोध प्रवंध द्वारा शिक्षा के सम्पूर्ण ढॉचे को भारतीय दृष्टिकोण से देखने और तत्पश्चात् बनाने का प्रयास किया हैं इसलिये शिक्षा के उद्देश्य विषयवस्तु ,शिक्षण विधि , मूल्यांकन आदि समस्त बिंदुओं पर विचार कर पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

वर्तमान समय में बार–2 यही सुनने में आता है कि भारत में भारतीय शिक्षा प्रणाली लागू हो परन्तु वह कैसी हो ? किस दर्शन पर आधारित हो ? पाठ्यचर्या कैसी हो ? आदि प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट रूप से नही दिये जाते है। परन्तु इस शोध प्रबंध द्वारा स्पष्टतः उपर्युक्त सभी प्रश्नों के उत्तर देने के प्रयास किया है। सांख्य दर्शन तथा उस पर आधारित शिक्षा पद्धति का स्वरूप कैसा होगा यह स्पष्टतया बताने का प्रयास किया जा सकता हैं ।

डॉ. अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने प्राचीन भारतीय शिक्षा के संदर्भ में लिखा हैं – " प्राचीन भारत में शिक्षा अन्तज्योति और शक्ति का स्रोत मानी जाती थी , जो शारीरिक ,मानसिक ,बौद्धिक व आत्मिक शक्तियों के संतुलित विकास से हमारे स्वभाव में परिवर्तन करती तथा उसे श्रेष्ठ बनाती हैं। इस प्रकार शिक्षा हमें इस योग्य बनाती हैं कि हम समाज

में एक विनीत और उपयोगी नागरिक के रूप में रह सकें । यह अप्रत्यक्ष रूप में हमें इहलोक व परलोक दोनों कें आध्यात्मिक विकास में सहयोग देती हैं। " प्रस्तुत शोध प्रबंध द्वारा भी यही सब कुछ जानने का एवं प्रस्तुत करने का प्रयास किया हैं। फलतः यह शिक्षक, शिक्षार्थी , पालक , प्रशासन, नीति निर्धारक आदि सभी के लिये महत्वपूर्ण सिद्व होगा।

सांख्य दर्शन पर आधारित शिक्षा प्रणाली मानव का संपूर्ण विकास करने में सक्षम हैं सांख्य दर्शन की प्रकृति व पुरूष की व्याख्या ,सत्कार्यवाद एवं सृष्टि का विकास क्रम का सिद्धान्त, मानसिक, बौद्धिक व आत्मिक विकास में पूर्ण सहयोग प्रदान करता हैं योग बालक को शरीरिक व मानसिक विकास की स्थितियॉ प्रदान करता हैं यौगिक क्रियायें बालक व मानव का स्वस्थ व सुनियोजित तरीके से पूर्ण विकास करती हैं इसकी प्रणालियॉ सरल एवं व्यावहारिक हैं अतः इस पर आधारित शिक्षा प्रणाली अत्यंत उपयोगी व लाभदायक है। उस पर आधारित शिक्षा प्रणाली बालक का शनैः—शनैः विकास कर उसे जीवन के अन्तिम लक्षण तक ले जाने में सहायक होगी और वह परमतत्व का ज्ञान प्राप्त करने में सफल होगा । आज संसार के अधिकतर विद्यालयों में साधनों की बात की जाती हैं हम साध्य भूलते जा रहे है। साधन का अपना कोई महत्व नही होता । इसका महत्व साध्य के संदर्भ में ही होता हैं आज शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षण – विधि , कुर्सी –मेज की व्यवस्था ,भवन , समय विभाग चक्र पाठ योजना आदि साधनों का महत्व साध्य से भी अधिक बढ़ गया है। परन्तु प्रस्तुत शोध प्रबंध द्वारा यह बताने का प्रयास किया गया हैं कि शिक्षार्थी को शिक्षा के उद्देश्यों की ओर उन्मुख करें जिससे कि केवल साधनो में ही शक्ति का अपव्यय न करें एवं वास्तविक उद्दश्यों को प्राप्त कर सकें । सांख्य दर्शन का व्यावहारिक पक्ष हैं – योग । योग ने लक्ष्यों तक पहुचने के लिये अष्टांग योग का मार्ग बताया है जिसे शिक्षा प्रकिया में अपनाया जा सकता है। इसमें मन को एकाग्र करने एवं चित्त को शुद्व करने के तरीके बताये गये है इन पर चलकर आज का विद्यार्थी भी निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है।

प्रत्येक शिक्षक की एक कामना होती है कि वह अपने कार्य में सफलता प्राप्त करे। कार्य में सफलता कार्य के स्वरूप पर निर्भर रहती है। शिक्षक अपने कार्य में तभी सफल होता है जब वह शिक्षण के स्वरूप को ठीक से पहचाने। पाश्चात्य शिक्षा की अपेक्षा भारतीय शिक्षा प्रणाली का स्वरूप उसे वास्तविक शिक्षक बनाता है क्योंकि आज प्रत्येक शिक्षक किसी विशेष विषय का अध्यापन करता है और व्याख्याता, प्रवक्ता, प्राध्यापक आदि कहने में गर्व का अनुभव करता है परन्तु वास्तविकता यह है कि अध्यापक को जीवन का शिक्षक होना चाहिये न किसी विषय का। शिक्षक का शिक्षकत्व इसी में है कि वह बालक के

संपूर्ण जीवन के रहस्यों से परिचित हो और जीवन के संदर्भ में अपने विषय को संपूर्ण ज्ञान की एक शाखा के रूप में पढ़ाये। तभी वह सफल शिक्षक हो सकता है। सांख्य दर्शन पर आधारित शिक्षा प्रणाली उसे ऐसा शिक्षक बनाने में महत्वपूर्ण योगदान देगीं सफल शिक्षक बनने के लिये, शिक्षक को शिक्षा के उद्देश्य, उद्देश्य प्राप्ति के साधन, शिक्षण विधियों, शैक्षिक सिद्धान्तों का ज्ञान होना आवश्यक है। इन सबका ज्ञान सांख्य दर्शन उपयुक्त तरीके से करवाता है। उदाहरण स्वरूप सांख्य बताता है – प्रमाण तीन हैं – प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द। अतः अध्यापन में भी इनका सहारा लेना पड़ेंगा। तभी वह बालक को जागृत, ईमानदार, निष्ठावान आदि गुणों से युक्त बना सकेगा। जॉन रस्क ने ठीक ही कहा है "जो शिक्षक दर्शन की उपेक्षा करते हैं उन्हें इस उपेक्षा का दण्ड सामन्जस्यता के अभाव में अपने प्रयत्न को प्रभावहीन बनाने के रूप में भुगतान पड़ता है।"

शिक्षा शास्त्री, पाठ्यक्रम निर्माता, प्रशासक या प्रधानाचार्य आदि सभी के लिए यह शोध एक वैचारिक आधार प्रदान करेगा। यथा–शिक्षा के उद्देश्य बताते हैं कि 'बालक का सर्वागीण विकास', वह इस शिक्षा प्रणाली से संभव होगा। इसी प्रकार शिक्षण विधियॉ या मूल्यांकन या विषयवस्तु भी मानक सिद्धान्तों पर आधारित बनाये जा सकते हैं।

पाठ्यक्रम निर्माता के सामने कुछ सिद्धान्त होते हैं जैसे रूचि का सिद्धान्त, स्तरानुकूल, पाठ्यक्रम लचीला होना आदि। सांख्य दर्शन में इन सभी को स्थान है बाल्यावस्था, शैशवावस्था तथा किशोरावस्था की रूचियों, स्तरों को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम बनाया जा सकता है क्योकि मुख्य विषय प्रकृति और उसके पदार्थ हैं इसे स्तरानुकूल तथा रूचिकर बनाया जा सकता है। इसमें सहयोग प्रदान करेगा सांख्य दर्शन का त्रिगुण का सिद्धान्त। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार के प्रत्येक पदार्थ में सत्व, रजस् एवं तमस् तीन गुण विद्यमान रहते हैं इन्हीं गुणों की अधिकता अथवा न्यूनता के कारण ही परिवर्तन होते हैं तथा विभिन्नतायें दृष्टिगत होती हैं। ज्ञान प्राप्त करने वाला 'बालक' भी त्रिगुणात्मक है। तीन गुणों के कारण ही उसकी रूचि एवं क्षमताओं में भी विभिन्नता होती है। अतः पाठ्यक्रम निर्माता, प्रशासक या शिक्षक सभी को यह सिद्धान्त लाभ प्रदान कर सकता है। और पाठ्यक्रम निर्माण में मार्ग दर्शन प्रदान कर सकंता है। पाठ्यक्रम निर्माण के विभिनन आधार जैसे– दार्शनिक आधार, मनोवैज्ञानिक आधार आदि सभी इससे पूरे किये जा सकते हैं एवं विभिन्न आधारों में सामन्जस्य भी रखा जा सकता है। अतः यह शोध प्रबंध इस दिशा में सहायता करेगा।

एक संस्था प्रधान या प्रधानाचार्य की यह अपेक्षा होती है कि उसकी संस्था में बच्चे हॅसते–हॅसते खुशी से आयें। उसकी अपेक्षा होती है कि गतिविधि आधारित शिक्षण हो,

शिक्षक व शिक्षार्थी दोनों ही अनुशासित व चरित्रवान हो, यह अपेक्षायें सांख्य दर्शन पर आधारित शिक्षा व्यवस्था कर सकती है क्योंकि इसमें योग एक प्रक्रिया का नाम है जो शरीर में स्फूर्ति, तथा मन को शक्ति देता है। जबकि पश्चिम से आया "योगा" थकान देता है। तन, मन और प्राण में नयी ऊर्जा और सात्विक चेतना नहीं भरता। जबकि पतंजली का योग दर्शन तन मन सभी को स्वस्थ रखता है और शिक्षार्थी को आनन्दमय वातावरण उपस्थित कराता है ताकि बालक तनाव रहित हो, रूचि और स्तर के अनुसार शिक्षा ग्रहण कर सके। योग से शिक्षक भी स्वस्थ और स्फूर्तिवान रहेंगे एवं शाला अनुशासित रहेगी।

आजकल शिक्षा में प्रकृति विरूद्ध मार्ग अपनाया जा रहा है। बाल्यकाल मुक्तावस्था होती है तथापि आज उसी अवस्था में बच्चे पर सर्वाधिक बोझ है। और तरूणावस्था में कॉलेज में पहुँचने पर विद्यार्थी बोझ उठाने लायक बनता है तब उस पर प्रायः कुछ भी भार नहीं रह जाता। यह नीति बालक में रूग्णता व द्वंद तथा युवक में उच्छृंखलता लाने का काम करती है। हमारे शिक्षा शास्त्री कॉलेज से पहले ही विद्यार्थियों को वैज्ञानिक, दार्शनिक और अर्थशास्त्री बना डालने पर तुले हैं जबकि स्पष्ट है कि प्रारंभिक स्तर पर बार–बार दोहराकर ज्ञान का बोझ बढ़ाने के बजाय परिपक्वावस्था में यह सारा ज्ञान अपेक्षाकृत बहुत कम समय में आसानी से ग्रहण कर सकता है। इन सब कमियों को सांख्य दर्शन की शिक्षा पद्धति के द्वारा दूर किया जा सकता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल में दी जा रही शिक्षा पद्धति के परिणाम स्वरूप भारत उन्नति के सर्वोच्च पथ पर चल रहा था विश्व का गुरू माना जाता था। आसन, ध्यान, प्राणायाम एवं ब्रह्मचर्य की भाव भूमि में धर्म, तर्क, दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित आदि के माध्यम से एक ऐसी सुदृढ़ शिक्षा प्रणाली विकसित हुई थी जिसने सर्वगुण सम्पन्न मानव का निर्माण कर भारत राष्ट्र को चर्मोत्कर्ष पर पहुँचा कर दिखाया था। वास्तव में स्वदेशी शिक्षा प्रणाली ही सर्वकाल में समीचीन है।

प्राचीन दर्शन पर आधारित शिक्षण व्यवस्था को लेकर एक यह शंका व्यक्त की जाती है कि यह दर्शन वर्तमान समय की मॉग जैसे तकनीकी शिक्षा एवं वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग आदि को पूरा नहीं कर सकता हे। परन्तु सांख्य दर्शन की यह विशेषता है कि यह कल्पनाशीलता के स्थान पर तर्क एवं विज्ञान को महत्व देता है। सांख्य दर्शन का कार्य कारण सिद्धान्त पूर्णतयाः विज्ञान के तथ्यों व तर्को पर आधारित है। इस दर्शन पर आधारित शिक्षा व्यवस्था में नवीनता व प्राचीनता का अद्‌भुत समन्वय किया जा सकता है। प्राचीन आदर्शो की भी शिक्षा दी जा सकती है। नैतिकता एवं अनुशासन पर चलना सिखाना जा

सकता है एवं आधुनिक समय की शिक्षा दी जा सकती है। इस दृष्टि से इस दर्शन का बहुत महत्व है।

वर्तमान समय में योग का महत्व बढ़ गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 की समिति 1990 ने इस संबंध में अपना महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किया है – शरीर और मन के एकीकृत विकास के साधन के रूप में योग शिक्षा पर विशेष बल दिया जायेगा। सभी विद्यालयों में योग शिक्षा को प्रारम्भ करने के प्रयास किये जायेंगे। इस उद्देश्य से इसे शिक्षक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में लागू किया जायेगा। इस प्रकार शिक्षा में भी इसे उचित स्थान देने की बात कहीं जाती हैं परन्तु यह कैसे प्रयुक्त हो ? इस संबंध में स्पष्ट योजना नहीं बताई जाती । अतः किस स्तर पर किस प्रकार का योग रखा जाय इसकी स्पष्ट योजना बनाने में यह शोध सहायक होगा। अनेक स्वायत्त संस्थायें प्राचान दर्शन पर आधारित शिक्षा व्यवस्थाएं करने का प्रयास कर रही है उनके लिये भी यह शोध महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

स्वतंत्रता के बाद से भारतीय शिक्षा प्रणाली के अनेक दोष बताये गये हैं परन्तु दोष दूर कैसे हो ? इसके व्यावहारिक उपाय बहुत कम बतायें गये हैं यह प्रबंध दोषों को दूर करने में सहायता प्रदान करेगा। बालक का चारित्रिक विकास कैसे हो ?नैतिक शिक्षा कैसे दी जाये ? आदि प्रश्नों का हल खोजा जा सकता हैं उपयुक्त विवचन से स्पष्ट हैं कि प्रस्तुत शोध प्रबंध शिक्षा –जगत के लिये नवीन प्रयास है। आशा है शिक्षा से जुड़े हुए सभी व्यक्तियों के लिये लाभदायक सिद्व होगा।

3.8.0 अध्ययन की विधि

विधि अनुसंधान किया को परिचालित करने का एक ढंग हैं जो समस्या की प्रकृति द्वारा निर्धारित होती हैं। ब्राऊंडी (1963) ने विधि की परिभाषा इस प्रकार दी है– "विधि कार्यो के अनुक्रम की नियमित संरचना को निर्देश करता है जो साधारणतया दिशा के द्वारा निर्दिष्ट होता है। "शैक्षिक अनुसंधान के क्षेत्र में विविध प्रकार की समस्यायें होती हैं इसलिये अनेक प्रकार की शोध विधियों को प्रयुक्त किया जाता है। यथा – सर्वेक्षण विधि, प्रयोगात्मक विधि, ऐतिहासिक विधि एवं दार्शनिक विधि आदि । चूंकि वर्तमान अध्ययन का विषय दर्शन से संबंधित हैं इसलिये शोधार्थिनी ने अध्ययन हतु दार्शनिक विधि को चुना है।

एम.वर्मा विधि के निर्धारण में पाठ्यवस्तु की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हैं उन्होनें पाठ्य – वस्तु को तीन भागों में बॉटा हैं और उसी के अनुसार विधियॉ भी बताई हैं जो इस प्रकार हैं

1. सैद्धांतिक पाठ्यवस्तु – सर्वेक्षण, प्रयोगात्मक विधि।
2. तथ्यात्मक पाठ्यवस्तु – ऐतिहासिक ,व्यक्तिवृत्त अध्ययन एवं जननिक पद्धति।
3. व्यावहारिक पाठ्यवस्तु – कियात्मक अनुसंधान

जार्ज जे.मुले ने अनुसंधान विधियों को तीन मौलिक रूपों में विभाजित किया हैं

1. सर्वेक्षण 2.ऐतिहासिक 3. प्रयोगात्मक शोधविधियॉ । वैसे अनुसंधान की प्रमुख चार विधियॉ प्रचलित हैं इसका विशद विवेचन इस प्रकार किया जा सकता हैं –

सर्वेक्षण विधि – इस विधि द्वारा किसी व्यक्ति ,समूह संस्था या विचार के बारे में मत या स्थिति जानने की कोशिश की जाती है। सामान्य सर्वेक्षण, वर्तमान में क्या रूप है इससे संबधित है। दूसरे शब्दों में कहें तो सामान्य सर्वेक्षण में परिस्थितियों या संबंध जो वास्तव में वर्तमान है, अभ्यास जो चालू है, प्रकिया जो चल रही है, अनुभव जो किये जा रहे हैं अथवा नवीन दिशायें जो विकसित हो रही हैं उन्ही से इसका संबंध है लेकिन बहुत से सर्वेक्षण केवल स्थितियों के विवरण की सीमा से बाहर के भी होते हैं अतः इस विधि को चार संवर्गो में विभाजित किया जा सकता हैं – 1. विवरणात्मक 2. विश्लेषणात्मक 3. विद्यालय सर्वेक्षण एवं 4. सामाजिक सर्वेक्षण । इनके द्वारा अन्य प्रकार के सर्वेक्षण किये जाते हैं।

प्रयोगात्मक शोध विधि – प्रयोगात्मक शोध विधि एक वैज्ञानिक विधि है। इसके अन्तर्गत अनुसंधान कर्ता कुछ नई खोज करने का इच्छुक रहता है। अनुसंधान कर्ता एक वस्तु या कारक का दूसरे पर प्रभाव जानते है। 'फ़ेस्टीजर के शब्दों में '' प्रयोग का मूलाधार स्वतंत्र चर में परिवर्तन का आश्रित चर पर पडने वाले प्रभाव का अध्ययन हैं'' वास्तव में प्रयोग किसी तथ्य के निरीक्षण और इन निरीक्षण के सामान्यीकरण से संबंधित हैं और उनकी आंतरिक वैधता की जॉच भी संभव हैं प्रयोग इस तरह की स्थितियॉ निर्मित करता हैं कि उन दशाओं में सुधार करे जिनका निरीक्षण किया गया है ताकि किसी निश्चित नतीजे पर पहुचा जा सके।

ऐतिहासिक विधि –ऐतिहासिक समस्याओं के अन्वेषण में वैज्ञानिक विधि का प्रयोग ऐतिहासिक अनुसंधान हैं इसमें समस्या की सीमाये एवं पहिचान ,परिकल्पना का निर्माण ,आंकडों का संग्रह, संगठन, सम्यापन, सप्रमाणता एवं विश्लेषण परिकल्पनां की जॉच एंव ऐतिहासिक विवरण का आलेख निहित होता है। ऐतिहासिक अध्ययन एक ऐसा ज्ञान हैं जो कुछ प्राचीन शैक्षिक अभ्यासों के प्रभावों से संबंधित आवश्यक सूचनायें देता हैं तथा इन

पुराने अनुभव के मूल्यांकन के आधार पर वर्तमान में की जाने वाली क्रियाओं के लिये कार्यक्रमों का सुझाव दे सकता हैं।

दार्शनिक विधि– शोध विधि के क्षेत्र में दो विधियों का प्रयोग किया जाता हैं – परिणात्मक एवं गुणात्मक । परिमाणात्मक विधि का प्रयोग वैज्ञानिक शोध के क्षेत्र में किया जाता है। गुणात्मक शोध विधि का प्रयोग ऐतिहासिक व दार्शनिक शोध में किया जाता है। दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में अधिकतम अनुसन्धान दार्शनिक विधि द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। दार्शनिक विधि का मुख्य लक्ष्य नवीन सत्यों एवं मूल्यों का प्रतिस्थापन करना है। यह उद्दश्य तार्किक चिन्तन से प्राप्त किया जाता है। इस विधि में उपलब्ध साहित्य तथा सूचनाओं का सहारा लिया जाता है एवं तार्किक चिंतन के आधार पर वास्तविकता की खोज की जाती है। जिसमें अनुभवों एवं अनुभूतियों का विश्लेषण भी किया जाता है। इस प्रकार के शोध कार्यो में अन्तिम लक्ष्यों को महत्व दिया जाता है दार्शनिक विधि में चिन्तन प्रक्रिया पूर्ण स्वतन्त्र होती है। इसमें उच्च स्तरीय प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है। जैसे – क्यों और क्या ? दार्शनिक विधि में मानव मस्तिष्क तथा उनकी चित्त प्रकिया के आधार पर तथ्यों के सत्य का प्रतिपादन किया जाता है। इसके अन्तर्गत मानवता ,मानवीय जीवन और संपूर्ण मानवीय व्यवहार को महत्व देते हैं दार्शनिक शोध शोध में निरंतरता तथा स्थिरता वैज्ञानिक विधि की अपेक्षा अधिक होती हैं दार्शनिक शोध में किसी विशिष्ट प्रविधि का प्रयोग नही किया जाता है। शोध कर्ता तथ्यों का विवेचन अपने दृष्टिकोण से करता है। कुछ विचारक पुस्तकालय विधि को दार्शनिक विधि की एक प्रविधि बताते है तथा कुछ पुस्तकालय विधि को स्वतत्र विधि मानते हैं वैसे देखा जाय तो पुस्तकालय का उपयोग सभी प्रकार के शोधों में होता है दार्शनिक व ऐतिहासिक शोधों में पुस्ताकालय का अधिक प्रयोग है इसलिये आजकल अधिकांश विद्वान पुस्तकालय विधि को दार्शनिक के अन्तर्गत ही स्थान देते हैं। दार्शनिक विधि के अन्तर्गत अध्ययन चारों प्रकारों से किया जाता है –

1. किसी एक दार्शनिक के विचारों का अध्ययन ।
2. किन्ही दो दर्शनों अथवा दार्शनिक विचार धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन ।
3. एक विशेष दर्शन के निहितार्थों का अध्ययन ।
4. किसी प्रकिया या व्यवस्था को किसी दर्शन या सोच के अनुसार समझना ।

जैसे कि स्पष्ट किया जा चुका है कि वर्तमान अध्ययन हेतु दार्शनिक विधि को चुना गया है। इसी प्रकार अध्ययन के उपर्युक्त प्रकारों में से वर्तमान अध्ययन के विषय का सम्बन्ध अन्तिम दो प्रकारों से है। प्रस्तुत शोध में सांख्य दर्शन के शैक्षिक निहितार्थो का

अध्ययन किया गया है एवं वर्तमान समय में इस दर्शन की प्रासंगिकता क्या होगी? इसे भी बताने का एवं जानने का प्रयास किया गया है।

दार्शनिक विधि की प्रविधियॉ – दार्शनिक विधि की कोई प्रविधि निश्चित नही हैं कई प्रविधियों का प्रयोग किया जा सकता हैं मुख्यतः चार प्रकार की प्रविधियॉ प्रचलित हैं

1. विश्लेषणात्मक अध्ययन – विश्लेषण का शाब्दिक अर्थ हैं – किसी वस्तु व्यक्ति अथवा विचार को उसके संरचित घटकों में तोड़ना। दूसरे शब्दों में किसी वस्तु, विचार को उसके घटकों में तोडकर बारी –बारी से प्रत्येक धटक का अध्ययन करना।

2. तार्किक विधि–इसके अन्तर्गत अध्ययन में तर्क महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं शोध कर्ता अपने तर्को द्वारा अपनी बात स्पष्ट करता है।अथवा विभिन्न तर्को के माध्यम से किसी निष्कर्ष पर पहुॅचने का प्रयास करता है।

3. तार्किक विश्लेषण – तार्किक विश्लेषण में प्रधानता मूलतः तर्क की रहती हें ये तर्क शोध कर्ता के कथन के आधार होते है। कुछ तर्क निष्कर्ष कथन के आधार भी होते है। इस विधि में तर्को का विश्लेषण कर उनकी सत्यता सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है।

4. संश्लेषणात्मक विधि – एक निमार्णकारी दृष्टिकोण को सामने रखते हुए विभिन्न दृष्टिकोणों, विचार धाराओं आदि को मिश्रित रूप देने का प्रयास करना ही संश्लेषणात्मक विधि है। इस विधि में विभिन्न विचारों ,विचारधाराओं का अध्ययन कर उन्हे आपस में जोडते हुए नवीन विचार प्रस्तुत किया जाता है।

वर्तमान अध्ययन में अन्तिम दो प्रकार की प्रविधियों का प्रयोग किया गया है। सांख्य दर्शन के सिद्धांतों का तार्किक विश्लेषण किया गया है। तदुपरान्त प्राचीन भारतीय शिक्षण प्रणाली एवं वर्तमान शिक्षा प्रणाली से उसे जोडते हुये नवीन शैक्षिक ढॉचे की संकल्पना प्रस्तुत की गई है।

2.9.0 वर्तमान अध्ययन के चरण

वर्तमान अध्ययन के मूलतः चार चरण हैं –

1. प्रथम चरण के अतंर्गत विषय से संबंधित साहित्य का अध्ययन किया गया है। यह अध्ययन दर्शन एवं शिक्षा के क्षेत्र से संबंधित साहित्य का किया गया है। भारतीय

दर्शन से संबंधित साहित्य के अंतर्गत मुख्यतः प्राचीन भारतीय दर्शन से सम्बन्धित साहित्य का अध्ययन किया गया है। जिसके अंतर्गत दर्शन का अर्थ, दर्शनों का वर्गीकरण एवं सांख्य दर्शन से संबंधित पुस्तको का अध्ययन किया गया है। दर्शन से संबंधित साहित्य के अतिरिक्त संबंधित पुस्तकें एवं शिक्षा के विभिन्न क्षेत्र एवं शिक्षा की समस्याओं से संबंधित साहित्य का भी अध्ययन किया गया है।

2. दूसरे चरण के अंतर्गत साख्य दर्शन के शैक्षिक निहितार्थ खोजे गये हैं सांख्य दर्शन में निहित शैक्षिक तत्व खोजे गये हैं

3. तृतीय एवं अन्तिम चरण में सांख्य दर्शन के निहितार्थो की शैक्षिक समालोचना की गयी है।

****

अध्याय चतुर्थ

सांख्य दर्शन का परिचय, स्वरुप एवं सिद्धान्त

4.0.0 सांख्य दर्शन का परिचय, स्वरूप एवं सिद्धांत

अतीत से लेकर अब तक जगत के मूल या तात्विक स्वरूप को जानने के लिये अनवरत रूप से प्रयत्न चलता रहा है किन्तु उसके संबंध में अभी तक मतैक्य स्थापित नहीं हो सका है। इस संबंध में भारत के मनीषी एवं तत्व चिन्तकों ने अनेक व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं जिनमें कुछ न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध एवं जैन आदि विभिन्न दर्शनों के रूप में आज भी उपलब्ध है प्रकृत अध्याय में सांख्य दर्शन के स्वरूप तथा सिद्धांतों का विवेचन किया जा रहा है।

4.1.0. सांख्य दर्शन का परिचय

'सांख्य' भारतीय दर्शनों में अत्यंत प्राचीन एवं महत्वपूर्ण माना जाता है इसके प्रवर्तक 'कपिल' मुनि है।

सांख्य दर्शन के नामकरण एवं उद्भव आदि के संबंधन में विद्वानों में विभिन्न मत प्रचलित हैं।

4.1.1 सांख्य का नामकरण

इस नाम की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है – सांख्य शब्द समपूर्वक "चक्षिङ्; ख्यात्र्" (ख्यात्र्) धातु से बना है। इसका अर्थ है – सम्यक् ख्यानम् अर्थात सम्यक् विचार"।[1] इसी को विवेक बुद्धि कहा है। इसीलिये संख्यावान को पंडित का पर्यायवाची, कोशकारों ने कहा है। इस विवेक बुद्धि की प्राप्ति सांख्य के दर्शन के विषयों को जानने से मिलती है इसीलिये इसे सांख्य दर्शन कहते हैं।[2] श्री मद्भगवत् गीता में इसी अर्थ में सांख्य शब्द का प्रयोग किया गया है। दूसरी व्याख्या इस प्रकार है – समपूर्वक ख्या (प्रकथने) धातु से अङ; प्रत्यय और टाप होकर संख्या बताता है जिसका अर्थ है गणना। उसी संख्या शब्द से तस्येदम से तद्धित् अण प्रत्यय होकर सांख्य पद निष्पन्न होता है। जिसका शाब्दिक अर्थ है गणन से सम्बन्धि ात या गणना से जानने योग्य। संभवतः इसीलिये इस दर्शन का नाम सांख्य पड़ा, इसमें तत्वों की गत्यात्मक संख्या को विशेष महत्व दिया गया है।[3] महाभारत में यह कथन अनेकत्र उद्धृत हुआ है। कि यह प्रकृति के 24 तत्वों का निरूपण कर उनकी ठीक–ठीक संख्या का निर्धारण करता है।[4] डॉ. राधाकृष्णन[5] के अनुसार "इस दर्शन का नाम सांख्य इसलिये हुआ क्योंकि यह सैद्धांतिक अनुसंधान के द्वारा अनेक परिणामों पर पहुंचता है। कतिपय विद्वानों के अनुसार सांख्य नाम संख्या के कारण हुआ जो उचित ही है।" भागवत् में इस दर्शन को "तत्व संख्याता कहा गया है।[6] इस प्रकार इस दर्शन के नामकरण के संबंध में पृथक्–पृथक् मत प्रस्तुत किये गये

हैं, कुछ ने तत्व विचार के आधार पर तथा कुछ ने तत्वों की संख्या के आधार पर इसे सांख्य कहा है।

4.1.2. सांख्य दर्शन के मूल स्रोत

सांख्य शास्त्र का अध्ययन, अनुशीलन अनादिकाल से होता आया है, क्योंकि वेद उपनिषद् से लेकर साहित्य तथा चिकित्सा शास्त्र के ग्रंथो में भी सांख्य शास्त्र के विषयों का किसी न किसी प्रसंग में, उल्लेख मिलता ही है। गीता, महाभारत, भागवत् एवं पुराणों में भी अनेक रूपों में तथा अनेक प्रकार से सांख्य की चर्चा है। उदाहरण स्वरूप गीता[7] में श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं – इस मनुष्य लोक में मैंने पुरातन काल में (कपिल मुनि और हिरण्य गर्भ रूप में) दो निष्ठायें बतलाई हैं सांख्य योगियों की निष्ठा ज्ञान योग से होती है और योगियों की निष्ठा निष्काम कर्म से होती है। महाभारत[8] में कहा गया है सांख्य के वक्ता परमऋषि कपिल हैं और योग के वक्ता हिरण्य गर्भ हैं।

4.1.3. सांख्य दर्शन का उद्‌भव

वेद तथा उपनिषदों में सांख्य के तत्वों की बीज रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे पुरूष केवल साक्षी या दृष्टा है कर्ता नहीं – इत्यादि भाव वृहदारण्यक[9] उपनिषद् में मिलते हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद[10] में सांख्य के भावी अव्यक्त का संकेत मिलता है। श्वेताश्वर उपनिषद् को तो सांख्य उपनिषद् ही माना जाता है।[11] सांख्य[12] और कपिल[13] नाम इसमें पहली बार आये हैं।

डॉ. रामकृष्ण आयार्च ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है – वैदिक विचार धारा जब बहुदेववाद से विकसित होते होते दार्शनिक तत्ववाद तक पहुंच चुकी थी और उसके फलस्वरूप तत्व चिन्तन के क्षेत्र में और प्रगति हुई तो तत्व चिन्तकों का एक वर्ग जिस निष्कर्ष पर पहुँचा वह औपनिषदीय दर्शन या वेदान्त दर्शन के रूप में उपस्थित हुआ और दूसरा वर्ग जिस निष्कर्ष पर पहुचा वह सांख्य दर्शन के रूप में उपस्थित हुआ।[14] एम. हिरियन्ना[15] का मत है कि इस दर्शन का प्रांरम्भ जैसे भी हुआ हो, इसके इतिहास के एक चरण में इसके अनुयायी इसे उपनिषदों से उद्‌भूत मानते थे।

इससे यही प्रकट होता है कि सांख्य का स्रोत अंगुलि निर्देश से भले ही न हो परन्तु विकीर्ण रूप से सांख्य विषयक विचारों का उल्लेख वैदिक वाङ्मय एवं महाभारत में मिलता है।

4.1.4. सांख्य दर्शन के प्रमुख आचार्य एवं उनकी रचनाएं

सांख्य दर्शन के आदि प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। यद्यपि महाभारत, भागवत् इत्यादि प्राचीन ग्रंथों में इनका विविध एवं परस्पर विरूद्ध वर्णन प्राप्त होने के कारण अनेक विद्वान इनके ऐतिहासिक व्यक्ति होने में भी संदेह करते हैं।[16] महाभारत में दो प्रकार के वर्णन मिलते हैं – एक[17] के अनुसार वे ब्रह्मा के पुत्र हैं तथा दूसरे[18] के अनुसार अग्नि के अवतार हैं। महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ एवं डॉ. हरदत्त शर्मा ने भी यही निष्कर्ष निकाला है कि कपिल के ऐतिहासिक व्यक्ति होने में सबल प्रमाण नहीं मिलता।[19] परन्तु अनेक विद्वानों का यही मत है कि सांख्य दर्शन के रचयिता का नाम कपिल मुनि है। उपनिषदों में संकेतिक सिद्धांतों का शास्त्रीय विवेचन सबसे पहले इन्होंने किया था। उपनिषत्कालीन सांख्य वेदान्त के साथ मिश्रित था उसे पृथक् कर स्वतंत्र दर्शन के महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है।[20] गीता में भगवान कृष्ण ने अपने को सिद्धों में कपिल मुनि कहा है।[21] आचार्य पंचशिख ने एक सूत्र[22] मे कपिल को निर्माण काय धारण कर आसुरि को सांख्य तंत्र के उपदेश देने की घटना का उल्लेख किया है। आचार्य कपिल को रचनाओं का पता चलता है – तत्व समास और सांख्य सूत्र। तत्व–समास केवल 22 छोटे सूत्रों का समुच्चय मात्र है। सांख्य सूत्र में 6 अध्याय हैं और सूत्र संख्या 537 है। तत्व समास को अनेक विद्वान सांख्य शास्त्र का प्राचीनतम ग्रंथ मानते हैं।[23] परन्तु कई विद्वान इन्हें कपिलकृत नहीं मानते हैं। अतः निश्चय पूर्वक यह कहना कठिन है कि उपलब्ध सांख्य कपिल की कृति है या नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि कपिल ने सांख्य दर्शन के रहस्यों को सूत्र रूप में प्रतिपादित किया है।

आसुरि

कपिल के शिष्य आसुरि की भी ऐतिहासिकता के विषय में मतभेद हैं। पंडित गोपीनाथ कविराज इन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं।[24] जबकि कीथ[25] इन्हें ऐतिहासिक पुरूष मानने के विरूद्ध हैं। पुराणों में तथा अन्य दार्शनिक ग्रंथों में लिखा है कि कपिल के साक्षात् शिष्य आसुरि थे।[26] इनकी रचना के संबंध में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

पंचशिख

आसुरि के प्रथम शिष्य पंचशिख थे। पंचशिख की ऐतिहासिकता का विरोध किसी ने भी नहीं किया था। सांख्य दर्शन को सुसंबद्ध और प्रतिष्ठित करने वाले

प्रथम आचार्य हैं। इन्होंने सांख्य दर्शन पर एक सूत्र ग्रंथ (षष्टितंत्र) लिखा था। ग्रंथ उपलब्ध नहीं है परन्तु उनके नाम से कतिपय सूत्रों का उल्लेख मिलता है। योग भाष्य में आठ सूत्रों का उल्लेख है।[27] विन्ध्यवास एवं विज्ञानभिक्षु भी सांख्य के प्रसिद्ध आचार्य थे।

ईश्वरकृष्ण

पंचशिख के अनन्तर ईश्वरकृष्ण सांख्य दर्शन के लोकप्रिय आचार्य हुए, जिनका ग्रंथ 'सांख्य–कारिका' सांख्य के तत्वों का वर्णन करने वाला गौरवशाली ग्रंथ है। इसको 'कनक सप्तति', 'सांख्य सप्तति', 'सुवर्ण सप्तति' आदि भी लोग कहते हैं।[28] इसके ऊपर अनेक टीकायें मिलती हैं। जिनमें से मुख्य है – माठर वृत्ति, गौडपाद भाष्य, युक्त दीपिका, वाचस्पति मिश्र की तत्व कौमुदी, जयमंगला एवं चन्द्रिका आदि। उपर्युक्त उल्लिखित ग्रंथों में से 'सांख्य कारिका' को सांख्य का प्रमाणिक ग्रंथ माना गया है। अतः इसको यहां अध्ययन के लिये प्रमुख आधार बनाया गया है।

4.2.0 सांख्य दर्शन का स्वरूप

सांख्य दर्शन भारतीय दर्शन की प्राचीन विचारधारा को प्रकट करता है इस दर्शन के मूलभूत सिद्धांत प्राचीन भारत के साहित्य में मिलते हैं। वेद, उपनिषद्, गीता, महाभारत, पुराणों आदि सभी में सांख्य के सिद्धांतों का उल्लेख हुआ है अतः सांख्य का स्वरूप जानने के लिये इन प्राचीन ग्रंथों में उल्लिखित सांख्य सिद्धांत को जानना आवश्यक है। अतः अत्यन्त संक्षेप में उक्त साहित्य में वर्णित सांख्य सिद्धातों को निम्नानुसार स्पष्ट किया जा सकता है।

4.2.1 वेदों, उपनिषदों में सांख्य सिद्धांत

सांख्य में सिद्धांत बीज रूप में वेद तथा उपनिषदों में मिलते हैं यथा– ऋग्वेद में सांख्य के भावी अव्यक्त का संकेत मिलता है।[29] पुरूष के संबंध में ऋग्वेद में कहा गया है उसके तीन पाद, अमृत स्वरूप अपने प्रकाश में है। सारे भूत इसका एक पाद हैं। उपनिषदों में भी सांख्य के मूलतत्व सूक्ष्म रूप में मिलते हैं।[30] बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कठ, एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों में सांख्य के बुद्धि, अव्यक्त, पुरूष इत्यादि तत्व स्पष्ट रूप से उल्लेखित हैं।[31] प्रधान (श्वेता. 1/10) और गुण (1/3) शब्द भी मिलते हैं।[32]

4.2.2. पुराणों में सांख्य

पुराणों में भी सांख्य का उल्लेख मिलता है। पुराणों में मुख्यतः भागवत, महाभारत एवं गीता इनमें अनेक स्थानों पर सांख्य शब्द एवं सांख्य सिद्धांतों का उल्लेख आया है इसे निम्नानुसार देखा जा सकता है –

1. **श्रीमद्भागवत महापुराण** – भागवत के तृतीय स्कन्ध के अध्याय 25, 26 में सांख्य के तत्वों – प्रकृति[33] पुरूष, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियों आदि का विस्तृत वर्णन है।[34] अध्याय 27 में मोक्ष के संबंध में वर्णन है।[35] 11 वें स्कन्ध के अध्याय 24 में सांख्य सिद्धांतों का विशद वर्णन है।[36]
2. **महाभारत** – इसमें सांख्य में संबंध में उल्लेख है यथा – सांख्य के वक्ता परमर्षि कपिल हैं और योग के वक्ता हिरण्यगर्भ है। इनसे पुरातन वक्ता और कोई नहीं है।[37] हे नरेन्द्र जो महत् ज्ञान महान व्यक्तियों में वेदों के भीतर तथा योग शास्त्र में देखा जाता है और पुराणों में भी विविध रूपों में पाया जाता है वह सभी सांख्य में आया है।[38]
3. **श्रीमद्भगवद् गीता में अनेक स्थानों पर सांख्य सिद्धांतों की चर्चा हुई है। यथा** – अध्याय 3, 5, 6, 13 एवं 18 आदि में प्रकृति, पुरूष, बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियाँ आदि सभी तत्वों की व्याख्या की गई है। गीता में कहा गया है – मूल प्रकृति और समष्टि बुद्धि (महत् तत्व), समष्टि अहंकार, पांच महाभूत और दस इन्द्रियाँ, एक मन तथा पांचों इन्द्रियों के पांच विषय यही 24 तत्वों वाला क्षेत्र है।[39] प्रकृति व पुरूष दोनों को ही अनादि समझो और विकारों तथा गुणों को प्रकृति से उत्पन्न समझो। कार्य और कारण द्वारा होने वाली क्रियाओं को उत्पन्न करने में प्रकृति हेतु कही जाती है और सुख दुःख के भोक्तापन में पुरूष हेतु कहा जाता है।[40] प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सत्व, रज और तम् ये तीनों गुण अविनाशी देही (जीवात्मा) को देह में बांध देते हैं।[41] सम्पूर्ण क्रियायें प्रकृति द्वारा होती हैं। सब कार्य प्रकृति द्वारा किये जाते हैं।[42] सम्पूर्ण कार्य प्रकृति के गुणों द्वारा किये जाते हैं।[43] गुण ही गुणों में बसते हैं।[44]

4.2.3. अन्य

सूत्र साहित्य एवं अन्य साहित्यों में भी सांख्य का उल्लेख मिलता है जैसे – योगसूत्र, ब्रहासूत्र, मनुस्मृति आदि। व्यास भाष्य में प्रकृति का स्वरूप अल्पाक्षरों में

विवेचित किया गया है।[45] बुद्धि की वृत्ति ही दर्शन है इस प्रकार के विचार ब्रह्म सूत्र में मिलते हैं।[46] योगभाष्य, वाचस्पति मिश्र की तत्व वैशारदी, योगवार्तिक आदि बहुत सी साहित्यिक कृतियों में सांख्य संबंधी सिद्धातों का उल्लेख हुआ है। चरक संहिता में सांख्य के तत्वों का विवेचन मिलता है। चरक संहिता में बताया है मन एक है।[47] पांच ज्ञानेन्द्रियां बतायी हैं।[48] पंच द्रव्य बताये हैं।[49] पंच महाभूतों एवं ज्ञानेन्द्रियों की अनेक स्थानों पर चर्चा हुई है।[50] पुरूष तत्व की भी चर्चा की गई है।[51]

4.2.4 सांख्य कारिका

ईश्वर कृष्ण की सांख्य कारिका जिसे 70 वीं कारिका भी कहा जाता है यह वर्तमान में उपलब्ध है। यह सांख्य शास्त्र का प्रामाणित ग्रन्थ है जिस पर उत्तर कालीन लेखकों की टीकाएं उपलब्ध हैं यह संक्षिप्त तथा पूर्ण रचना है। सांख्य दर्शन के अध्ययन के लिये यह लघुकाय किन्तु मूल्यवान् है।[52]

4.3.3 सांख्य दर्शन के प्रमुख सिद्धांत

यद्यपि सांख्य संबंधी विचार अत्यंत प्राचीनकाल से ही प्राप्त होते हैं परन्तु 'ईश्वरकृष्ण' द्वारा रचित 'सांख्य कारिका' को सांख्य का प्रामाणिक ग्रंथ सदा से माना गया है।[53] सांख्य के प्रमुख तत्वों की विवेचना इस प्रकार है।

4.3.3.1 त्रिविध दुःख

सांख्य के अनुसार दुःख तीन प्रकार के होते है – आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक। यह त्रिविध दुःख जगत् में हैं तथा उनकी निवृत्ति अभीष्ट और संभव है तथा शास्त्रोक्त उपाय उसकी निवृत्ति करने में समर्थ भी हैं अतः शास्त्रोपाय –विषयिणी जिज्ञासा व्यर्थ नहीं कही जा सकती है। दुःखत्रय मानव जीवन को किसी न किसी प्रकार से प्रभावित करते हैं अतः प्रकृति पुरूष के विवेक ज्ञान की महती आवश्यकता होती है।
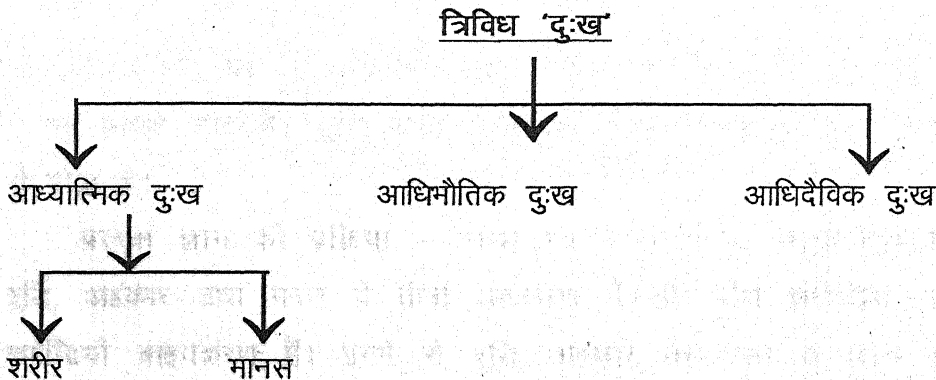
दुःख निवारण के उपाय

दुःख की निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा भी अनादि काल से चली आ रही है परन्तु लौकिक एवं वैदिक उपाय दुःखों से पूर्णतया छुटकारा नहीं दे पाते हैं। अतः सांख्य शास्त्र ने 'व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान'[54] के सिद्धांत को बताया है। उनके अनुसार 'व्यक्त' अर्थात् दृश्यमान जगत् 'अव्यक्त' अर्थात् उसका मूल कारण जो दृष्टिगोचर नहीं होता अपितु बुद्धिगम्य है तथा 'ज्ञ' अर्थात् दोनों के ज्ञाता के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर दुःख की आत्यन्तिक (सार्वकालिक) एवं ऐकांतिक (नियत रूप से) निवृत्ति हो जाती है। पुरूष तथा प्रकृति दो भिन्न तत्व हैं। मन, बुद्धि तथा अहंकार प्रकृति के तत्व हैं, पुरूष तत्व इनसे भिन्न हैं जो इस रहस्य को समझ लेता है वह त्रिविध दुःख से पीड़ित नहीं होता है और जन्म मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है।
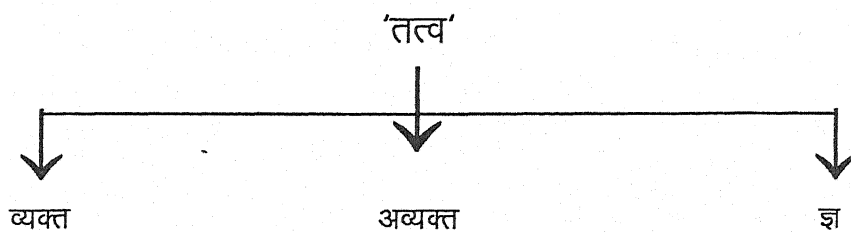
4.3.3.2 त्रिविध[55] प्रमाण

सांख्य कारिका में प्रमाणों एवं उसके स्वरूप की चर्चा तीन कारिकाओं (4–6) में की गई है। सांख्य तीन प्रमाणों को मानता है – प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द। उसके अनुसार सब प्रमेयों का ज्ञान या उसकी सत्ता की सिद्धि इन तीन प्रमाणों से हो सकती है –

1. **प्रत्यक्ष** – प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्ट[56] जिसका अर्थ है – विषय या प्रमेय से साक्षात् संबंध रहते हुए अर्थात् इन्द्रियों का विषय या प्रयोग के साथ साक्षात् संबंध या संनिकर्ष होने पर जो अध्यवसाय अथवा निश्चयात्मक ज्ञान रूप, बुद्धि व्यापार होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। दूसरे शब्दों में इन्द्रिय गोचर विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया – सांख्य मत में करणों कि संख्या तेरह है, जिसमें बुद्धि, अहंकार तथा मनस् ये तीनों अंतःकरण हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ बाह्यकरण हैं। इनमें से बुद्धि, अहंकार तथा मन ये धारण करते हैं,

ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाश करती हैं तथा कर्मेन्द्रियाँ आहरण करती हैं।[57] बाह्य करणों में विषय वर्तमान होने से प्रधान रूप में उनका ज्ञान बाह्य करणों के द्वारा होता है किन्तु अंतःकरण के लिये भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी प्रकार के विषय होते हैं।[58] प्रत्यक्ष ज्ञान मे उपर्युक्त तीनों अंतःकरण तथा एक वह ज्ञानेन्द्रिय जिसके विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान इष्ट है, इन चारों का प्रयोजन होता है। इनमें तीनों अंतःकरण द्वारि कहे जाते हैं और इन्द्रियाँ द्वार हैं जिनसे होकर अंहकार मन के साथ बुद्धि विषय के ज्ञान के लिये बाहर जाती है। रूप के ज्ञान को प्राप्त करने के लिये चित्प्रतिबिम्बित बुद्धि अहंकार को, तत्पश्चात् मन को साथ लेकर चक्षु के द्वार से बाहर निकल जाती है और रूप के साथ संपर्क में आकर चित्त अर्थात बुद्धि रूपकार या रूपवाली वस्तु के आकार की हो जाती है। 'तदाकाराकारिता' चित्तवृत्ति होते ही चित्त में प्रतिबिम्बित 'चित्त' अर्थात पुरूष में भी उस विषय (रूप या रूपवत) का आरोप हो जाता है वस्तु के आकार का चित्त का हो जाना ही प्रत्यक्ष ज्ञान है।[59] इसमें बहिरिन्द्रिय द्वारा मात्र है, 'मन' संकल्प विकल्प करता है। 'अंहकार' मुझे यह ज्ञान हुआ है' इत्यादि अहंभाव के रूप का होता है और 'बुद्धि' निश्चय करती है कि यह रूप है। वस्तुतः सभी बातें बुद्धि ही करती हैं और करण उसके सहायक हैं।[60]

2. अनुमान – अतीन्द्रिय या इन्द्रियों के अगोचर विषयों का ज्ञान अनुमान प्रमाण से होता है। अनुमान एवं प्रत्यक्ष में अन्तर यह है कि अनुमान ज्ञान में इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नहीं होता। सांख्य कारिका ने अनुमान प्रमाण का परिचय 'लिंगलिंगिपूर्वकम्' के रूप में दिया गया है।[61] लिंग या हेतु (व्याप्य) द्वारा लिंगी (व्यापक) का ज्ञान अनुपत्ति या अनुमान है। त्रिविधिमुमानमाख्यातम्[62] के रूप में अनुमान के तीन भेद माने गये हैं, किन्तु इन भेदों का नामतः निर्देश नहीं किया गया है और न इनके स्वरूप का कुछ परिचय दिया गया है। पूर्ववत्, शेषवत् और समान्यतोदृष्ट यह वर्गीकरण न्याय भाष्य में दिया गया है।[63] यह भेद सांख्य को भी स्वीकार्य है।[64] अनुमान 'वीत' और 'अवीत' दो प्रकार का है। अन्वय व्याप्ति पर आधारित अनुमान वीत कहलाता है। इस व्याप्ति का रूप है – जहां धूम है वहां अग्नि है। व्यतिरेक व्याप्ति पर आधारित अनुमान अवीत कहलाता है इस व्याप्ति का रूप है – इसके न होने पर उसका न होना जैसे – अग्नि के अभाव में धूम का अभाव होना। अवीत अनुमान का दूसरा नाम शेषवत् है। वीत अनुमान दो प्रकार का होता है – पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। जहां विशेष उदाहरण उपलब्ध होता है अर्थात् जहां स्वलक्षण का साक्षात्कार होता है और उसके आधार पर सामान्य से विशेषित

विशेष का अनुमान किया जाता है वहां पूर्ववत् अनुमान होता है। अतीन्द्रिय पदार्थो का अनुमान सामान्यतोदृष्ट से होता है।

4. **आप्त वाक्य या शब्द** – यह तीसरा प्रमाण हैं। आप्त का अर्थ है – सच्चा विश्वस्त पुरूष, उसके द्वारा कहे गये वचन प्रामाणिक होते हैं तथा वे शब्द प्रमाण में आते हैं। दूसरे शब्दों में आप्त, प्राप्त, अर्थात् युक्त को कहते हैं तथा वाक्य श्रुति से होने वाला वाक्यार्थ ज्ञान है। वाक्यार्थ ज्ञान की आप्तता (प्रामाणिकता) दो प्रकार से सिद्ध होती है – 'स्वतः' एवं 'परतः'। वेद जहां स्वतः प्रमाण हैं वहां स्मृति, पुराण एवं शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित ज्ञान की प्रामाणिकता भी वेद पर ही निर्भर है। वेद मूलक होने से ही यह प्रमाण माने जाते हैं अन्यथा नहीं। अतएव वेद स्वतः प्रमाण है तो प्रमाण हैं तो पुराण आदि परतः। शब्द प्रमाण के ये ही दो भेद हैं।
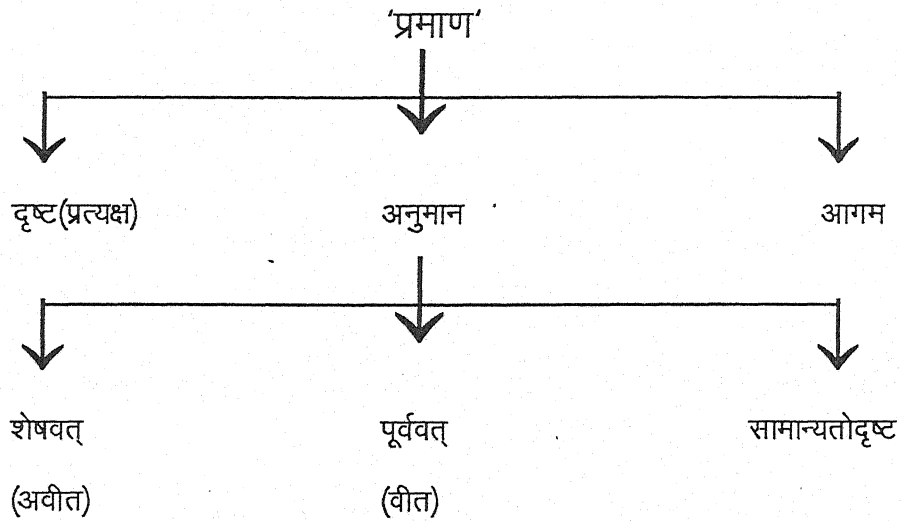
सांख्य सिद्धांत में केवल तीन प्रमाणों को ही मान्यता दी गई है। इसके अतिरिक्त प्रमाण तथा कथित है एवं उनका अंतर्भाव इन्हीं में साधित हो जाता है। इन तीनों प्रमाणों की उपयोगिता भी अलग–अलग है। सांख्य शास्त्र के अनुसार 'चितिछायापन्न' बुद्धि का अनुभव ही ज्ञान है, जो प्रत्यक्ष अनुमान एवं शब्द तीनों से होता है।[65]

4.3.3.3 तत्व मीमांसा

सांख्य दर्शन में तत्वों की मीमांसा इस प्रकार की गई है – मूल प्रकृति किसी का विकार अथवा कार्य नहीं है, महत् इत्यादि (बाद के) सात तत्व कारण और कार्य दोनों ही है। सोलह तत्वों का समुदाय तो केवल कार्य ही है, पुरूष न कारण ही है

और न कार्य ही।[66] सांख्य शास्त्र के अन्तर्गत 25 तत्व होते हैं इन 25 तत्वों का वर्गीकरण निम्नलिखित चार प्रकार से किया जा सकता है।

1. कोई तत्व ऐसा है जो सबका कारण तो होता है पर स्वयं किसी का कार्य नहीं होता। (प्रकृति)
2. कुछ तत्व कार्य व कारण दोनों होते हैं – किन्हीं तत्वों से उत्पन्न भी होते हैं तथा अन्य तत्वों के उत्पादक भी होते हैं। (प्रकृति – विकृति)
3. कुछ तत्व कार्य ही होते हैं – किसी से उत्पन्न होते हैं पर स्वयं किसी को उत्पन्न नहीं करते। (विकृति)
4. कोई तत्व कार्य तथा कारण उभयविध संबंध से शून्य रहता है वह न तो कार्य ही होता है न कारण ही। (न प्रकृति न विकृति)
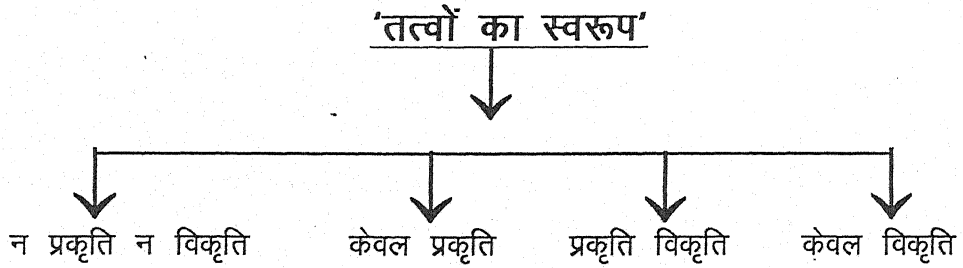
सांख्य सम्मत 25 तत्वों का वर्गीकरण

स्वरूप	संख्या	नाम
प्रकृति	01	प्रकृति
प्रकृति–विकृति	07	महत्तत्व, अहंकार, तन्मात्रायें, (शब्द, स्पर्श, रूप, रस,गंध)
विकृति	16	ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक, श्रोत्र) कर्मेन्द्रियाँ (वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) मन और पंच महाभूत
न प्रकृति न विकृति	01	पुरूष

4.3.3.4 सत्कार्यवाद (कार्य कारण सिद्धांत)

कार्य कारण के विषय में सांख्य का एक विशिष्ट मत है जो सत्कार्यवाद के

नाम से विख्यात है इसके अनुसार[67] (1) असत् या अविद्यमान होने पर कार्य की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। (2) कार्य की उत्पत्ति के लिये उसके उपादान कारण का ग्रहण अवश्य करना पड़ता है अर्थात् कार्य अपने उपादान कारण से नियत रूप से संबद्ध होता है। (3) सभी कार्य सभी कारण से उत्पन्न नहीं होते। (4) जो कारण किसी कार्य को उत्पन्न करने में शक्त या समर्थ है, उससे उसी कार्य की उत्पत्ति होती है। (5) कार्य, कारणात्मक अर्थात् कारण से अभिन्न या उसी के स्वरूप का होता है। डॉ. राधाकृष्णन[68] कहते हैं – "कार्य वस्तुतः अपने कारण में पहले से विद्यमान रहता हे। सांख्य दर्शन के मुख्य लक्षणों में से है"। सांख्य के सत्कार्यवाद के समर्थन में निम्नलिखित युक्तियाँ दी जा सकती हैं – असद्करणात् – अर्थात् जो नहीं है (जो असत् है) उसमें उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है (अकरण)। असत् को कभी भी सत् नहीं बनाया जा सकता। असत् में कारण व्यापार नहीं हो सकता। अतः यदि कार्य, कारण में पहले से ही उपस्थित न हो तो वह आकाश कुसुम और खरगोश के सींग के समान ही कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि कारण असत्कार्य हो तो यह कार्य कभी भी उत्पन्न नहीं कर सकता। नीले को हजारों कलाकार भी पीले में परिवर्तित नहीं कर सकते।[69]

उपादान ग्रहणात् – उत्पन्न पदार्थ उस सामग्री से भिन्न नहीं है, जिससे कि वह बना है। कार्य की उत्पत्ति के लिये एक विशेष कारण (उपादान) की आवश्यकता है। यदि उपादान कारण में कार्य वर्तमान में न हो तो उससे कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः वास्तव में कार्य उपादान कारण की अभिव्यक्ति है। क्योंकि वह (उपादान कारण) उससे (कार्य से) अनिवार्य रूप से संबंधित है, उपादान कारण के ग्रहण में कार्योत्पत्ति का भाव स्वतः ही निहित है।

सर्वसंभवाभावात् – यदि यह कहा जाये कि उत्पन्न होने वाले कार्य का उत्पादक कारणों से कोई संबंध नहीं होता तो ठीक नहीं क्योंकि उस दशा में घर एक विशेष कारण से मिट्टी से ही उत्पन्न हो जरूरी नहीं रह जाता उत्पन्न होने के पूर्व वह सामग्री के रूप में विद्यमान रहता है यदि इसे स्वीकार न किया जाए तो हर किसी वस्तु से हर एक वस्तु उत्पन्न हो सकेगी।

शक्तस्य शक्यकरणात् – कार्यकारण भाव संबंधी योग्यता उसी के संबद्ध रहती है। जिसके अंदर आवश्यक क्षमता रहती है। जिस कारण में जिस कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति होगी उससे वही कार्य उत्पन्न हो सकता है। यदि ऐसा न हो तो बालू से तेल निकलता।

कारणभावात् – कार्य का स्वरूप वही होता है जो कारण का होता है, अपने तात्विक रूप में कपड़ा धागों से भिन्न नहीं है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि फिर कारण और कार्य इन दो शब्दों की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर है कि कारण कार्य कि अव्यक्तावस्था है और कार्य व्यक्तावस्था। वास्तव में दोनों एक ही हैं।

ऐसे पदार्थो में जो एक दूसरे से तात्विक रूप से भिन्न हैं, कार्य–कारण संबंध नहीं हो सकता।[70] सत्कार्यवाद के उक्त सिद्धांत के अनुसार कारण तथा कार्य उसी एक पदार्थ की विकसित तथा अविकसित अवस्थायें हैं सांख्य विकास (आविर्भाव) तथा अन्तर्लय (तिरोभाव) की प्रकल्पना को स्वीकार करता है कार्य तथा कारण भिन्न–भिन्न अवस्थायें हैं और इसलिये एक दूसरे से भिन्न है।[71] इस भेद का आधार हमारे क्रियात्मक स्वार्थ है। घड़ा अपने अंदर फल को रख सकता है किन्तु मिटटी नहीं रख सकती। जहाँ उपादान कारण तथा कार्य मौलिक रूप से एक ही है वहां क्रियात्मक रूप में वे भिन्न–भिन्न है। क्योंकि उनसे भिन्न–भिन्न प्रयोजन सिद्ध होते हैं। सांख्य कारण के दो भेद करता है[72] – निमित्त कारण और प्रयोजन[73] कारण। प्रयोजन कारण अर्थात प्रयोजन प्रकृति के क्षेत्र के बाहर की चीज है। निमित्त कारण का काम है जिस दिशा में प्रकृति को गतिमान होना है उसकी बाधाओं को हटाकर उसे निर्धारित कर दे। यद्यपि कार्य कारण के अन्तर्गत है तो भी ऐसी वस्तु की आवश्यकता होती है जो इसे कारणात्मक स्थिति से स्वतंत्र कर सके। व्यास के अनुसार यह सहचारी अवस्थायें हैं – देश, काल, रूप तथा आकार।[74] दो प्रकार से कार्यो में भेद किया गया है – दूध से मलाई बनाना एक सरल अभिव्यक्ति की अवस्था है। जब सोने का आभूषण बनाया जाता है तो यह पुनरूत्पत्ति का दृष्टान्त है। जब गुप्त वास्तविक रूप में आ जाता है तो परिवर्तन केवल बाह्य होता है तो यह लक्षण–परिणाम की अवस्था है। केवल समय व्यतीत होने पर जो अवस्था में परिवर्तन हो रहा है वह अवस्था – परिणाम है।[75] परिवर्तन हर जगह प्रतिक्षण हो रहा है। हम एक ही जलधारा में दो बार पात्र नहीं डाल सकते।[76] सब वस्तुएं तथा आभ्यन्तर इस परिवर्तन के विधान के अधीन है।[77]

इस प्रकार इस सिद्धांत के आधार पर पंच महाभूत से लेकर महत् तक के सभी स्थूल, सूक्ष्म तत्व अपने कारणो में तिरोहित होते हुए अन्य में तीनों गुणों में विलीन रहते हैं जिसकी साम्यावस्था का नाम ही मूल प्रकृति, अव्यक्त या प्रधान है। सत्कार्यवाद के सिद्धांत की यही कृतार्थता है।

परिणामवाद – सत्कार्यवाद को मानने वालों में दो मत हैं – परिणामवाद और विवर्तवाद। परिणाम के अनुसार कारण वास्तविक कार्य में रूपान्तरित हो जाता है जबकि विवर्तवाद वाले मानते हैं रूपान्तरण वास्तविक नहीं बल्कि आभास मात्र है जैसे – रस्सी का सर्प प्रतीक होना। परिणाम में कार्य व कारण में एक ही सत्ता होती है। सांख्य दार्शनिक परिणामवाद को मानते हैं। सांख्य के अनुसार आविर्भाव और तिरोभाव का अर्थ है – अव्यक्त से व्यक्त होना और व्यक्त से अव्यक्त होना। वास्तव में ने तो किसी की उत्पत्ति होती है और न किसी का विनाश्।

4.3.3.5. त्रिगुण

सांख्य शास्त्र में गुण तीन माने गये हैं – 'सत्व', 'रजस्' और 'तमस्'। सांख्य दर्शन के अनुसार सत्व इत्यादि गुण सुख, दुःख मोहात्मक हैं।[78] प्रकाशन, प्रवर्तन तथा नियमन (नियंत्रण) इनके प्रयोजन कार्य हैं तथा ये दूसरे के अभिभावक, आश्रय बनाने वाले, उत्पादक (परिणाम सहकारी) एवं सहचारी होते हैं। ये गुण अथवा शक्तियाँ[79] प्रकृति में संतुलित अवस्था में रहते हैं। इसीलिये कहा गया है – 'गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः भिन्न–भिन्न गुण अपने को मिटाते नहीं है बल्कि साम्यावस्था में रहते हैं। जो निष्क्रयता नहीं बल्कि एक प्रकार का प्रसारण है। हम प्रकृति तथा गुणों के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते क्योंकि हमारा ज्ञान दृश्यमान् जगत् तक सीमित है। गुण सूक्ष्म और अतीन्द्रिय हैं। उनके कार्यों अथवा प्रभाव से उनकी उपस्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।

सत्व गुण – यह कार्यक्षम चेतना है और इसीलिये चेतनामय अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त होता है तथा मनुष्य में सुख उत्पन्न करता है। व्युत्पत्ति शास्त्र के अनुसार सत्व शब्द की व्युत्पत्ति 'सत्' से है अर्थात सत् वह है जो यथार्थ अथवा विद्यमान है क्योंकि चैतन्य को इस प्रकार की संज्ञा दी जाती है। इसीलिये सत्वगुण को कार्यक्षम चैतन्य कहा गया है। गौण अर्थो में सत् का अर्थ पूर्णतः भी है और इस प्रकार सत्व वह तत्व है जो सौजन्य एवं सुख उत्पन्न करता है। इसे प्रकाशक, ऊपर उठने योग्य अर्थात हल्का बनाया है।[80] हर्ष, तृप्ति, संतोष, उल्लास आदि सभी प्रकार का आनन्द वस्तुओं तथा मन में उपस्थित सत्व गुण के कारण होते हैं। शरीर में सत्वगुण बढ़ने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

रजस् गुण – यह दूसरा गुण है जो समस्त क्रिया का स्रोत है और दुःख को उत्पन्न करता है। रजोगुण हमें एक उत्तेजनामय सुख तथा सतत् उद्यम के जीवन की आर ले जाता है।[81] रजो गुण क्रिया का प्रवर्तक है। यह गतिशील है तथा अन्य

वस्तुओं को भी चलाता है। इन्द्रियों को विषयों की ओर दौड़ना तथा मन की चंचलता इसी के कारण है। जितने भी दुःखानुभव हैं वे सभी रजोगुण के कारण हैं। यह जीवात्मका को कर्म में आसक्ति होने से बांधता हैं रजोगुण बढ़ने से लोभ, प्रवृत्ति कार्यो का आरंभ, स्पृहा आदि उत्पन्न होते हैं।

तमो गुण – यह तीसरा गुण है जो क्रियाशीलता में बाधा पहुंचात है तथा उदासीनता अथवा निरूत्साह उत्पन्न करता हैं।[5] यह अज्ञान तथा आलस्य की ओर ले जाता है यह गुरू (भारी) तथा अवरोधक (रोकनेवाला) होता है।
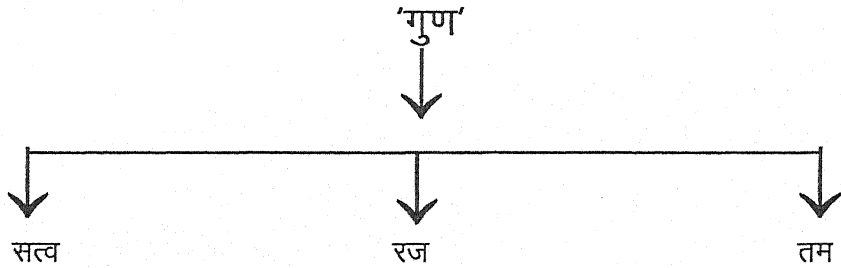
गुणों का संबंध – सत्व, रजस् और तमस् के कार्य क्रमशः प्रकाश (अभिव्यक्ति), प्रवृत्ति (क्रियाशीलता) और नियमन (अवरोध) है।[83] ये क्रमशः सुख, दुःख और आलस्य (तंद्रा) उत्पन्न करते हैं।[84] सत्वगुण को शुक्ल (उजला), रजोगुण को रक्त (लाल), तमोगुण को कृष्ण (काला) माना गया है। तीनों गुण कभी पृथक, नहीं रहते हैं। वे एक दूसरे से मिले–जुले रहते हैं वे एक दूसरे से घनिष्ट रूप से संबंद्ध हैं। जैसे कि दीपशिखा तेल तथा दीपक की बत्ती परस्पर सटे हुए रहते हैं।[85] ये तीन गुण ही प्रकृति के सारभूत हैं। सब वस्तुएं इन तीन गुणों से मिलकर बनी हैं। संसार में जो भेद पाये जाते हैं वे भिन्न–भिन्न गुणों की प्रधानता के कारण हैं। गुणों की इस प्रकार कल्पना का आदि स्रोत निःसंदेह मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि इनके अन्दर जो भेद दिये गये हैं वे अपने से भिन्न–भिन्न प्रकारों के आधार पर है।[86] जिस वस्तु में जो गुण प्रबल हो जाता है वैसा उसका स्वभाव बन जाता है। शेष दो गुण भी वस्तुओं में रहते हैं, परन्तु ये गौण हो जाते हैं। तत्व उस मूल तत्व अथवा स्वरूप का घोतक है जिसे हमें प्राप्त करना है तथा तमस् उन बाधाओं का घोतक है जो उक्त उद्देश्य की प्राप्ति के मार्ग में आती हैं। इस प्रकार रजस उस प्रक्रिया का घोतक है जिस के द्वारा बाधाओं पर विजय प्राप्त की जाती है तथा मूलभूत रूप अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार जो अभिव्यक्त होता है वह सत्व अथवा वस्तु का रूप है, अभिव्यक्ति का कारण रजोगुण है तमस वह बाधा है जो सत्व की अभिव्यक्ति के मार्ग में उपस्थित रहती है और जिस पर विजय प्राप्त करनी है। ये गुण सदा

परिवर्तनशील हैं यहां तक कि जिसे साम्यावस्था कहा जाता है उसमें भी गुण निरन्तर एक दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं किन्तु ये परिवर्तन अपने आप में तब तक कोई विषयनिष्ठ परिणाम उत्पन्न नहीं करते जब तक कि साम्यावस्था में कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं होता गुणों में साम्यवस्था में क्षोम उत्पन्न होने पर गुण एक दूसरे पर क्रिया – प्रतिक्रिया करते हैं तथा विकास होता है। यद्यपि कार्यरूप जगत् की उत्पति में तीनों गुण एक साथ भाग लेते हैं तो भी वे कभी स्वीभूत नहीं होते है। पारस्परिक प्रभाव अथवा सामीप्य के कारण उनके अंदर परिवर्तन होता है वे विकसित होते हैं, परस्पर मिलते हैं तथा पृथक् होते हैं उनसे कोई भी अपनी शक्ति नहीं खोता भले ही दूसरे रूप में क्यों न कार्यरत हो।[87] प्रकृति तथा तज्जन्य पदार्थ इन गुणों को धारण करते हैं और इसलिये वे अचेतन है। वे अपने आप में तथा पुरूष में भेद करने की शक्ति से वंचित है। वे सदा विधेय (विषय) कोटि में रहते हैं। जबकि केवल मात्र पुरूष ही प्रमाता की कोटि में हैं।[88]

4.3.3.6 प्रकृति

सांख्य दर्शन का सबसे प्रमुख तत्व है 'प्रकृति'। सांख्य कारिका[89] के अनुसार – महदादि कार्यो के (1) परिमित होने (2) कारण के सदृश होने (3) कारण की शक्ति से उत्पन्न होने (4) कारण से अविर्भूत होने तथा उसी में तिरोभूत होने से सबका एक कारण अव्यक्त अवश्य है जो अपने तीनों गुणों के स्वरूप से एवं एक–एक गुण के प्राधान्य से उत्पन्न अनेकत्व के कारण जल की तरह विविध परिणामों के योग से तीनों के मिश्रित रूप से परिणित होता (कार्य करता) रहता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार जगत् का मूलकारण प्रकृति है। परिणामवाद के आधार पर सांख्य दार्शनिक जगत् के मूलकारण प्रकृति पर पहुँचते हैं। जगत् के कारणहीन मूल कारण के रूप में वह प्रकृति कहलाती है। प्रत्येक वस्तु का वह कारण है परन्तु 'प्रकृति' का कोई कारण नहीं। यह अनादि कारण है। 'यदि समस्त कार्य अपने कारणों के अंदर छिपे रहते हैं और यदि हम एक अनन्त पश्चात् गत से बचाना चाहते हैं तो एक आदिकारण जिसका अन्य कोई कारण न हो तो अवश्य स्वीकार करना होगा। कार्य कारण भाव के सिद्धांत से अनुमान द्वारा यह परिणाम निकलता है कि इस प्रकार आनुभविक विश्व का परम (अन्तिम) आधार अव्यक्त प्रकृति है।"[90] सांख्य कारिका में प्रकृति का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये पाँच युक्तियाँ दी गई हैं।[91]

1. **भेदानां परिमाणात्** – जगत की समस्त शक्तियाँ सीमित, परतन्त्र सापेक्ष और शान्त हैं उनको उत्पन्न करने वाला कारण, स्वतंत्र, निरपेक्ष और अनंत प्रकृति की होनी चाहिए।

2. **भेदानां समन्वयात्** – जगत् की समस्त वस्तुएँ भिन्न–भिन्न होते हुए भी सामान्य गुण रखती है। अतः उन सबका कोई सामान्य उद्भव स्थान होना चाहिए जहाँ से वे सब निकलते हैं वह कारण प्रकृति है।

3. **शक्तितः प्रवृत्तेश्च** – वस्तुओं के विकास में अपने को व्यक्त करता हुआ एक क्रियात्मक तत्व अवश्य है। विकास एक ऐसे तत्व को उपलक्षित करता है जो अपनी किसी भी स्थिति के समान नहीं हो सकता। जो अपने उत्पन्न पदार्थो के अन्दर रहता हुआ भी उससे वृहत्तर है। सांख्य कारिका में प्रकृति का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये पांच युक्तियां दी गई हैं।

4. **कारण कार्य विभागात्** – कारण और कार्य रूप में तत्वों का विभाग किया जाता है जैसे महत् कारण है और अहंकार उसका कार्य। कार्य कारण से भिन्न है और इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि शांत तथा सोपाक्षित जगत् अपना कारण अपने आप है। अतएव स्पष्ट है कि उनका कारण कोई अव्यक्त ही होगा वह अव्यक्त ही तो प्रकृति है।

5. **अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य** – विश्व के कार्य पदार्थ संहारकाल में अविभक्त हो जाते हैं अर्थात् अपने कारणों मे लय होकर अव्यक्त बन जाते हैं इससे सिद्ध होता है कि उनका अव्यक्त कारण है, यह कारण प्रकृति है।

इस प्रकार सांख्य प्रकृति के अस्तित्व के प्रमाण देता है। प्रकृति के अनेक नाम दिये गये हैं और भी अन्य विशेषताएं बतायी गई हैं – यह सृष्टि के पूर्व (प्र + कृति)[92] है, इस पर समस्त कार्य आधारित है, यह जगत् का प्रथम तत्व है अतः प्रधान कहलाती है।[93] ब्रह्मा अथवा वह जो बढ़ता है[94] यह 'माया' कहलाती है। अर्थात जो मापती है, विचित्र सृष्टि बनाती है यह सत्ता की प्रारंभिक आकृति है जिससे जीवन की भिन्न–भिन्न अवस्थायें निकलती हैं। लोकाचार्य के अनुसार – विकारों को उत्पन्न करने के कारण यह प्रकृति कहलाती है। यह अविद्या कहलाती है क्योंकि ज्ञान की विरोधी है यह सूक्ष्म और अदृश्य है इसका अनुमान ही लगाया जा सकता है अतः अनुमान कहलाती है । अचेतन तत्व के रूप में जड़ कहलाती

है। सदैव गतिशील असीम शक्ति के रूप में शक्ति कहलाती है। समस्त वस्तुओं की अव्यक्त अवस्था के रूप में वह अव्यक्त कहलाती है। उत्पन्न पदार्थो के कारण होने है किन्तु प्रकृति का कारण नहीं है। उत्पन्न पदार्थ पराधीन हैं किन्तु प्रकृति स्वाधीन है। उत्पन्न पदार्थ संख्या में अनेक है, देश और काल तक सीमित है, किन्तु प्रकृति एक है, सर्वव्यापक है और नित्य है।[95] उत्पन्न पदार्थ वे चिन्ह हैं जिनसे उसके उद्भव का अनुमान किया जाता है। प्रकृति कभी नष्ट नहीं हो सकती और इसीलिये यह कभी भी पैदा भी नहीं हो सकती थी।

प्रकृति का रूप – सांख्य दर्शन के अनुसार सत्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं।[96] इसमें सत्व, रजस् और तमस् तीन गुण हैं इसलिये यह त्रिगुण[97] कहलाती हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं – सत्व, रजस् एवं तमस् ये तीन शक्तियाँ[98] हैं जो प्रकृति में संतुलित अवस्था अथवा Balanced रहती हैं। ये तीनो गुण प्रकृति के धर्म या स्वभाव नहीं इसके स्वरूप ही हैं।[99] प्रकृति के तीनों गुण (शक्तियाँ) नित्य परिणामी है अर्थात प्रकृति कभी परिणाम से विमुक्त नहीं होती, यहां तक कि प्रलय काल में भी परिणाम होता रहता है। हां इतना अवश्य है कि प्रलयकाल में सदृश्य परिणाम होता है और सृष्टि काल में विसदृश या विषम।[100] स्पष्ट है कि प्रकृति कोई भौतिक द्रव्य नहीं है और न ही वह एक चेतनता–सम्पन्न सत्ता है क्योंकि पुरूष को बहुत सावधानी से पृथक् रखा गया है यह केवल भौतिक जगत् के पांच तत्वों को ही उत्पन्न नहीं करती बल्कि मानसिक तत्वों की भी जननी हैं। यह समस्त प्रमेय विषयक जीवन का आधार है। यथार्थ तत्व को उसकी पूर्णता के साथ अपरिवर्तनशील प्रमाता (विषयी) और परिवर्तनशील प्रमेय (विषय) के रूप में पृथक किया गया है तथा प्रकृति परिणमनशील जगत् का आधार है यह अविश्रांत क्रियाशील जगत् के तनाव के प्रतीक है। यह चेतनता के बिना भी किसी पूर्व निर्धारित योजना के बराबर क्रियाशील रहती हैं, यह ऐसे लक्ष्य के प्रति क्रियाशील है जिसे यह समझती नहीं।[101]

4.3.3.7 पुरूष

सांख्य दर्शन का दूसरा मुख्य तत्व है पुरूष या आत्मा। समस्त इन्द्रियधारी प्राणियों में आत्मनिर्णय का एक तत्व विद्यमान है जिसे सामान्यतः आत्मा नाम दिया गया है। "यद्यपि व्यक्ति एक अर्थ में एक विशिष्ट तथा परिमित शक्ति वाला प्राणी है जो मरणशीलता सम्बन्धी समस्त आकस्मिक घटनाओं तथा परिवर्तनों के अधीन है,

तो भी उसके अन्दर ऐसा कुछ अवश्य है जो उसे इन सबसे ऊपर उठाता है, वह न तो मन है, न जीवन हैं, न शरीर है, बल्कि मौन, शान्त, सूचना देने वाली (साक्षी रूप) एवं संभाले रखने वाली आत्मा है जो इन सबको धारण करती है।[102] इस प्रकार सांख्य शास्त्र जीवन की आकस्मिक घटनाओं से उन्मुक्त तथा काल और परिवर्तनों से ऊपर उठे हुए 'पुरूषों' के अस्तित्व का प्रतिपादन है। पुरूषो का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये सांख्य अनेक युक्तियां देता है[103] – सभी संघातों के दूसरों के लिये होने, त्रिगुणत्व इत्यादि का अभाव होने, सभी त्रिगुणात्मक वस्तुओं के लिये अधिष्ठाता एवं भोक्ता की अपेक्षा होने एवं कैवल्य या मोक्ष के लिये प्रवृत्ति होने के कारण पुरूष की पृथक सत्ता सिद्ध होती है। इसका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है –

1. **संघातपरार्थत्वात्** – जितनी चीजें संघातृ रूप में होती हैं अर्थात् विशेषों के मिश्रण से बनती है वे दूसरों के लिये होती है, खाट–शयन करने वालों के लिये होती है। इसलिये खाट तो देखकर शयन करने वाले का अनुमान किया जा सकता है, इसी प्रकार यह संसार, जो पाँच तत्वों का संग्रह है, अन्य के उपयोग के लिये है। एक आत्मा है जिससे सुखोपभोग के लिये यह उपयोग्य शरीर, बुद्धि इत्यादि सहित, उत्पन्न किया गया है।

2. **त्रिगुणादि विपर्ययात्** – समस्त जानने योग्य पदार्थो में तीन गुण रहते हैं और इससे उनके एक दृष्टा आत्मा की जो स्वंय गुणों से रहित है पूर्व कल्पना होती है। संसार के पदार्थो का त्रिगुणमय होना गुणहीन पुरूष को सिद्ध करता है।

3. **अधिष्ठानात्** – एक ऐसी अधिष्ठातृ शक्ति का, विशुद्ध चेतनता का होना आवश्यक है, जो समस्त अनुभवों का समन्यव करने वाली हो।

4. **भोक्तृभावात्** – अचेतन प्रकृति अपनी कृति का उपयोग नहीं कर सकती, उनका उपयोग करने के लिये एक चेतन तत्व की आवश्यकता है। प्रकृति भोग्या है अतः भोक्ता भी होना चाहिए।

5. **कैवल्यार्थम् प्रवक्ते**– मनुष्य में कैवल्य के लिये प्रवृति पाई जाती है जो पुरूष के अस्तित्व का घोतक हैं कैवल्य मोक्ष के लिये प्रकृति किया जाता है, जो इस विषय का उपलक्षण है कि पुरूष का अस्तित्व है, जो प्रकृति के विरूद्ध गुणों वाला है।

पुरूष का स्वरूप – अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा अथवा विषयी रूप – चैतन्य का स्वरूप क्या है? यह शरीर नहीं है, चेतन्य तत्वों में उत्पन्न पदार्थ नहीं है, क्योंकि यह उनके अन्दर अलग–अलग विद्यमान नहीं है इसलिये उन सब में एक साथ भी नहीं हो सकता।[104] यह सब इन्द्रियों से भिन्न है।[105] क्योंकि इन्द्रियाँ दर्शन का साधन तो है किन्तु दृष्टा नहीं। पुरूष बुद्धि से भिन्न है क्योंकि बुद्धि अचेतन है, इसका स्वरूप चैतन्य है इसलिये यह विकासात्मक श्रृंखला के पदार्थो के आत्म चेतनता लाने में सहायक होती है। पुरूष का सदा प्रकाश रूप स्वरूप परिवर्तित नहीं होता।[106] यह सुषुप्ति अवस्था में उपस्थित रहता है।[107] यह जागृत व स्वप्न अवस्था में भी उपस्थित रहता हैं इस प्रकार पुरूष विद्यमान रहता है यद्यपित यह न कारण है न कार्य।[108] यह वह प्रकाश है जिसके द्वारा हम देखते हैं। पुरूष चैतन्य है पर इसके अंतिम लक्ष्य की व्याख्या नहीं की जा सकती पुरूष केवल चैतन्य है, आनन्द नहीं। पुरूष गति के अयोग्य है और मोक्ष प्राप्त करने पर कहीं नहीं जाता।[109] यह परिमित आकार का नहीं है। यह क्रिया में भाग नहीं लेता। सांख्य पुरूष को गुणों से रहित मानता है अन्यथा मोक्ष संभव नहीं होता।

पुरूष के लक्षण – सांख्य कारिका में वर्णित पुरूष साक्षित्व, कैवल्य, मध्यस्थ, दृष्टत्व और अकर्तव्य हैं।[110] सांख्य का पुरूष संबंधी विचार, उपनिषदों की आत्मा संबंधी धारणा द्वारा निर्धारित है।[111] इसका न आदि है, न अंत है, यह गुणों से रहित (निर्गुण) है, सूक्ष्म है, सर्व व्यापी है, एक नित्य दृष्टा है, इन्द्रियातीत है, मन की पहुँच से परे है, बुद्धि के क्षेत्र से परे है, काल देश तथा कार्यकारण की श्रृंखला से भी परे है, जो इस आनुभाविक जगत् की विचित्रता का ताना–बाना बुनते हैं। यह अजन्मा है। और कुछ उत्पन्न नहीं करता। इसकी नित्यता न केवल सर्वदा स्थायित्व में है, बल्कि अंखंडता तथा पूर्णता में भी है। यह व्यावाहारिक अर्थ सब वस्तुओं को नंहीं जानता है। इसे परिवर्तनों का कोई बोध नहीं होता है। पुरूष प्रकृति से संबद्ध नहीं है।[112] यह केवल दर्शक है। अकेला, उदासीन, निष्क्रिय दर्शक है पुरूष स्वभाव से निर्लिप्त, निस्संग, त्रिगुणातीत और नित्य है।[113]

पुरूष की अनेकता – अद्वैत वेदान्त के विरूद्ध, जैन तथा मीमांसा के समान सांख्य भी पुरूष को अनेक मानता हैं। तत्व रूप में सब एक है परन्तु उनकी संख्या अनेक है सांख्य कारिका[114] में कहा गया है – जन्ममरण तथा इन्द्रियों की व्यवस्था, एक साथ प्रकृति के अभाव तथा गुणों के भेद के कारण पुरूष की अनेकता सिद्ध होती है। इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है –

1. **जननमरण करणानां प्रतिनियमात्** – सभी पुरूषों में जन्म मरण तथा कारण अर्थात इन्द्रियों के व्यापार भिन्न–भिन्न रूपो में नियंत्रित है। एक उत्पन्न होता है तो दूसरा मरता है, यह भेद तभी संभव है जबकि पुरूष अनेक हों। अन्यथा एक के मरने पर सभी मर जाते।

2. **अयुगपत् प्रवृत्तेश्च** – सभी व्यक्तियों में समान प्रवृत्तियां दिखलाई नहीं पड़ती अथवा जीवों में एक रूप में एक ही प्रकाश से निवृत्ति नहीं होती, अतः पुरूष अनेक हैं।

3. **त्रैगुण्यविपर्ययात्** – संसार के सभी जीवों में सभी गुण भिन्न–भिन्न प्रकार से मिलते हैं अतः पुरूष अनेक है।

इस प्रकार सांख्य चैतन्य की धाराओं की संख्या की दृष्टि से विशिष्टता पर तथा पृथक–पृथक धाराओं के व्यक्तिगत एकत्व पर बल देता है किन्तु भिन्न–भिन्न एकत्वों की विशिष्टता का कारण अवश्य ही आत्मा के अनेकतत्व को दर्शाता है।[2]

4.3.3.8 सांख्यीय सृष्टि – क्रम

सर्वतः परिदृश्यमान इस जगत् का कारण कौन सा तत्व है इसका विवेचन प्रायः सभी दार्शनिक करते हैं इसके अनेक प्रकार के उत्तर भी दिये जाते हैं। सांख्यशास्त्रियों का कहना है इस जगत् में चेतन और जड़ दोनों की सत्ता है, जड़ चेतन का संयोग भी (नदी, पर्वत आदि एवं पशु, मनुष्य आदि) हमें सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, उलझन यह है कि जड़ चेतन का कारण है या चेतन जड़ का ? साख्य दर्शन का मत है कि जड़ व चेतन दोनों सर्वथा स्वतंत्र हैं। इनमें से कोई भी दूसरे का कारण या कार्य नहीं हो सकता यह निखिल जगत् जड़ होते हुए भी स्वतः क्रियाशील है चेतन तत्व सर्वथा निष्क्रिय। अतः इस जड़ चेतन के समन्वित संयोग से ही सृष्टि का अविर्भाव होता है इस प्रसंग को सांख्य ग्रंथों[116] में अंधे व लंगड़े की प्रसिद्ध कहानी का उपयोग दृष्टान्त रूप में बहुशः किया है। अंधे में चलने की शक्ति है परन्तु वह मार्ग दर्शन नहीं कर सकता। लंगड़ा राह दिखा सकता है। परन्तु वह चल नहीं सकता । दोनों के सहयोग से ही कार्य सिद्धि देखी जा सकती है। इसी प्रकार चेतन पुरूष सक्रिय प्रकृति के साथ मिलकर सृष्टि रचना में समर्थ और सफल होता है। अखिल विश्व का मूल त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। सत्व, रज एवं तमस् नामक गुण ही इस जगत् के उपादान कारण हैं जो चेतन तत्व में संयोग से

क्षुब्ध होकर अनेक सजातीय एवं विजातीय तत्वों में परिणित हो जाते हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति वह मौलिक द्रव्य है जिससे यह जगत् विकसित होता है। जब प्रकृति में गुण साम्यावस्था में एकत्र रहते हैं तो उनमें कोई क्रिया नहीं होती है विश्राम की अवस्था को प्रकृति की स्वाभाविक दशा कहा जाता है।[117] जब गुणों की साम्यावस्था में क्षोम होता है। तो प्रकृति का नाश होता है एक पक्ष के अत्याधिक बोझ से तनाव कम होता है। और परिणमन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। पुरूष के प्रभाव में आकर प्रकृति विकसित होती है।[118] यह प्रश्न उठना स्वभाविक ही है कि पूर्वतः साम्य प्राप्त गुणों में वैषम्य क्यों और कैसे आ जाता है? इसका उत्तर सांख्यकारिका[119] में दिया गया है– पुरूष के द्वारा 'प्रधान' का दर्शन तथा प्रधान के द्वारा पुरूष का कैवल्य सम्पन्न होने के लिये सृष्टि होती है। पुरूष के उद्देश्यों की पूर्ति प्रकृति की तीन विशिष्ट अवस्थाओं में व्यक्त होने का कारण है।[120] विकास का कारण देश काल, विधि तथा कार्य कारण भाव में अनुक्रम के एक निश्चित विधान का अनुसरण करता है। सृष्टि के पहले सभी गुण साम्यावस्था में रहते हैं। प्रकृति पुरूष का सानिध्य होने पर इस साम्यावस्था में विकार उत्पन्न होता है इस अवस्था को गुणक्षोभ कहते हैं। इसमें सबसे पहले रजोगुण परिवर्तनशील रहता है। क्योंकि वह स्वभावतः क्रियात्मक है। रंजोगुण में परितर्वन होने के कारण अन्य गुणों में स्पन्दन होने लगता है इस प्रकार प्रकृति में भीषण उथल–पुथल मच जाती है क्रमशः तीनो गुण अलग–अलग होते हैं और मिलते हैं इससे न्यूनाधिक अनुपात में उनके संयोग से अनेक प्रकार से सांसारिक विषय उत्पन्न होते हैं।

सृष्टि का क्रम – सांख्य शास्त्र में ब्रह्माण्ड के निखिल तत्वों को दो वर्गो में रखा गया है प्रकृति तथा पुरूष प्रकृति की दो अवस्थाएं होती हैं – 'व्यक्त' और 'अव्यक्त'। पुरूष को 'ज्ञ' कहते हैं। व्यक्त अव्यक्त एवं ज्ञ के स्वरूप की यथार्थ रूप से जानकारी की व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञान हैं। इसमें से अव्यक्त एवं ज्ञ तो एक–एक प्रकार के होते हैं। परन्तु व्यक्त के 23 भेद–प्रभेद होते हैं। प्रकृति से महत्[121] या बुद्धि तत्व या महत् से अंहकार[6] और अहंकार से पांच तन्मात्रायें, ग्यारह इन्द्रियां इन सोलह तत्वों का समूह उत्पन्न होता है। इन सोलह के समूह में अन्तर्भूत पंचतन्मात्राओं से महाभूत उत्पन्न होते हैं।

महत् – व्यक्त का प्रथम रूप महत् तत्व है। महत् जो सकल विश्व का कारण है। प्रकृति के विकास में सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ है।[122] यह व्यक्ति की बुद्धि का

सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि क्रम
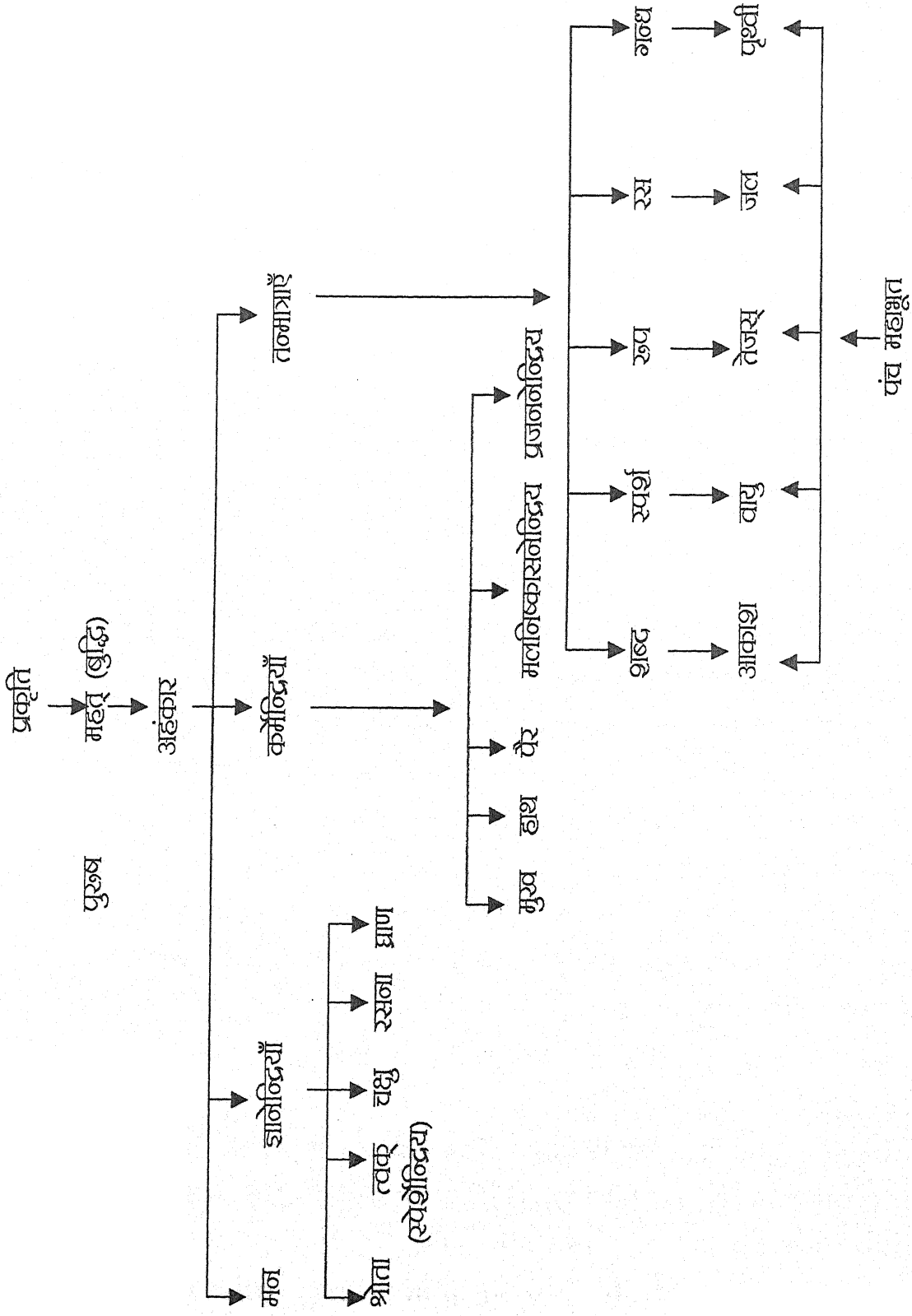
आधार है। जहां महत् शब्द विश्वीय पक्ष को दर्शाता है वहाँ बुद्धि शब्द से जो इसका पर्यायवाची होकर प्रयुक्त होता है, तात्पर्य तत्समान मनोवैज्ञानिक पक्ष है जो प्रत्येक व्यक्ति में रहता है। बुद्धि का व्यापार है निश्चय करना तथा निर्णय पर पहुंचना।[123] सब इन्द्रियाँ और मन का व्यापार बुद्धि के लिये है और बुद्धि का व्यापार आत्मा के लिये है। इस प्राकर पुरूष समस्त जीवन का अनुभव करने योग्य होता है तथा अपने व प्रकृति के अन्दर भेद कर सकता है। निश्चय अर्थात् निश्चयात्मक अथवा निश्चय करने वाला तत्व बुद्धि है। 'धर्म', 'ज्ञान', 'वैराग्य' तथा 'ऐश्वर्य' इसके सात्विक रूप हैं। इसके विपरीत 'अधर्म', 'अज्ञान', 'अवैराग्य' या राग तथा 'अनैश्वर्य' इसके तामस रूप हैं।[124] बुद्धि दोनों ही है नित्य और अनित्य भी। विज्ञानभिक्षु इसे कभी असफल न होन वाली तथा सब संस्कारों को धारण करने वाली मानते हैं। स्मृतियाँ बुद्धि में रहती है, मन अथवा अहंकार में नहीं रहती। कारिका में जो बुद्धि के व्यापार बताये हैं, वे तभी सम्पन्न होंगें जबकि यह अंहकार के पीछे हों तथा मन ओर इन्द्रियों के पीछे हों और ठोस तत्वों के समान कोई ज्ञेय पदार्थ विद्यमान हो। बुद्धि के कार्य एवं विशेषताओं के संबंध में कारिका में बहुत सी बातें लिखी गई हैं जिन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है – चूंकि समस्त विषयों के सम्बन्ध में होने वाले पुरूष के भोग को बुद्धि ही सम्पादित करती है और वही प्रकृति एवं पुरूष के सूक्ष्म भेद को प्रकट करती है, इसलिये सभी करण एवं प्रकाशित समस्त अथ्र को, बुद्धि को ही सौंपते हैं और इसलिये वही सर्वप्रधान है।[125] 'विपर्यय','अशक्ति', 'तृष्टि' और 'सिद्धि' यह चार बुद्धि के (प्रमुख) परिणाम हैं और गुणों को न्यूनाधिक्य से पारस्परिक आभिर्भव होने के कारण इनके पचास भेद होते हैं।[126] विपर्यय के पांच भेद, करणों के दोष के कारण अशक्ति के 28 भेद, तृष्टि के 9 भेद तथा सिद्धि के 8 भेद होते हैं।[127] बुद्धि के अपने अर्थात् स्वरूपगत उपघातों के साथ 11 इन्दियों के उपघात अर्थात 11 इन्द्रियों के उपघात से उत्पन्न बुद्धि के उपघात, अशक्ति कहलाते हैं, बुद्धि के अपने उपघात नवतुष्टि और अष्टसिद्धि के विपर्यय से 17 होते हैं।[128] प्रकृति उपादान, काल और भाग्य नामक चार आध्यात्मिक तथा विषयों से वैराग होने के कारण उत्पन्न पाँच बाह्य इस प्रकार नवतृष्टियां मानी गई हैं।[129] तर्क (मनन), शब्द (अर्थात तज्जनित अर्थ ज्ञान) अध्ययन (त्रिविध दुःख विनाश, सुहत्प्राप्ति अर्थात् गुरू शिष्य तथा सतीर्ष्यों के साथ) तथा दान अर्थात विवेक बुद्धि से ये 8 सिद्धियां हैं। पूर्वागत तीनों अर्थात् विपर्यय, अशक्ति और तुष्टि, 'सिद्धि' की विरोधिनी है।

अहंकार – महत् तत्व से अहंकार (अहंभाव) की उत्पत्ति होती है। बुद्धि का 'मैं' और 'मेरा' का अभिमान ही अंहकार है।[130] अहंकार को भौतिक सामग्री के रूप में लिया गया है। जहां बुद्धि अपने व्यापार में अधिक ज्ञान–विषयक है, वहां अहंकार अधिक क्रियात्मक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अहंकार का कार्य अभियान तथा आत्मप्रेम है। कर्तव्य का संबंध इसके साथ हैं। आत्मा अथवा पुरूष के साथ नहीं।[131] महत् की अंहकार के प्रति वही स्थिति है जो चैतन्य की आत्म चैतन्य के प्रति है हम अहंकार के अस्तित्व का अनुमान इसके कार्यो से करते हैं।[132] इसे द्रव्य माना गया है क्योंकि यह अन्य द्रव्यों का उपादान कारण हैं। पुरूष अंहकार के द्वारा प्रकृति की क्रिया को अपनी क्रियायें समझते लगता है। मन के द्वारा इसे जो संवेदनायें तथा सुझाव मिलते हैं, यह उन्हें बुद्धि को और बुद्धि आत्मा को अर्पण कर देती है। इस प्रकार यह भावों एवं निर्णयों के निर्माण में सहायक होता है। जब अहंकार पर सत्व की प्रधानता होती है तो हम अच्छे कर्म करते हैं जब रजस् की प्रधानता होती है तो बुरे कर्म करते हैं और जब तमस् की प्रधानता होती है तब ऐसे कर्म करते हैं, जिन्हें न अच्छे कह सकते हैं और न बुरे।

अहंकार के प्रकार – अहंकार के तीन प्रकार होते हैं –

1. वैकारिक अथवा सात्विक – इसमें सत्व तत्व प्रधान होता है। सार्वभौम रूप में यह मनस्, पंच ज्ञानेन्द्रियों और पंच कर्मेन्द्रियों का सात्विक गुण उत्पन्न करता है।[133] मनोवैज्ञानिक रूप में यह अच्छे कर्म उत्पन्न करता है।

2. भूतादि या तामस इसमें तमस् गुण प्रधान होता है विश्व में यह पचंतन्मात्राओं का तामस् गुण अथवा पांच सूक्ष्म तत्व उत्पन्न करता है।[134] मनोवैज्ञानिक रूप आलस्य, प्रमाद आदि उत्पन्न करता है।

3. तेजस् अथवा राजस् – राजस रूप दोनों में अपनी भूमिका अदा करता है। परिणामों में उपस्थित रहता है।[5] पंचतन्मात्राओं अथवा पांच सूक्ष्म तत्वों से, तमस् के आधिपत्य होने से मूर्तरूप पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं।

सब विकास में यद्यपि कोई एक गुण प्रधान रह सकता है किन्तु अन्य भी उपस्थित रहते हैं, अपने कार्य करते हैं और अप्रत्यक्ष रूप में पदार्थो के विकास में सहायक होते हैं। अहंकार से सृष्टि का यह क्रम सांख्यकारिका में दिया गया है इसे वाचस्पति मिश्र मानते हैं परन्तु विज्ञानभिक्षु सांख्यप्रवचन भाष्य मे मन को ही एक

मात्र ऐसी इन्द्रिय मानते हैं जो सत्वगुण प्रधान हैं और सात्विक अहंकार से उत्पन्न होता है। शेष 10 इन्द्रियाँ राजस अहंकार का और पंचतन्मात्रायें तामस अहंकार का परिणाम हैं।

मन – यह दोनो प्रकार की इन्द्रिय हैं।[136] यह संकल्प करने वाला है और इन्द्रियों के सजातीय होने से इन्द्रिय कहलाता है।[137] मन वह अन्तरिन्द्रिय है जिसका महत्वपूर्ण कार्य इन्द्रियों से प्राप्त सामग्री का संश्लेषण करके उन्हें विचार (प्रत्यय) के रूप में परिणत करना, कार्यो के वैकल्पिक मार्गो का सुझाव देना तथा इच्छा द्वारा दिये आदेशों का कर्मेन्द्रियों द्वारा पालन करना है। इन्द्रियों को द्वार माना गया है तो मन को द्वार रक्षक कहा गया है। प्रत्यक्ष ज्ञान तथा क्रिया दोनों में ही मन का सहयोग आवश्यक है मन सर्वव्यापक नहीं है क्योंकि एक यंत्र है जिसमें गति या क्रिया रहती है बाह्य करण है। मन अहंकार और बुद्धि अन्तः करण हैं।
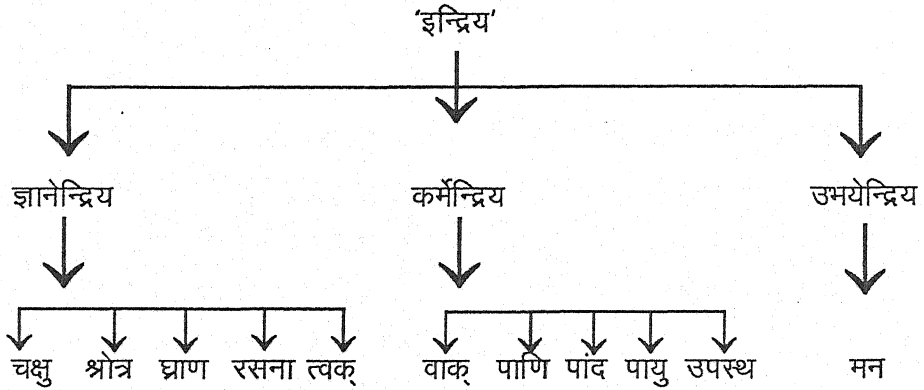
पंचज्ञानेन्द्रियाँ – चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना तथा त्वक् नामक पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं।[138] पांच ज्ञानेन्द्रियां क्रमशः दर्शन, श्रवण, गंध, रस और स्पर्श के व्यापार हैं।[139] इन्द्रियां तत्वों से नहीं बनी है क्योंकि और तत्व अहंकार से उत्पन्न होते हैं। इन्द्रियां नित्य नहीं है क्योंकि उनका उदय और विलोप दिखाई देता है।
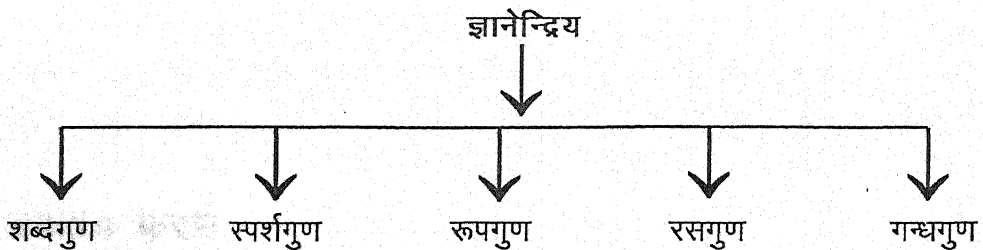
पंचकर्मेन्द्रियाँ – वाक्, पाणी (हाथ), पाद, पायु (मल त्यागेन्द्रिय) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही गई है।[140] जिह्वा, पाद, हस्त, मलत्याग तथा

जनन ये इन इन्द्रियों के व्यापार हैं।[141] विषयों और इन्द्रियों की उत्पत्ति का कारण पुरूष की विषय भोग की इच्छा है।
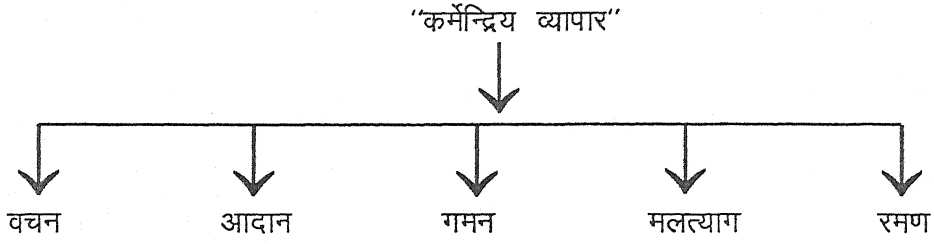
पंचतन्मात्राएं – पंचतन्मात्रयें अविशेष अर्थात् सूक्ष्म विषय हैं इन पाँचों से आकाश आदि पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं जो विशेष अर्थात् स्थूल कहे जाते हैं। क्योंकि ये सुखात्मक, दुखात्मक और मोहात्मक होते हैं।[142] ये पंचतन्मात्रायें शब्द, स्पर्श, रूप रस तथा गंध के सार तत्व हैं इन्हें प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता। इनका ज्ञान अनुमान से होता है।

पंचमहाभूत – सांख्य मत के अनुसार पंचमहाभूत पंचामात्राओं से ही उत्पन्न होते हैं।

आकाश – शब्द तन्मात्र से आकाश और शब्द तन्मात्र के योग से वायु उत्पत्ति होती है।

वायु – स्पर्श तन्मात्र और शब्द तन्मात्र के योग से वायु की उत्पत्ति होती है, जिसके गुण शब्द और स्पर्श हैं।

अग्नि या तेज – रूप तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र ओर शब्द तन्मात्र के योग से अग्नि या तेज क उत्पत्ति होती है, जिसके गुण है – शब्द, स्पर्श तथा रूप।

जल – रसा तन्मात्र, शब्द, स्पर्श तथा रूप तन्मात्र से जल की उत्पत्ति होती है, जिसके गुण है – शब्द, स्पर्श, रूप और रस।

पृथ्वी – गंध तन्मात्र तथा शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस तन्मात्र के योग से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है, जिसके गुण हैं – शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध।

इस प्रकार उपर्युक्त क्रम में प्रत्येक परवर्ति में पूर्ववर्ति के गुण भी आ जाते हैं, क्योंकि उनके तत्व एक–दूसरे से मिलते हुए आगे बढ़ते हैं।

इस प्रकार संपूर्ण विकासक्रम में चार प्रकार के तत्व हैं – मूल प्रकृति, विकृति, प्रकृति–विकृति तथा प्रकृति–विकृति रहित। विकास से उत्पन्न ये पदार्थ जो अपने समान अन्य पदार्थो को उत्पन्न करने में समर्थ है – अविशेष कहलाते हैं, और जा अपने सदृश अन्य पदार्थो को उत्पन्न करने में समर्थ नही है वे विशेष कहलाते हैं।

4.3.3.9 करण

सांख्य दर्शन में 'करण' की चर्चा की गई है – करण तेरह प्रकार के हैं। वे आदान धारण तथा प्रकाश करने वाले हैं।[143] ये करण पारस्परिक अभिप्राय संकेत

(अर्थात् – एक दूसरे के स्व–स्व कार्योन्मुखता) के कारण अपने–अपने व्यापार में संलग्न होते हैं। करणों की इन व्यापारशीलता में पुरूषार्थ ही एकमात्र कारण है अन्य कोई (ईश्वर या आत्मा इत्यादि) प्रयोजन या कारण नहीं है।[144] सांख्य दर्शन में महत् अंहकार तथा मन को अन्तःकरण तथा दस इन्द्रियों को बाह्य करण कहा गया है। तीनों अन्तःकरणों के अपने–अपने लक्षण ही उसके व्यापार हैं। ये प्रत्येक की विशिष्ट व्यापार है। 'प्राण' इत्यादि पंचवायु इनके सामान्य व्यापार हैं।[145] प्रत्येक पदार्थ विषय में चारों ही (ब्राहा तथा विधिक आन्तरिक) करणों का व्यापार कभी एक साथ और कभी क्रमशः होता है। इसी प्रकार परोक्ष पदार्थ के विषय में भी तीनों अन्तः करणों का व्यापार (एक साथ और क्रमशः) प्रत्यक्ष पूर्वक होता है।[146] अन्त करण तीन प्रकार के हैं और इन तीनों (अन्तः करणों) के विषयों को उपस्थित करने वाले बाह्यकरण दस प्रकार के हैं। बाह्यकरण वर्तमान विषयक होते हैं। ओर अन्तःकरण त्रिकाल विषयक।[147] इन दस बाह्यकरणों (इन्द्रियों) में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तो स्थूल और सूक्ष्म (द्विविध) विषयों में प्रवृत्त होती है। कर्मेन्द्रियां में वाक्इन्द्रिय (स्थूल) शब्द के विषय में प्रवृत्त होती है। शेष चारों ही (स्थूल) शब्द, स्पर्श, इत्यादि पाँचों विषयों में प्रवृत्त होती हैं।[148] चूंकि अन्य दोनों अन्तः करणों (मन एवं अहंकार) के साथ बुद्धि समस्त विषयों में व्याप्त होती है, इसलिये ये तीनों अन्तःकरण प्रधान हैं अन्य द्वार या साधन मात्र हैं।[149] गुणों के ही विशिष्ट विकार किन्तु परस्पर विलक्षण ये करण (मन अहंकार तथा बाह्य इन्द्रियां) प्रदीप के समान हैं। ये समस्त पुरूषार्थ को प्रकाशित कर बुद्धि को समर्पित कर देते हैं।[150] चूंकि समस्त विषयों के संबंध में होने वाले पुरूष के भोग को बुद्धि ही सम्पादित करती है और वही प्रकृति एवं पुरूष के सूक्ष्म भेद को प्रकट करती है (इसलिये सभी करण स्वप्रकाशित समस्त अर्थ को बुद्धि को ही सौंपते हैं और इसलिये वही सर्वप्रधान हैं।)[151]
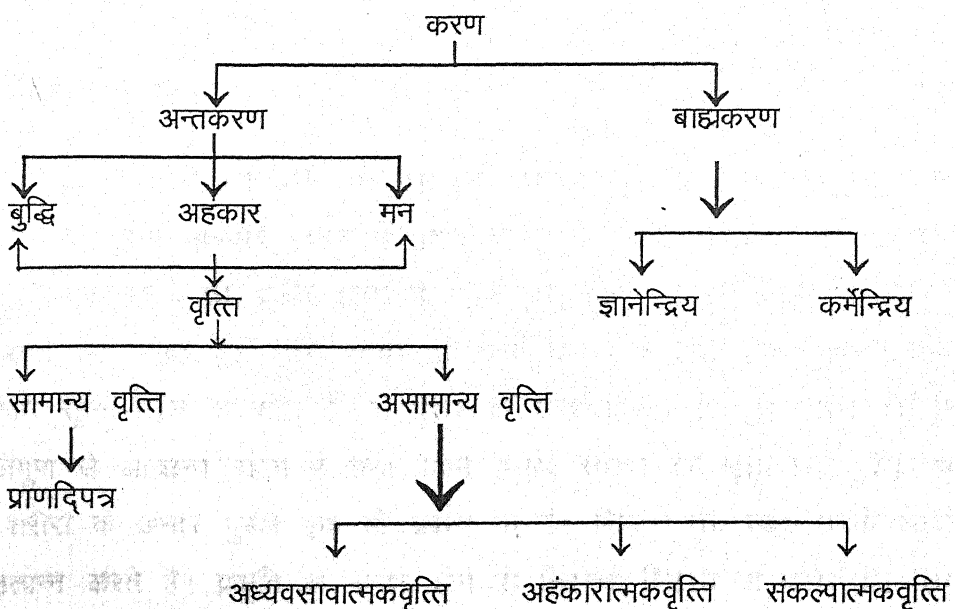
4.3.3.10 लिंग तथा सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर

इस संबंध में सांख्य दर्शन में कहा गया है – सूक्ष्म शरीर, माता और पिता से उत्पन्न स्थूल शरीर और पंचमहा भूत ये तीन प्रकार के स्थूल विषय होते हैं। इसमें सूक्ष्म शरीर नित्य होते हैं किन्तु माता, पिता से उत्पन्न शरीर अनित्य होते हैं।[152] जैसे आधार के बिना चित्र और स्तम्भ के बिना छाया नहीं रहती उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर रूप विशेष के बिना आश्रयहीन लिंग अर्थात् बुद्धि, अंधकार आदि भी नहीं रह सकते हैं।[153]

पुरूष वह आत्मा है जो नित्य है और अपने आप में एक है जबकि जीव प्राकृतिक जगत् का एक अंश है। अहं भावों सत्ताओं के जगत् में उसके साथ की सत्तायें हैं तथा भौतिक पदार्थो से अधिक परमरूप में यथार्थ नहीं है। अहं भावों का हम अन्य सत्ताओं की भांति उनसे भिन्न रूप में अनुभव कर सकते हैं। प्रत्येक अहं भाव मूर्तरूप भौतिक शरीर के अन्दर जो मृत्यु के समय विलीन होकर भंग हो गया है एक ऐसा सूक्ष्म शरीर रखता है जो इन्द्रियों समेत मानसिक अवकरणों से निर्मित है। यह सूक्ष्म शरीर पुर्नजन्म का आधार है।[154] और नानाविध जन्मों में व्यक्तिगत पहचान का तत्व है। यह सूक्ष्म शरीर जिसके अंदर हमारे सब अनुभव के संस्कार कायम रहते हैं 'लिंग शरीर कहलाता है।' अर्थात् वह पुरूष की पहचान कराने वाला चिह्न है। लिंग विशिष्ट लौकिक लक्षण है जिसके बिना भिन्न–भिन्न पुरूषों में भेद नहीं किया जा सकता। प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ होने के कारण उसमें तीनों गुण रहते हैं। लिंग का विशिष्ट लक्षण गुणों के मिश्रण पर निर्भर करता है। प्रत्येक जीवन–इतिहास का अपना लिंग है। जब तक लिंग शरीर उपस्थित है, शरीर जीवन तथा पुनर्जन्म भी रहेंगे।

अत्यंत के नीचे की योनि में तमोगुण प्रधान रहता है। जब रजोगुण प्रधान होता है। तो पुरूष मानवीय जगत् में प्रवेश करता है। जब सत्वगुण प्रधान होता है तो रक्षा पवक ज्ञान की प्राप्ति होती है और मृत्यु होने पर पुरूष और प्रकृति के मध्य बंधन टूट जाता है। आत्मा स्वतंत्र हो जाती है। मोक्ष तथा बंधन रूप परिवर्तन का बंधन सूक्ष्म शरीर के साथ है जो पुरूष के साथ संलग्न हैं सूक्ष्म शरीर रजोगुण व तमोगुण से आच्छन्न रहता है तथा अपने यर्थार्थ स्वरूप को भूला रहता है। सब लिंग शरीरों के अन्दर पुरूष एक ही प्रकार के हैं। लिंग शरीर स्वयं उनके अन्दर भेद उत्पन्न करते हैं। प्रकृति के अन्दर होने से निरन्तर विकास से संबंध है। लिंग

शरीर जो प्रकृति से उत्पन्न है और अचेतन है, पुरूष और प्रकृति के परस्पर संयोग से सचेतन हो जाता है यह कर्म पुनर्जन्म के चक्र में भ्रमण करता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार सृष्टि के आरंभ में जो प्रत्येक पुरूष के लिये आवरण या शरीर पैदा करती है जिसे लिंग या सूक्ष्म शरीर कहते हैं, यह सृष्टि के आरंभ से ही प्रलय पर्यन्त बना रहता है, यह नित्य होता है, इसकी गति अबाध होती है, इसकी रचना महत् तत्व से लेकर सूक्ष्म भूत तक को मिलाकर 18 तत्वों (अहंकार, मन, पंचतन्मात्र, पंच कर्मेन्द्रिय, पंचज्ञानेन्द्रिय एवं महत्) से होती है।[155] लिंग कभी निराश्रय नहीं रहता। गौड़पाद अविशेष अर्थात (सूक्ष्म तन्मात्राओं) को उसका आश्रय मानते हैं तो वाचस्पति विशेष अर्थात् स्थूल शरीर को उसका आश्रय मानते हैं। यह लिंग शरीर ही कर्म संस्कारों से समन्वित होकर नये–नये स्थूल शरीर धारण करता है। पुरूष के भोग का साधन लिंग शरीर ही होता है, स्थूल शरीर नहीं। इसको लिंग की संज्ञा इसलिये दी है कि इसका लय प्रकृति में हो जाता है – लयं गच्छतीति लिड्गम। लिंग अथवा सूक्ष्य शरीर की रचना पुरूष की भोग सिद्धि के लिये हुई है। पर वह विषयों का भोग करने में स्वतः समर्थ नहीं होता अपितु स्थूल शरीर द्वारा ही उसका भोग संभव है। इसलिये स्थूल देह की रचना आवश्यक है। स्थूल शरीर अनन्त है परन्तु योनि भेद से इनके वर्गीकरण भी किये जाते हैं। प्राणी के जन्म से केवल स्थूल शरीर का ही उद्भव नहीं मानना चाहिए अपितु सूक्ष्य शरीर एवं लिंग शरीर भी उसमें अन्तर्निहित होते हैं। व्यक्तित्व के विकास में भावों से अधिवासित सूक्ष्म शरीर का ही सबसे अधिक महत्व है। इस लिंग में ही धर्म, ज्ञान, विज्ञान, ऐश्वर्य और अधर्म, अज्ञान, राग, एवं अनैश्वर्य नामक भाव समन्वित रहते हैं। जिनके भोग के लिये यह भावों से अधिवासित होकर नाना प्रकार के लोकों एवं योनियों में स्थूल शरीर धारण करता हुआ संसरण करता है।[156] पुरूषार्थ के लिये उत्पन्न यह सूक्ष्म शरीर धर्म, अधर्म इत्यादि निमित्त और उसके कार्य स्थूल शरीर से संबंध होने के कारण प्रकृति की विभुत्व शक्ति के संयोग से नट के समान व्यवहार किया करता है।[157]

4.3.3.11. कैवल्य या अपवर्ग

इस संबंध में सांख्यकारिका में विस्तृत चर्चा की गई है – वहां लिंग का पुरूष से भेद न ग्रहीत होने के कारण (अथवा यह भी हो सकता है कि लिंग के विनाश न होने तक) चेतन पुरूष जरा मरण से उत्पन्न दुःख भोगता है। इस प्रकार

स्वभाव से ही दुःखी होता है।[158] प्रकृति द्वारा प्रत्येक पुरूष के मोक्ष के लिये की गई महत्तत्व से लेकर आकाश इत्यादि महाभूतों तक की यह सृष्टि अपने लिये की गई सी प्रतीत होती हुई भी वस्तुतः दूसरे अर्थात् पुरूष के लिये ही है।[159] जैसे बछड़े के बढ़ने के लिये अचेतन दुग्ध (स्वतः) निकलता है वैसे ही पुरूष के मोक्ष के लिये (अचेतन) प्रकृति भी स्वतः प्रवृत्त होती है।[160] इस प्रकार इनके उदाहरण के साथ कैवल्य के संबंध में चर्चा हुई है। जैसे स्वेच्छा की पूर्ति के लिये लोग कार्यो में प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार प्रकृति (भी) पुरूष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होती है।[161] जैसे नर्तकी रंगस्थ दर्शकों के समक्ष (नृत्य के लिए एक बार) उपस्थित होन के बाद फिर नृत्य नहीं करती उसी प्रकार प्रकृति पुरूष के समक्ष अपने को प्रकट (उपस्थित) कर देने के बाद फिर (उसके विषय में) प्रवृत्त नहीं होती है।[162] गुणवती एवं उपकारिणी प्रकृति बिना किसी स्वार्थ के ही इस निर्गुण एंव प्रत्युपकार – विहीन पुरूष का अनेक उपायों द्वारा कार्य साधन करती है।[163] प्रकृति से अधिक लज्जालु कोई भी नहीं है, जो यह ज्ञान होते ही कि पुरूष ने मुझे देख लिया, फिर उसक दृष्टि में नहीं आती है।[164] इसलिये वस्तुतः किसी पुरूष का न तो बंधन और संसरण ही होता है और न मोक्ष ही। अनेक पुरूषों के आश्रय से रहने वाली प्रकृति का ही संसरण बंधन और मोक्ष होता है।[165] प्रकृति स्वयं सात रूपों द्वारा स्वयं को ही बांधती है और वही अपने एक रूप द्वारा पुरूषार्थ सिद्धि के लिये स्वयं को मुक्त करती है।[166]

अगले अध्याय में सांख्य दर्शन के शैक्षिक निहतार्थो की विस्तार से चर्चा की जायेगी।

संदर्भ अनुक्रम

1. चर्चा संख्या विचारणा – अमर कोष 1–5–2, (भारतीय दर्शन डॉ. उमेश मिश्र पृ. 268 से उद्धृत)
2. डॉ उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, 1970, हिन्दी समिति लखनऊ पृ. 268.
3. डॉ. बृजमोहन चतुर्वेदी, सांख्यकारिका, 1969, पृ. 17.
4. संख्या प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते;, तत्वानि च चतुविंशत् तेन सांख्य प्रकीर्तितम् – म. भा. 12/306/43.
5. डॉ. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, 1969, पृ. 247
6. भागवत् महा – 3/25/1,
7. लोके ऽस्मिन्द्विविध निष्ठा पुरा पोक्ता मयानध। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्। (गीता 3/3)
8. सांख्यस्य वक्ता कपिल; परमर्षि सउच्यते। हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यो पुरातनः ।।. (महाभारत) पातंजल योग प्रदीप, स्वामी ओमानन्द संवत 2056, गीता प्रेस गोरखपुर पृ. 69.
9. असंयोह्मयं पुरूष इत्येवमवैतद्याज्ञवल्य–डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र, सांख्य तत्व कैमुदी प्रभा, 1994 अक्षय वट प्रकाशन पृ. 2
10. तमं असीत्तममा गूढमग्रेऽप्रकेतं (ऋग्वेद 10,129,3), वही
11. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र, सांख्य तत्व कौमुदी प्रभा, 1994, पृ.3.
12. वही पृ. 3
13. वही पृ. 3
14. डॉ. रामकृष्ण आयार्च सांख्य कारिका, 1979, पृ. 7.
15. एम. हिरियन्ना, भारतीय दर्शन की रूप रेखा, 1997, राजकमल प्रकाशन, पृ. 266.
16. डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र, 1994, पृ. 605.
17. सनकश्च सनन्दश्चय तृतीयश्च सनातन;। कपिलश्चा; सुरिश्चैव वोढ; पंचशिखस्तया।। सप्तैते ब्राह्मण; पुत्राा; – महाभारत शान्ति। (वही).
18. कपिल परमर्षिन्च यं प्रहुर्यतय; सदा। अग्नि; स कपिलो नाम सांख्य प्रवतक; – महाभारत शान्ति,.। (वही)।
19. वही पृ. 6.
20. आचार्य बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ. 251.
21. सिद्धानां कपिलो मुनि; – (गीता 10/26).
22. आदि विद्वान निर्माण चित्तमधिष्ठाय कारूण्याद भगवान् परमषिरासुरमे जिज्ञासमानाय तंत्र प्रोवाच (1/25) व्यास भाष्य से उदधृत.

23. आचार्य बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन पृ. 252.
24. आद्या प्रसाद मिश्र, सांख्य तत्व कौमुदी प्रभा, 1994, पृ. 10 (सांख्य कारिका की जय मंगला टीका की भूमिका में से उद्धृत)
25. वही पृ. 10.
26. डॉ. उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, पृ. 273
27. वही पृ. 273
28. वही पृ. 277
29. तम आसीततममा गूढ़ग्रऽप्रकेतं (ऋगवेद 10, 129,3).
30. एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पुरूषः पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतः दिवि।। (पातंजल योग प्रदीप, स्वामी ओमानन्द पृ. 81)
31. संयुक्तमेत्क्षरमक्षरं च व्यक्तावयक्त भरते विश्वमीशः – श्वेता, 1/8.
32. आद्याः प्रसाद मिश्र, सांख्य तत्व कौमुदि प्रभा, 1994, पृ. 3.
33. भागवत,3/26/1 (वही).
34. वही, 3/26/11.
35. दृष्टव्य परिशिष्ट 3
36. वही
37. सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षि स उच्चते। हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्याः पुरातनः। (महाभारत).
38. ज्ञान महद् यद्धि महत्वु राजन वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे। यच्चापि दृष्टं पुराणे सांख्यागतम् तन्निखिलं नरेन्द्र।। महाभारत शान्ति पर्व।
39. गीता अध्याय 13/5
40. वही (वही 13/19/12)
41. वही 14/5
42. प्रकुन्यैव च कर्मणि क्रियमाणानि सर्वशः। गीता 13/29
43. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। (गीता 3/27)
44. गुणा गुणेषु वर्तन्ते। (गीता 3/28)
45. निःसत्तासतं निःसदसत् निरसद् अत्यक्तं आलिंग प्रधानम्। व्यास भाष्य 2/19 (आचार्य बलदेव उपाध्याय पृ. 604).
46. एकमेव दर्शन ख्यातिरेव दर्शनम्। बृहासूत्र 2/2/10, शंकर भाष्य की टीका (उमेश चन्द्र मिश्र पृ. 274).
47. चरक संहिता 8/5.

48. वही 8/8.
49. वही 8/9.
50. वही 8/3.
51. वही 16,71.
52. दृष्टव्य परिशिष्ट – 1
53. डॉ उमेश मिश्र भारतीय दर्शन 1970, पृ. 279.
54. सांख्य कारिका –2
55. वही – 4.
56. सांख्य कारिका –5
57. वही – 32.
58. वही – 33.
59. डॉ. उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन पृ. 280
60. सांख्य कारिका –35.
61. वही – 5
62. वहीं.
63. 'अथतत्वपूर्वकम त्रिविधनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च' – न्या. सू. 1/1/5
64. डॉ बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ. 275
65. डॉ बृजमोहन चतुर्वेदी, सांख्य कारिका, 1969 पृ. 75
66. सांख्य कारिका – 3
67. सांख्य कारिका –9
68. डॉ. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन 1969, पृ. 256
69. नहिं नीलं शिल्पि सहस्त्रेणदि पीतं कर्तु शक्यते. तत्व कौमुदि पृ. 9
70. तत्वकौमुदी, पृ. 9
71. सांख्य कारिका – 15
72. एम. हिरण्याना, पृ. 280
73. सांख्य कारिका – 31
74. योग भाष्य – 3:14
75. वही – 3:13
76. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, 1969, पृ. 257
77. सांख्य प्रवचन सूत्र, 1/121
78. सांख्य कारिका – 12

79. वर्तमान विज्ञान की भाषा में Atomic Particles इसे कहा जाता है– गुरूदत्त, हमारी सांस्कृतिक धरोहर पृ. 142.
80. सांख्य कारिका – 13
81. वही
82. वही
83. प्रकाश क्रिया स्थिति शीलम् (योग सूत्र, 2/18)
84. सांख्य कारिका –12
85. सांख्य कारिका – 13.
86. राधाकृष्णन भारतीय दर्शन पृ. 212
87. योग भाष्य 2/18
88. राधाकृष्णन भारतीय दर्शन
89. सांख्य कारिका – 15, 16
90. राधाकृष्णन भारतीय दर्शन 1969 पृ. 258
91. सांख्य कारिका – 15, 16
92. प्र = पहले, कृति = सृष्टि रचना अथवा प्र = आगे, कृति = बनाना – डॉ. राधाकृष्णन भारतीय दर्शन पृ. 260
93. प्रधीयते – सांख्य प्रवचन भाष्य, 1/125
94. भगवत्गीता 14/3
95. सांख्य कारिका – 10
96. सत्व्, रजस, तमसाम् साम्यावस्था प्रकृतिः – सांख्य दर्शन सूत्र 1/16
97. सांख्य कारिका – 11
98. सत्व्, रजस्, तमसाम् साम्यावस्था प्रकृतिः – सांख्य दर्शन सूत्र 1/16
99. वर्तमान विज्ञान में इसे Atomic Particles कहा जाता है – गुरूदत्त हमारी सांस्कृतिक धरोहर., पृ. 142
100. सांख्य कारिका – 16
101. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, 1969, पृ. 261
102. वही पृ. 277
103. सांख्य कारिका – 17
104. सांख्य प्रवचन सूत्र – 5/129/3/20–21
105. वही 2/29
106. वही 1/146

107. वही 1/148
108. वही 1/61
109. वही 6/11
110. सांख्य कारिका –19
111. वृहदारण्यक उपनिषद, 4/3
112. वही 4/3/15
113. डॉ. उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, पृ. 309
114. सांख्य कारिका – 18
115. डॉ. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन पृ. 279
116. सांख्य कारिका –21
117. योगभाष्य – 2/18
118. राधाकृष्णन भारतीय दर्शन 1969, पृ. 265
119. सांख्य कारिका – 21
120. त्रयाणां त्ववस्थाविशेषाणामादौ पुरूषार्थता कारणं भवति – योग भाष्य 2/19
121. सांख्य कारिका – 22
122. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन 1969 पृ. 265.
123. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन 1969 पृ. 266.
124. सांख्य कारिका –23
125. वही – 37
126. वही – 46
127. वही – 47
128. वही – 49
129. वही – 50
130. वही – 24
131. सांख्य प्रवचन सूत्र– 6/56
132. सांख्य प्रवचन सूत्र, 1/63
133. सांख्य कारिका – 25
134. सांख्य कारिका – 25
135. सांख्य कारिका – 24,25
136. ज्ञानेन्द्रियों के साथ कार्य करने के समय ज्ञानेन्द्रिय के समान रूप का तथा कर्मेन्द्रियों के साथ कार्य करने पर कमेंद्रिय स्वरूप का हो जाता है। इसीलिये इसे उभयात्मक कहा है। उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन, पृ. 289

137. सांख्य कारिका – 27
138. सांख्य कारिका – 26
139. वही – 28
140. वही – 26
141. वही – 28
142. वही – 38
143. वही – 32
144. वही – 31
145. वही – 29
146. सांख्य कारिका – 30
147. वही – 33
148. वही – 34
149. सांख्य कारिका – 35
150. वही – 36
151. वही – 37
152. सांख्य कारिका– 39
153. वही – 41
154. सांख्य प्रवचन सूत्र – 3 : 16
155. सांख्य कारिका – 40
156. सांख्य कारिका – 40
157. वही – 42
158. वही – 55
159. वही – 56
160. वही – 57
161. वही – 58
162. वही – 59
163. वही – 60
164. सांख्य कारिका – 61
165. वही – 62
166. वही – 63

अध्याय पंचम्

सांख्य दर्शन के शैक्षिक निहितार्थ

अध्याय चतुर्थ में सांख्य दर्शन पर विस्तृत विचार किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में सांख्य दर्शन के शैक्षिक निहितार्थ की चर्चा की जायगी।

5.0.0 सांख्य दर्शन के शैक्षिक निहितार्थ

सांख्य दर्शन के शैक्षिक निहितार्थ के संबंध में महत्वपूर्ण तथ्य निम्नानुसार है –

1. सांख्य दर्शन, शिक्षा के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक इन दोनों पक्षों की पूर्ति करने में समर्थ है। सांख्य दर्शन ज्ञानात्मक पक्ष से संबंधित सामग्री प्रस्तुत करता है तो योगदर्शन व्यावहारिक पक्ष की पूर्ति करता है।

2. सांख्य का 'सृष्टि – विकास' का सिद्धांत 'बाल – विकास' का एक क्रमबद्ध सिंद्धांत प्रस्तुत करता है जो कि शैक्षिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

3. सांख्य दर्शन का तात्विक–विवेचन एंव विकास क्रम भी शैक्षिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है उदाहरण स्वरूप ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां प्रत्यक्ष ज्ञान का सर्वप्रथम माध्यम हैं। मन, अहंकार तथा बुद्धि क्रमशः चित्त के ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं संकल्पनात्मक पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ज्ञान–प्राप्ति की प्रक्रिया में इन्द्रियां अनुभूत – विषय सामग्री को मन तक पहुंचा देती है, मन संकल्प करके अहंकार के पास भेजता है और अहंकार उसके साथ तादात्म्य करके निश्चय हेतु बुद्धि के पास भेजता है। बुद्धि संवेद्य–विषय के रूप में रूपांतरित होकर अहंकार के माध्यम द्वारा मन को कर्म करने के लिए पुनः प्रेषित कर देती है, और मन ज्ञानेन्द्रिय अथवा कर्मेन्द्रिय अथवा दोनों के मिश्रित योग से अपेक्षित कार्य सम्पन्न करता है। इसे आगामी पृष्ठ पर अंकित आलेख द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है।

4. सांख्य दर्शन का 'सत्कार्यवाद' शैक्षिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस पर आधारित कार्य–कारण सिद्धांत का शिक्षा में सार्थक उपयोग किया जा सकता है तथा बदलते हुए समय एवं परिस्थितियों के अनुसार पाठ्यचर्या में परिवर्तन एवं विकास किया जा सकता है।

तात्विक विवेचन एवं विकास क्रम शैक्षिक दृष्टि कोण से
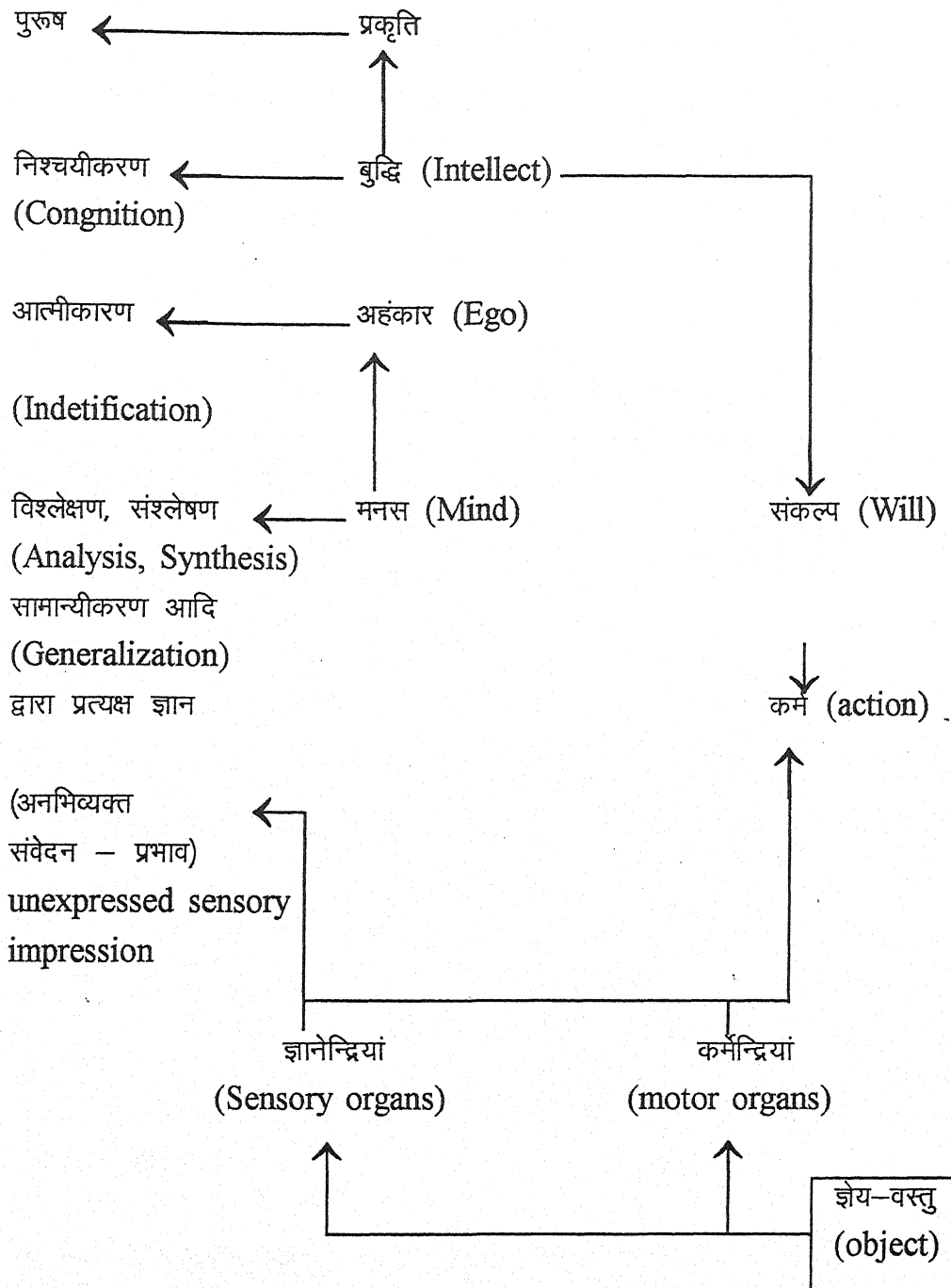
5. सांख्य दर्शन का 'व्यक्ताव्यक्तज्ञ' का सिद्धांत शैक्षिक पाठ्यचर्या के लिये महत्वपूर्ण मार्गदर्शक है। सांख्य का कैवल्य संबंधी ज्ञान शैक्षिक उद्देश्यों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

6. सांख्य दर्शन के 'त्रिगुण' (सत्व, रजस एवं तमस्) शैक्षिक दृष्टि से अत्यंत उपयोगी है।

7. सांख्य के प्रमाण शिक्षण–विधियों की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी एंव मार्गदर्शक हैं।

8. सांख्य दर्शन 'चित्त' की बहुत ही गहन एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या करता है शैक्षिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी एवं व्यावहारिक है।

9. सांख्य दर्शन पाठ्यचर्या के उद्देश्य, विषयवस्तु, शिक्षण विधि एवं मूल्यांकन के संबंध पर्याप्त सामग्री उपलब्ध कराता है एवं मार्गदर्शन देता है जिसका विवेचन इसी अध्याय में किया गया है।

सांख्य दर्शन पर आधारित शिक्षा
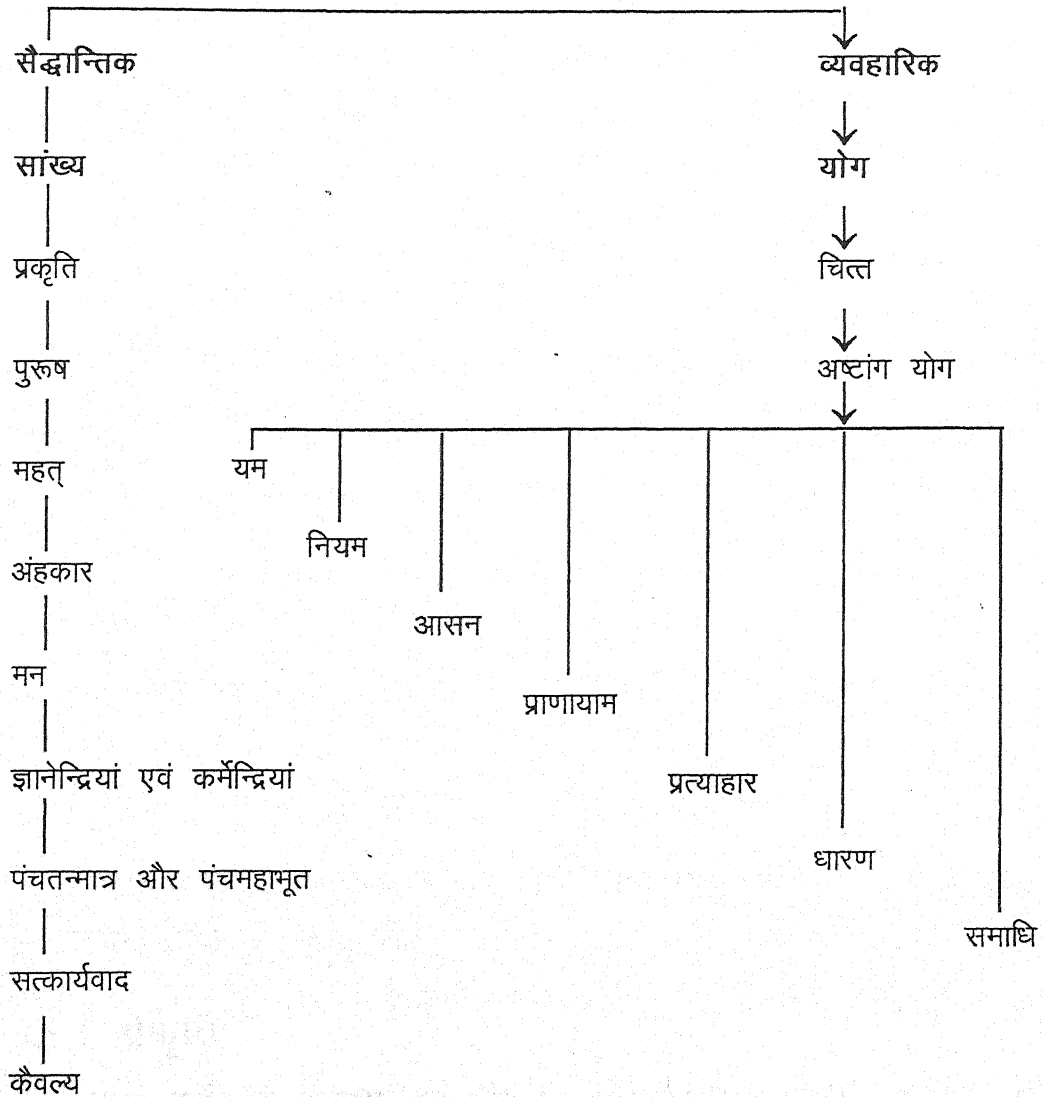
स्पष्ट है कि सांख्य दर्शन के उपर्युक्त शैक्षिक निहितार्थो के आधार पर सांख्य दर्शन पर आधारित शिक्षा के प्रमुख अंगों–उद्देश्य, विषयवस्तु, शिक्षण विधियों एवं मूल्यांकन आदि विस्तार से पर विवेचन किया जायेगा।

5.1.0. सांख्य दर्शन पर आधारित शैक्षिक उद्देश्य

उद्देश्य पाठ्यचर्या का सर्वप्रमुख अंग है। उद्देश्य के आधार पर ही पाठ्यवस्तु, शिक्षण विधि, मूल्यांकन आदि का निर्धारण होता है।

सांख्य दर्शन के शैक्षिक उद्देश्य जानने हेतु 9 प्रमुख बिन्दुओं को लिया गया है वे हैं – प्रकृति, पुरूष, महत, अंहकार, मन, ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां, पंच तन्मात्रा और पंच महाभूत, सत्कार्यवाद और कैवल्य। सामान्य रूप से सांख्य दर्शन के शैक्षिक उद्देश्य इस प्रकार हैं –

1. सांख्य दर्शन ज्ञान का अतुलित भण्डार है। सांख्य दर्शन का चिंतन स्पष्ट व तथ्यपूर्ण है। इसी प्रकार शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य भी यही है कि व्यक्ति का पूर्ण विकास कर मुक्ति प्रदान करना। इस प्रकार सांख्य दर्शन शिक्षा के इस उद्देश्य को पूर्ण करता है।
2. मानव तीन प्रकार के दुःखों से दुःखी है, दुःख तीन प्रकार के हैं[1] – आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक – इसका ज्ञान प्रदान करना।
3. व्यक्त, अव्यक्त और ज्ञ का तत्व ज्ञान प्रदान करना।[2]
4. ज्ञान ही मुक्ति एवं दुःख निवृत्ति का साधन है यह बताना।[3]
5. प्रकृति, पुरूष, महतादि पच्चीस तत्वों का यथार्थ ज्ञान कराना।[4]
6. द्वैतवाद का ज्ञान देना।[5] प्रकृति एवं पुरूष के मध्य संबंध का ज्ञान प्रदान करना।
7. कार्य–कारण सिद्धांत की जानकारी प्रदान करना।[6]
8. सत्व्, रजस् – एवं तमस् इन तीन गुणों का ज्ञान प्रदान करना।[7]
9 तीन प्रमाणों की जानकारी देना।[8]
10. सृष्टि की उत्पत्ति एवं विकास का ज्ञान प्रदान करना।[9]

    सांख्य दर्शन के प्रमुख 9 बिन्दु के आधार पर शैक्षिक उद्देश्यों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

5.1.1. प्रकृति[10]

सांख्य दर्शन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व प्रधान या मूल प्रकृति है। प्रकृति को विश्व का आधार माना है। अतः प्रकृति से संबंधित शैक्षिक उद्देश्य निम्नानुसार हो सकते है –

(i) प्रकृति सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है यह बताना।

(ii) प्रकृति के गुण व विशेषताओं की जानकारी देना।

(iii) संसार की विभिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति का कारण क्या है? इसे जानने की उत्सुकता पैदा करना।

(iv) संसार की समस्त वस्तुओं का ज्ञान प्रदान करना।

(v) संसार का वह ऋणी कैसे हैं? इसका ज्ञान प्रदान करना। बदले में उसके क्या कर्तव्य हैं? इसके लिये तैयार करना।

(vi) प्राकृतिक संसाधनों के प्रति संचेतना एवं रख रखाव के प्रति जागरूकता पैदा करना।

(vii) कर्तव्य पालन एवं स्वावलम्बन आदि भावनाओं का विकास करना।

(viii) सत्व, रज, तम इन तीन गुणों का महत्व एवं जीवन में उपयोग बताना।

(ix) हर एक वस्तु त्रिगुणात्मक है[11] पर हर एक वस्तु में कोई एक गुण प्रधान होता है और दूसरे गौण, इसका ज्ञान प्रदान करना।

5.1.2. पुरूष[12]

सांख्य के तत्वों में दूसरा प्रमुख तत्व 'ज्ञ' है। इसे 'पुमान्' अर्थात् पुरूष भी कहते हैं। जिस सत्ता को अधिकांशतः भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा कहा है उसी सत्ता को सांख्य ने पुरूष की संज्ञा से विभूषित किया है। सांख्य का यह तत्व शिक्षा की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है अतः निम्नलिखित शैक्षिक उद्देश्य बतलाये जा सकते हैं –

1. संसार में कोई न कोई अन्तिम सत्ता होती है वह ही चरम सत्ता है इसका ज्ञान प्रदान करना।
2. संसार का भोक्ता कौन है? इसे जानने की उत्सुकता पैदा करना।
3. आत्मा के गुण एवं विशेषताओं से परिचित कराना।
4. अनेकात्मवाद के सिद्धांत से परिचित कराना।

5.1.3. महत[13]

सृष्टि का उदय प्रकृति और पुरूष दोनों के संयोग का फल है। प्रकृति में

क्षोभ होकर जो पहले पहल तत्व उत्पन्न होता है उसका नाम महत–तत्व है। यह तत्व हमारे देह में बुद्धि रूप में स्थित हैं। ज्ञान प्रदान करके में बुद्धि की भूमिका प्रमुख होती है अतः बुद्धि के शैक्षिक उद्देश्यों हेतु निहितार्थ निम्नानुसार है –

1. महत का अर्थ एवं उत्पत्ति का कारण बताना।
2. महत का महत्व स्पष्ट करना ।
3. बुद्धि का प्रमुख कार्य क्या है? इसे बताना।
4. बुद्धि के गुणों व उसके परिणामों के बारे में बताना।
5. मस्तिष्क की शक्ति से परिचित कराना।
6. बौद्धिक क्षमताओं का विकास करना यथा– विचार करना, निश्चित करना, चिन्तन करना आदि।
7. तार्किक विकास करना।
8. अनुसंधान हेतु प्रवृत्त करना।
9. सावधानी व सर्तकता से निर्णय लेने की क्षमता का विकास करना।
10. धर्म के अर्थ से परिचित कराना एवं उचित धार्मिक भाव पैदा करना, धार्मिक संस्कार पैदा करना।
11. सुखी, सम्पन्न एवं ऐश्वर्य शाली बनने में सहयोग प्रदान करना एवं उनके सही अर्थो से परिचित कराना।
12. अन्ततः वैराग्य की ओर प्रवृत्त करना।
13. स्मरणशक्ति का विकास करना।
14. किसी भी वस्तु के वास्तविक स्वरूप जानने की ओर प्रेरित करना।
15. अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचने में सहायता करना।

5.1.4 अहंकार[14]

प्रकृति का दूसरा विकास अहंकार है। अहंकार का कारण बुद्धि है। देह में उसका काम अभिमान है शैक्षिक दृष्टि से यह तत्व भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बालक को निराभिमानी बनाना व व्यक्तित्व का सही विकास शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। इस दृष्टि से अहंकार तत्व का शैक्षिक उद्देश्यों हेतु निहितार्थ निम्नानुसार हैं –

1. अहंकार की उत्पत्ति के विषय में ज्ञान प्रदान करना।
2. अहंकार अभिमान का पर्याय है इस तथ्य से अवगत कराते हुए निराभिमानी बनने की ओर प्रेरित करना।
3. अहंकार के प्रतिफल बताना।
4. क्योंकि जीव को जगत से जोड़ने वाली कड़ी अहंकार है और इच्छा मात्र से कर्म है अतः शुद्ध कर्मो की प्रेरणा देना एवं उनकी ही इच्छा करना।
5. बालक के संपूर्ण व्यक्तित्व का सही विकास करना।
6. क्रियाशील बनाना।
7. तामसिक गुणों से सात्विक गुणों की ओर बढ़ने में सहायता करना।
8. उत्तरोत्तर सत्कर्म करने के लिए प्रेरित करना।

5.1.5 मन[15]

वैकारिक तथा सात्विक अहंकार 'मनस' उत्पन्न करता है। मन का सहयोग ज्ञान व कर्म दोनों के लिये आवश्यक है। अतः 'मन' का शैक्षिक क्रियाकलाप में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इससे संबंधित उद्देश्य निम्नांकित हो सकते हैं–

1. मन की उत्पत्ति का कारण बताना।
2. मन की विशेषतायें तथा कार्य बताना। जैसे –

   (अ) मन सम्यक् कल्पना का माध्यम है।

   (ब) मन में ही विभिन्न प्रकार की अनभूति होती है।

   (स) मन ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को प्रेरणा प्रदान करता है।
3. उपर्युक्त सभी भावनाओं व कार्यो हेतु उचित मार्गदर्शन प्रदान करना।
4. मन को इस तरह तैयार करना कि वह ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को शुभ कार्यो की ओर प्रेरित कर सकें।
5. भावात्मक विकास करना।
6. सद्इच्छा, सत्संकल्प व सद्ज्ञान हेतु प्रेरित करना, तैयार करना।
7. चिन्तन, मनन, विश्लेषण, संश्लेषण एवं चयन की शक्ति विकसित करना।

8. अवधान केन्द्रित करने की शक्ति पैदा करना।

9. सृष्टि के विभिन्न तत्वों एवं पदार्थो का ज्ञान प्रदान करना।

5.1.6 ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ[16]

सात्विक अहंकार से मन के अतिरिक्त और जो नये तत्व उत्पन्न होते हैं वह है – पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और पांच कर्मेन्द्रियाँ। आध्यात्मिक, नैतिक, मानसिक एवं व्यवसायिक विकास का साधन शरीर अर्थात् प्रत्यक्षतः ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां ही हैं। अतः इस तत्व के शैक्षिक उद्देश्यों हेतु निहितार्थ निम्नलिखित हैं –

1. शरीर के अंगों का ज्ञान कराना।

2. शरीर को हुष्ट–पुष्ट, सुन्दर, सुडौल बनाना एवं उसकी क्षमताओं का विकास करना।

3. शरीर के सभी अंगों एवं संस्थानों की क्रिया में सर्वांगपूर्ण, प्रणाली बद्ध और सामंजस्यपूर्ण विकास करना।

4. पूर्ण निरोगी रहने के लिये आवश्यक जानकारियाँ देना।

5. यदि शरीर में कोई दोष या विकृति हो तो उसे सुधारने संबंधी जानकारियाँ प्रदान करना।

6. समस्त इन्द्रियों को विशेष तौर पर आंख, नाक, कान आदि को निरोग एवं क्षमतावान बनाना।

उपर्युक्त प्रधान उद्देश्य हो सकते हैं इनसे जुड़े हुये अन्य उद्देश्यों की पूर्ति भी संभव है,

उदाहरणार्थ –

1. संतुलित भोजन का ज्ञान प्रदान करना।

2. नियमित समय पर और कितनी मात्रा में भोजन करना इसकी आदत विकसित करना।

3. पानी पीने के नियमों की जानकारी देना।

4. भोजन क्यों करते हैं? इसका ज्ञान प्रदान करना।

5. शारीरिक स्वच्छता का ज्ञान प्रदान करना। शरीर के विभिन्न अंगों की स्वच्छता, रहने एवं बैठने के सामान की स्वच्छता संबंधी जानकारी देना।
6. विश्राम की आवश्यकता का ज्ञान प्रदान करना। विश्राम का समय, अवधि एवं स्थान आदि के संबंध में ज्ञान प्रदान करना।
7. योगासन, विश्राम में किस प्रकार सहयोगी है इसकी जानकारी देना।
8. व्यायाम का महत्व बताना।
9. व्यायाम करना क्यों आवश्यक है इसकी जानकारी देना।
10. विभिन्न प्रकार के योगासन एवं खेल की जानकारी देना।
11. खेल कूद व व्यायाम को दैनिक कार्यक्रम का अंग बनाने का प्रयास करना।
12. स्वस्थ आदतों, नियमितता एवं सद्विचार का शारीरिक विकास में महत्वपूर्ण स्थान है इसका ज्ञान प्रदान करना।

भारतीय मनोविज्ञान में मानव की भौतिक काया को स्थूल शरीर कहा गया है। इस स्थूल शरीर के दो भाग हैं – स्थूल देह को 'अन्नमय कोष' तथा दूसरे भाग को 'प्राणमय कोष' कहा जाता है। सामान्य भाषा में अन्नमय कोष के विकास को शारीरिक विकास एंव प्राणमय कोष के विकास को संवेदात्मक विकास कहा जाता है। उपर्युक्त बिंदुओं द्वारा शारीरिक विकास के उद्देश्य स्पष्ट होते हैं। प्राणिक विकास से संबंधित उद्देश्य निम्नलिखित हैं –

1. शरीर विज्ञान का ज्ञान प्रदान करना। इसके अंतर्गत शरीर की रचना, शरीर के ब्राह्य तथा आंतरिक अंगों और क्रियाओं का ज्ञान प्रदान करना।
2. इन्द्रियों के विकास तथा उपयोग संबंधी ज्ञान प्रदान करना।
3. देखना, सुनना, सूंघना चखना और स्पर्श आदि ज्ञानेन्द्रियों की संवेदन शीलता और चेतना के विस्तार के लिये प्रशिक्षण प्रदान करना।
4. शुद्ध वस्तु को ग्रहण करने का अभ्यास करना।
5. सौन्दर्य बोध और विवेक विकसित करना।
6. अच्छे संवेगों जैसे उत्साह, आगे बढ़ने की वृत्ति, प्रफुल्लता, प्रेम, दया, करूणा, आदि का विकास करना।

7. क्रियाशीलता, अनुशासन, सहनशीलता, नियमितता, आत्म निरीक्षण आदि सद्गुणों व अच्छी आदतों का विकास करना।
8. इस हेतु विभिन्न योगासनों एवं प्राणायाम का ज्ञान प्रदान कराना।

इन्द्रियां मानव शरीर को केवल सुख देने का. माध्यम नहीं है अपितु वह अपने जीवन के लक्ष्य प्राप्ति (मोक्ष आदि) का साधन भी हैं। अतः आध्यात्मिक दृष्टिकोण से निम्नांकित उद्देश्य होंगें –

1. शिक्षा के अन्तिम लक्ष्यों की प्राप्ति का आधार यह शरीर है इस तरह के भाव पैदा करना।
2. शरीर में प्रकाश रूप आत्मा का वास होता है इसका ज्ञान प्रदान करना।
3. शरीर की महत्ता एवं सम्मान का स्थायी भाव पैदा करना।

उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु उचित वातावरण एवं परिस्थिति का निर्माण होना आवश्यक है इस हेतु एक निश्चित कार्यक्रम बनाया जा सकता है। अतः पाठ्यचर्या निर्माण करते समय निम्नलिखित उद्देश्यों को भी स्थान दिया जा सकता है।

1. ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्दियों के विकास हेतु विभिन्न गतिविधियों एवं क्रियाकलापों का आयोजन करना। जैसे – स्काउटिंग, एन.सी.सी. आदि।
2. प्राथमिक चिकित्सा का ज्ञान एवं प्रशिक्षण प्रदान करना।
3. घोष वादन (बैण्ड) का प्रशिक्षण प्रदान करना।
4. संगीत–शिक्षण की व्यवस्था करना।
5. शारीरिक शिक्षा व स्वास्थ्य के प्रति चेतना जागृत करना।
6. अच्छे ग्रंथों एवं पत्र पत्रिकाओं के स्वाध्याय हेतु प्रोत्साहित करना।
7. खेल का ज्ञान एवं प्रशिक्षण प्रदान करना।

5.1.7. पंचतन्मात्रा एवं पंच महाभूत[17]

तामस् से पंचतन्मात्राओं का विकास होता है। पंच–तन्मात्र से पंच महाभूतों का प्रादुर्भाव होता है। पंच–तन्मात्रा सूक्ष्म है जबकि पंच महाभूत स्थूल हैं। इस तत्व से शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य पूर्ण होंगे।

1. पंचतन्मात्राओं और पंचमहाभूत की उत्पत्ति तथा विकास की जानकारी देना।
2. तन्मात्रायें पांच है – रंग, स्वाद, गंध, स्पर्श एवं ध्वनि आदि का ज्ञान एवं प्रशिक्षण प्रदान करना।
3. तन्मात्रायें सूक्ष्म हैं विशेष साधना द्वारा देखा जा सकता है इसका ज्ञान देना।
4. तन्मात्राओं की भूमिका एवं उपयोग की जानकारी देना।
5. मानव शरीर पंचतत्व से निर्मित है इसका ज्ञान देना।
6. पृथ्वी जल, वायु, अग्नि एवं आकाश इन पंच तत्वों का ज्ञान प्रदान करना।
7. पंच महाभूतों के गुण, महत्व एवं लाभ से परिचित कराना।
8. प्राकृतिक पर्यावरण का ज्ञान प्रदान करना।
9. पर्यावरण के प्रति चेतना का विकास करना।
10. प्राकृतिक संसाधनों के समुचित उपयोग एवं सुरक्षा के भाव पैदा करना।
11. दूषित पर्यावरण की जानकारी देते हुए पर्यावरण प्रदूषण के परिणामों के प्रति सचेत करना।
12. व्यक्तित्व विकास में योगदान देना।

5.1.8 सत्कार्यवाद[18]

कार्य–कारण के विषय में सांख्य दर्शन का अपना एक विशिष्ट मत है जो सत्कार्यवाद के नाम से विख्यात है। शिक्षा की दृष्टि से यह सिद्धांत अत्यन्त महत्वपूर्ण है एवं इस सिद्धांत का शैक्षिक उद्देश्यों हेतु निहितार्थ निम्नानुसार है।

1. सत् कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति होती है इसकी समझ उत्पन्न करना।
2. कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता है इसकी समझ विकसित करना।
3. कार्य तथा कारण एक ही तत्व की बाह्य तथा अन्तर दशायें हैं यह ज्ञान देना।
4. जो असद् है उससे सत् का निर्माण असम्भव है यह ज्ञान देना।
5. सभी से सब कुछ उत्पन्न नहीं होता इसका ज्ञान देना।
6. विकासवाद के सिद्धांत को स्पष्ट करना।

7. विश्व का अन्तिम कारण प्रकृति है इस तथ्य को समझाना।

8. किसी विशेष के लिये विशेष उपादान या सामग्री को ग्रहण करना पड़ता है इसका ज्ञान कराना।

9. जो स्वभाव कारण का होता है कार्य भी उसी स्वभाव वाला होता है इसका ज्ञान करना।

10. कार्य–कारण सिद्धांत का ज्ञान कराना।

11. सद्–कार्य करने की और प्रेरित करना।

5.1.9. कैवल्य[19]

सांख्य के अनुसार सुख, दुःख सापेक्षिक शब्द है। दुःख के अभाव होने पर सुख की भी सत्ता सिद्ध नहीं होती। दुःखत्रय की आत्यन्तिकी निवृत्ति ही मोक्ष है। जिसको पाने का मार्ग है – 'विवेक ख्याति' अर्थात 'विवेक ज्ञान'। 'व्यक्त','अव्यक्त' और 'ज्ञ' के तत्व ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति या कैवल्य संभव है। इससे संबंधित उद्देश्य इस प्रकार हैं –

1. दुःखत्रय का ज्ञान देना।

2. दुःखत्रय से मुक्ति का मार्ग बताना।

3. दुःख के कारणों का ज्ञान कराना।

4. विवेक – ज्ञान जागृत करना ।

5. पूर्णता की ओर ले जाना।

5.2.0 – सांख्य दर्शन में निहित विषयवस्तु

विषयवस्तु की दृष्टि से सांख्य दर्शन अत्यन्त विषद और समृद्ध है। इसके विचार और सिद्धांत जिज्ञासाओं को शांत करने का प्रमुख माध्यम है। यह अनेक गूढ़ और गंभीर प्रश्नों के उत्तर, तर्कपूर्ण एवं वैज्ञानिक तरीके से देने में सक्षम है। सांख्य दर्शन में निहित विषय वस्तु की शैक्षिक दृष्टि से प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार है –

– सांख्य दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। वह दो तत्वों को मूलभूत और चरम सत्ता मानता है एक तो पुरूष और दूसरा है प्रकृति। ये दोनों स्वतंत्र और मौलिक

तत्व हैं। दोनों नित्य हैं, एक दूसरे पर अनाश्रित हैं। प्रकृति व पुरूष एक दूसरे के प्रतिकूल हैं।

- संसार प्रकृति प्ररूष के द्वन्द्व के संयोग से आविर्भूत हुआ है।
- प्रकृति क्रमिक विकास का परिणाम है।
- सांख्य दर्शन में तत्वों की संख्या बताई है। सांख्य दर्शन में 25 तत्व माने हैं।
- सांख्य दर्शन की मूल प्रवृत्ति है दुःख, दुःख का ज्ञान और उसके निवारण के उपाय प्रकृति पुरूष के विवेक ज्ञान से दुःख के निवारण का पथ प्रशस्त होता है।
- सांख्य का सारा दर्शन उसके कार्य–कारण सिद्धांत पर आधारित हैं।
- प्रकृति का विकास तीन घटक शक्तियां अथवा गुणों से होता है – सत्व्, रज और तम।

सांख्य दर्शन की विषय वस्तु की शैक्षिक दृष्टि से अन्य महत्वपूर्ण बातों को बिन्दुवार, संक्षेप में, आगे बताया जा रहा है।

5.2.1. प्रकृति

1. सत, रज, तम – इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है।
2. यह संसार की समस्त वस्तुओं को उत्पन्न करती है, परंतु स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती है। प्रकृति जगत का मूल कारण अथवा अन्तिम कारण है। परन्तु स्वंय अकारण है। प्रकृति को प्रधान भी कहा जाता है क्योंकि यह विश्व का प्रथम कारण है।
3. यह इन्द्रियातीत हैं। अतः यह अव्यक्त भी कहलाती है।

- इसे माया भी कहते हैं क्योंकि यह विश्व की समस्त वस्तुओं को सीमित करती है।
- प्रकृति को जड़ कहा जाता है क्योंकि वह मूलतः भौतिक पदार्थ है। अचेतन है फिर भी सक्रिय है।
- प्रकृति को शक्ति कहा जाता है क्योंकि उसमें निरन्तर गति विद्यमान रहती है।
- जगत की वस्तुऐं यद्यपि भिन्न–भिन्न है परन्तु उनमें भी समानता दृष्टिगत होती है।

– प्रकृति नित्य है व्यापक है और स्वतंत्र है। प्रकृति अपने भीतर से समस्त वस्तुओं को उत्पन्न करती है और प्रलय दशा में फिर उसे उनके भीतर निविष्ट कर लेती है।

4. सत्व, रज और तम ये तीनों गुण जगत के प्रत्येक पदार्थ में सदा विद्यमान रहते हैं तीनों गुणों की अपनी–अपनी विशेषतायें हैं ये सतत परिणाम शाली होते हैं। ये समय परिवर्तन, परिणाम या विकार उत्पन्न करते रहते हैं। संसार में जो भेद पाये पाये हैं ये इन तीनों गुणों की भिन्न–भिन्न मात्रा के कारण हैं। हर मानव में तीनों गुण अलग–अलग मात्रा में उपस्थित होते हैं प्रायः एक दूसरे की पुष्टि करते हैं व एक दूसरे से मिले जुले रहते हैं। इन तीनों गुणों का परिचारिक संबंध उसी प्रकार का है जैसे दीपशिखा, तेल व दीपक की बाती का है।

5.2.2 पुरूष

संसार का कोई न कोई अधिष्ठाता होता है और वह है पुरूष जिसे कि दूसरे शब्दों में आत्मा कह सकते हैं।

1. अन्तिम सत्ता किसी ने किसी के पास होती है।
2. पुरूष स्वंय सिद्ध है तथा अभौतिक अर्थात् आध्यात्मिक है।
3. आत्मा का न जन्म होता है न मृत्यु होती है वह परिवर्तनशील है। वह त्रिगुणातीत होती है। वह सुःख–दुःख, पाप–पुण्य आदि से रहित है।
4. मोक्ष अथवा कैवल्य आत्मा का ही होता है।
5. पुरूष की संख्या अनेक हैं। जितने जीव हैं उतनी ही आत्मायें हैं।
6. इस संसार का कोई भोक्ता होना चाहिये वह भोक्ता पुरूष ही है। वह संसार चक्र का अधिष्ठाता है। समग्र संसार के प्राणियों की प्रकृति मोक्ष के लिये है। यह शास्त्र वचन है। अतः शास्त्र वचनों के अनुसार परम शांति तथा दुःखाति का अभाव जिसमें हो वह प्रकृति से भिन्न तत्व होना चाहिये, अर्थात् ऋषियों की प्रवृत्ति और शास्त्र की प्रेरणा कैवल्य के लिये होने के कारण बुद्धि आदि तत्वों से पुरूष भिन्न हैं।

5.2.3 महत्

1. पुरूष तथा प्रकृति के संयोग से अविर्भाव आने वाला पहला पदार्थ है – महत् या महत्त तत्व। इसे बुद्धि भी कहा जाता है।

2. जगत् की उत्पत्ति का बीजरूप होने से बड़ा महत्व रखता है।

3. बुद्धि जड़ है। परन्तु पुरूष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब उसके ऊपर पड़ता है। जिससे चेतन के समान प्रतीत होती है।

4. बुद्धि का प्रमुख कार्य है – निश्चय (अव्यवसाय)। बुद्धि की सहायता से किसी विषय में निर्णय किया जाता है अन्य कामों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है – ज्ञाता और ज्ञेय में भेद स्पष्ट करती है। स्मृतियों का आधार बुद्धि है। बुद्धि का कार्य है किसी बात को ग्रहण करना, उसको समझना। उसके आधार तत्व या सिद्धांत को देख लेना ढूंढ लेना, और ज्ञान और अनुभव के आधार पर प्रत्येक समस्या के समाधान पर शीघ्र पहुंच जाना। इस सभी क्षमताओं का विकास मुख्यतः शक्तियों पर आधारित है जो जन्मजात प्रत्येक मानव को मिली हुई है। ये शक्तियां हैं – विश्लेषण – शक्ति, विवेक–शक्ति, स्मरण–शक्ति, इन शक्तियों के विकास के लिये साधना और अभ्यास करना होता है।

5. बुद्धि की सहायता से पुरूष अपने व प्रकृति के भेद को समझता है तथा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है।

6. बुद्धि में तत्व की प्रधानता अधिक होती है। बुद्धि में सत्वगुण की प्रबलता होती है तो ज्ञान, धर्म, वैराग्य जैसे गुणों का विकास होता है और जब तमोगुण की प्रधानता होती है तो अज्ञान, अधर्म व आसक्ति जैसे प्रतिकूल गुणों का प्रादुर्भाव होता है ।

5.2.4 अहंकार

1. प्रकृति का दूसरा विकार अहंकार है। अहंकार का कारण बुद्धि है।

2. किसी वस्तु के संबंध में, मैं या मेरा भाव रखना अहंकार है ।

– अहंकार के कारण ही मनुष्य में व्यक्तितत्व तथा स्वार्थ की भावना का विकास होता है।

– अहंकार के कारण पुरूष मिथ्या भ्रम में पड़ जाता है।

3. अहंकार त्रिगुणात्मक है – 1. वैकारिक अथवा सात्विक 2. भूतादि अथवा तामस 3. तेजस अथवा राजस। सात्विक अहंकार से मन, पांच ज्ञानेन्द्रियों व पांच कर्मेन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है। तामस अहंकार से पंच तन्मात्राओं का प्रादुर्भाव होता है।

4. पुरूष को जगत से जोड़ने वाली कड़ी है अहंकार – कर्मों की इच्छा व करने की प्रेरणा प्रदान करना अहंकार का ही कार्य है।

5.2.5 मन

मन एक मुख्य इन्द्रिय है। परन्तु उसका इन्द्रियत्व दोनों प्रकार का है। यह कर्मेन्द्रिय भी है और ज्ञानेन्द्रिय भी है। दूसरे शब्दों में मन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के संचालन में सहायता प्रदान करता है।

1. मन सूक्ष्म है, यद्यपि वह सावयव है। इसी कारण वह विभिन्न इन्द्रियों के साथ एक ही साथ एक ही समय संयुक्त हो सकता है।

2. मन का अपना रूप है – संकल्पनात्मक। संकल्प का अर्थ है सद् सम्यक कल्प–कल्पना करना। अर्थात् मन बतलाना है कि कोई सामान्य वस्तु सामान्य न होकर विशिष्ट होती है। मन में ज्ञान, इच्छा आदि संकल्प की अनुभूति एक ही क्षण में हो सकती है।

3. मन ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का अध्यक्ष है। व्यक्ति जो कुछ सुनता है, देखता है, खाता है, पीता है, सूंघता है इन सबका प्रभाव मन पर पड़ता है। जब मन अशुद्ध (विषयासक्त) होता है तो मानव सांसारिक बंधनों में बंधता है। मन ही शुद्ध (विषयाविरक्त) होकर मानव को मुक्त करता है।

4. शुद्ध मन में शिव संकल्प उठते हैं, जो आत्मा को अनन्त शक्ति धारण कराता है और मानव आत्मावान हो जाता है। यह श्रेष्ठस्थिति है। मन और इन्द्रिय आत्मा से दिव्य स्पर्श, दिव्य शब्द, दिव्य रूप, दिव्य रस और दिव्य गंध प्राप्त कर सकते हैं।

5. मन की स्वाभाविक गति जल की भांति नीचे जाने की है, जिसको रोकना ही इसका सदुपयोग है। मन को रोकने के लिये ध्यान आवश्यक है। मन अभ्यास तथा वैराग्य से शुद्ध होता है।

6. मन, बुद्धि के निर्णयों के पालन में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करता है।

5.2.6 ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां

1. सात्विक अहंकार से पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का विकास होता है।
2. पांच ज्ञानेन्द्रियां है – चक्षु, श्रवणेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय। इन पांच इन्द्रियों से क्रमशः रूप, शब्द, गंध, स्वाद और स्पर्श का ज्ञान होता है।
3. पांच कर्मेन्द्रियां हैं – मुख, हाथ, पैर, मलद्वार एवं जननेन्द्रिय। इनके कार्य क्रमशः बोलना, पकड़ना, ग्रहण करना, चलना, फिरना, मल बाहर करना, संतान उत्पन्न करना है।
4. ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान–प्राप्ति का प्राथमिक साधन हैं। ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से प्रदत्तों को एकत्र किया जाता है।
5. कर्मेन्द्रियां का सक्षम और क्रियाशील होना आवश्यक है। सही शारीरिक विकास आवश्यक है। आलस्य प्रमाद से दूर रहना आवश्यक है।
6. बालक का शरीर ज्ञानेन्द्रियों 'कर्मेन्द्रियों', तन्मात्राओं की बनी हुई संरचना है। जीवन में किसी भी कार्य को करने के पूर्व प्रथम आवश्यकता है – स्वस्थ्य शरीर। अतः स्वस्थ शरीर एवं सही शारीरिक विकास के लिये अन्य कुछ बातें का होना आवश्यक है उनमें से प्रमुख है –

(a) **भोजन** – शारीरिक स्वास्थ्य के लिये भोजन संतुलित एंव नियमित होना आवश्यक है।

(b) **स्वच्छता** – शारीरिक स्वच्छता, वस्त्र एवं स्थान आदि की स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये।

(c) **विश्राम** – शरीर को समुचित विश्राम करना चाहिये। विश्राम की अवधि, स्थान आदि के तरीके का ज्ञान कराया जाना चाहिये।

(d) **व्यायाम** – शरीर के विकास के लिये प्रतिदिन व्यायाम आवश्यक है – खेलकूद एवं योगासनों का अभ्यास इस दृष्टि से उपयोगी है।

(e) **सद्विचार एवं नियमितता** – इस तरह की अनेक आदतों एवं अच्छी भावनाओं का विकास छोटी आयु से ही कराया जाये।

5.2.7 पंचतन्मात्रा और पंचमहाभूत

1. तामस् अहंकार से तन्मात्राओं का विकास होता है। तन्मात्र बहुत ही सूक्ष्य होते हैं। योगी को ही उनका प्रत्यक्ष होता है साधारण जनों को नहीं। तन्मात्रायें

पांच प्रकार की होती है – शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। इन्हीं तन्मात्राओं का अधिक विकास होने पर भूत या महाभूत का उदय होता है।

(a) शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है। जिसका गुण–'शब्द' हैं।

(b) शब्द तन्मात्रा + स्पर्श तन्मात्रा से वायु का विकास होता है। वायु का गुण शब्द तथा स्पर्श दोनों हैं।

(c) शब्द तन्मात्रा+स्पर्श तन्मात्रा+रूप तन्मात्रा से तेज गुण का विकास होता है। अग्नि के गुण शब्द, स्पर्श तथा रूप तीनों हैं।

(d) शब्द तन्मात्रा+स्पर्श तन्मात्रा + रूप तन्मात्रा + रस तन्मात्रा से जल का अविर्भाव होता है। जिसके गुण हैं – स्वाद, रूप, स्पर्श तथा शब्द।

(e) शब्द तन्मात्रा + स्पर्श तन्मात्रा + रूप तन्मात्रा + रस तन्मात्रा से जल का अविर्भाव होता है। जिसके गुण हैं – स्वाद, रूप, स्पर्श तथा शब्द।

(f) शब्द तन्मात्रा + स्पर्श तन्मात्रा + रूप तन्मात्रा + रस तन्मात्रा + गंध तन्मात्रा से पृथ्वी का विकास होता है। जिसके गुण हैं – गंध, स्वाद, रूप, स्पर्श और शब्द।

2. पंच 'तन्मात्रा' सूक्ष्म हैं जबकि पंच महाभूत स्थूल हैं।

3. तन्मात्राओं व महाभूतों का सदुपयोग – ज्ञानेन्द्रियों द्वारा इस प्रकार किया जा सकता है –

आकाश– कर्तव्य पालन, शुद्ध कर्मो में कानों और वाणी का उपयोग। सद्गुणों को कहना और सुनना, प्रिय वचन बोलना, विचार कर बोलना।

वायु – निमित्त कर्तव्य करना, शुद्ध कर्म करना, जैसे – सेवा करना, दान देना आदि।

अग्नि – कर्तव्य पालन व अन्य शुद्ध कर्म करना, जैसे – सेवा करना, दान देना आदि।

जल – स्वास्थ्य रक्षा के लिये दोष रहित और गुणकारी भोजन पाना। शरीर से दूषित तत्वों का विसर्जन।

पृथ्वी – गंध, धूप और इत्र का सेवन।

5.2.8 सत्कार्यवाद

कार्य तथा कारण का अटूट संबंध है। क्योंकि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति कारण से ही संभव है। अतः कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य रहता है। सत् कारण से ही सत् कार्य की उत्पत्ति होती है। कार्य अपने कारण में पहले से ही अव्यक्त अवस्था में रहता है। जो व्यक्त होने पर कारण से भिन्न प्रतीत होने लगता है। वास्तव में कारण और कार्य में कोई अन्तर नहीं हैं कारण का परिणाम ही कार्य हैं। अतः वह सकते हैं कार्य और कारण एक तत्व की ब्राह्म और अन्तरदशायें हैं। किसी भी वस्तु की न तो उत्पत्ति होती है और न विनाशकर्ता के व्यवहार से वस्तु का अभिर्भाव मात्र होता है – अव्यक्त वस्तु व्यक्त रूप में प्रकट हो जाती है।

5.2.9. – कैवल्य

1. दुःख तीन प्रकार के होते हैं – आध्यात्मिक, अधिभौतिक एंव आधिदैविक। शरीर से संबंद्ध दुःख आध्यात्मिक कहलाते हैं जैसे – आधि (मानसिक चिंता, उद्वेग, क्रोध आदि) तथा व्याधि (जैसे – शारीरिक रोग, और आघात आदि)। आधिभौतिक दुःख बाहरी पदार्थो के कारण उत्पन्न होने हैं जैसे – सांप काटना आदि। आधिदैविक दुःख किसी ब्राह्म वाधा (जैसे भूत–प्रेत आदि) के कारण उत्पन्न क्लेशों का नाम है।

2. दुःख का कारण है अज्ञान। संसार की वस्तुओं के यथार्थ रूप को न जानने के कारण दुःख उत्पन्न होता है। और ज्यों–ज्यों हम उसके रूप को जानने लगते हैं त्यों–त्यों हमारे दुःख की निवृत्ति होती जाती है। दो मूल तत्व हैं – प्रकृति तथा पुरूष। पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है जो देश, काल और कारणों के बंधन से रहित होता है वह दृष्टा मार्ग है। गुण व क्रिया का संबंध प्रकृति में है। सुख तथा दुख वास्तव में बुद्धि या मन के होते हैं। परन्तु अज्ञान के कारण पुरूष बुद्धि या मन से पृथक नहीं समझता, व्यवहार जगत में पुरूष अपने को प्रकृति से भिन्न नहीं मानता है तथा उसके दुःखों से अपने को दुःखी मानता है। इन आरोपों का जब अन्त होता है तभी पुरूष, दुःखों से अपने को दुःखी मानता है। इन आरोपों का जब अन्त होता है तभी पुरूष, दुःखों से मुक्ति पाता है।

3. इन दुःखों से मुक्ति पाने का नाम है – विवेक ख्याति अर्थात् विवेक ज्ञान,

प्रकृति से पुरूष को अलग समझने का ज्ञान। दुःख से मोक्ष पाने का यही मार्ग है। तत्वाभ्यास के परिणाम से पुरूष में कैवल्य ज्ञान का उदय होता है। ऐसा ज्ञान प्रत्येक मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

4. मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है – जीवमुक्ति तथा विदेहमुक्ति। विवेक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य इसी जन्म में जिस मुक्ति का अनुभव करता है उसे जीवमुक्ति कहते हैं। जीवन मुक्त व्यक्ति कर्म व्यापार से विरत नहीं होता है वह प्रारब्ध कर्मों का सम्पादन करता रहता है। शरीर का नाश हो जाने पर पुरूष एकांतिक (आवश्यम्भावी) तथा आत्यन्तिक (अविनाशी) दुःख त्रय के विनाश को प्राप्त कर लेता है यह विदेहमुक्ति है।

5.3.0 पाठ्यक्रम का स्वरूप

प्रस्तुत अध्याय के प्रारंभ में सांख्य दर्शन पर आधारित शिक्षा के प्रमुख अंगों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। उद्‌देश्य, शिक्षण विधियाँ, विषयवस्तु एवं मूल्यांकन आदि पक्षों पर अध्ययन करने के दौरान ही शोधार्थिनी के मन में यह विचार आया कि क्यों न बालक की विकास की अवस्था के अनुसार पाठ्यक्रम का स्वरूप भी विकसित किया जाये। अतः इस भाग में अत्यन्त संक्षेप रूप में अवस्थानुसार पाठ्यक्रम विकसित करने का प्रयास किया गया है। बालक की विकास की अवस्थाओं हेतु जो आधार बनाये हैं वह हैं – सुरेश भटनागर[20] की शिक्षा मनोविज्ञान की पुस्तक में वर्णित बालक की विकास की अवस्थाएं। इसके साथ ही भारत सरकार के मानव संसाधन मंत्रालय द्वारा गठित समिति द्वारा निर्धारित न्यूनतम अधिगम स्तरों[21] को भी अध्ययन का आधार बनाया गया है। अवस्था के अनुसार पाठ्यक्रम के उद्‌देश्य, शिक्षण विधियां, विषय वस्तु एंव मूल्यांकन, इन पक्षों के आधार पर पाठ्यक्रम विकसित किया गया है। आगे पाठ्यक्रम का स्वरूप अवस्था के अनुसार प्रस्तुत किया जा रहा है। शालीय स्तर तक के पाठ्यक्रम को तीन भागों में बांट सकते हैं –

1. शैशवावस्था के लिये पाठ्यक्रम।
2. बाल्यावस्था के लिये पाठ्यक्रम।
3. किशोरावस्था के लिये पाठ्यक्रम।

5.3.1. शैशवास्था के लिये पाठ्यक्रम

	उद्देश्य	विषयवस्तु	शिक्षण–विधियां	मूल्यांकन
1.	शरीर के अंगों का ज्ञान कराना।	ज्ञानेन्द्रियाँ पांच हैं – आंख, कान, नाक, जीभ एवं त्वचा। कर्मेन्द्रियां पांच हैं – मुख, हाथ, पैर, मलद्वार एवं जननेन्द्रिय।	–इस अवस्था के लिये निम्नांकित शिक्षण विधियां अपनाई जा सकती है।	ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान एंव उनके कार्यो से परिचित हैं
2.	शारीरिक स्वच्छता के तरीके बताना एंव आदत विकसित करना।	शौच संबंधी क्रियाओं का ज्ञान देना एवं करवाना – ब्राह्य शुद्धि के तरीके बताना।	क्रिया–केन्द्रित शिक्षा दी जाये। कहानी विधि द्वारा शिक्षण दिया जाये।	बाह्य शौच की क्रिया से परिचित है एवं उसे अपनाता है।
3.	इन अंगों का समुचित विकास करना।	अवस्था के अनुरूप आसन करवाना। प्रायोगिक कार्य करवाना एवं प्रशिक्षण दिया जाये। आहार विहार के तरीकें का ज्ञान कराया जाये।	गीत एवं कविताओं के माध्यम से शिक्षण दिया जाये।	शरीर संतुलित रूप से विकसित हो रहा है।
4.	संवेगात्मक विकास (प्रेम, दया, करूणा, सहयोग आदि भाव विकसित करना)। आदतों का विकास करना।	ईश्वर – प्राणिधान के प्रारंभिक क्रियाकलाप करवाये जायें। सामुहिक प्रार्थना एवं सामुहिक क्रियाकलाप करवायें। संतोष इस नियम का पालन करवाया जाये।	नियमित प्रार्थना करवाई जाये। अवस्थानुसार सरल आसन करवाये जायें।	प्रेम, दया, करूणा आदि भाव विकसित हो रहे हैं सामुहिक क्रिया कलाप में उत्साह से भाग लेता है। नियमित प्रार्थना आदि करता है।
5.	अच्छी आदतें विकसित करना।	यमों का पालन मुख्यतः सत्य, अहिंसा एवं अस्तेय इनका पालन करवाया जाये।	अनुकरण विधि का प्रयोग किया जाये	सत्यवादी है, अहिंसावादी है, ईमानदार है।
6.	बौद्धिक क्षमताओं का विकास	परिवेशिय वस्तुओं का ज्ञान एवं उपयोग। मिट्टी, जल, वायु, हवा, प्रकाश का ज्ञान एवं	– भ्रमण विधि का प्रयोग ।	पंचमहाभूतों का सामान्य ज्ञान है, कल्पनाशक्ति

		उपयोग के तरीके बताये जायें। शब्द, रूप रस, गंध एवं स्पर्श तन्मात्राओं का प्रशिक्षण जाये।	– शिक्षण सहृदय एवं मृदृ स्वभाव वाला व सहनशील होना चाहिये। – अधिगम सामग्री का प्रयोग, किया जावे। –नियमित दिनचर्या पर बल दिया जाये।	विकसित है, जिज्ञासु है, परिवेशित वस्तुओं का ज्ञान है। दिनचर्या नियमित है। आसन करता है।

5.3.2. बाल्यावस्था के लिये पाठ्यक्रम

	उद्देश्य	विषयवस्तु	शिक्षण–विधियां	मूल्यांकन
1.	शरीर के बाह्य एवं आंतरिक अंगों का ज्ञान प्रदान करना।	ज्ञानेन्द्रियों एंव कर्मेन्द्रियों सहित शारीरिक अंगों का ज्ञान दिया जावे एंव कार्य बताये जायें।	इस अवस्था के लिये निम्नांकित शिक्षण विधियां अपनाई जा सकती हैं।	ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां का एवं उनके क्रियाकलापों का ज्ञान है।
2.	शारीरिक एवं ऐन्द्रिय विकास करना।	शौच की क्रियाएं एवं आसन तथा व्यायाम कराये जायें।	–आवश्यकता पर आधारित शिक्षण किंया जावे।	आंतरिक शुद्धि व ब्राह्य शुद्धि की क्रियाएं करता है। विभिन्न आसन करता है।
3.	स्मरण शक्ति का विकास करना।	सृष्टि निर्माण में सहायक विभिन्न तत्वों एवं मानव विकास में सहायक विभिन्न तत्वों का ज्ञान दिया जाये।	– शिक्षक का व्यवहार समुचित होना चाहिये।	विभिन्न तथ्य कंठाग्र है। स्मरण शक्ति तीव्र है।

4.	कल्पना शक्ति का विकास करना	सृष्टि निर्माण में सहायक विभिन्न तत्वों एवं मानव विकास में सहायक विभिन्न तत्वों का ज्ञान दिया जाये।	आप्त वचन इस विधि का प्रयोग किया जाए।	कल्पना शक्ति विकसित है।
5.	जिज्ञासु बनाना	प्रकृति के विभिन्न तत्वों का एंव पंचमहाभूतों एवं पंचतनमात्रों का ज्ञान कराया जाए।	–अनुमान विधि का प्रयोग किया जाए।	सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया को जानने का प्रयास करता है।
6.	सूक्ष्म चिन्तन शक्ति का विकास करना	प्रकृति के रहस्यों से परिचित कराया जाए।	–प्रत्यक्ष विधि प्रयोग।	चिंतन शक्ति विकसित है, नवीन ज्ञान प्राप्त करता है।
7.	बुद्धि की विभिन्न क्षमताओं का विकास करना।	सत्व, रज एवं तम इन तीनों गुणों कि विभिन्नताओं एवं उनसे होने वाले परिणाम का ज्ञान	–अभ्यास एवं प्रशिक्षिण दिया जाए। नियमित दिन चर्या हेतु प्रयास।	तर्क करता है एवं निश्चय पर पहुंचने का प्रयास करता है।
8.	सद्प्रवृत्तियों का विकास करना।	यमों एवं नियमों का पालन करवाया जाये।	–यमो का सुदृढ़ीकरण अप्रत्यक्ष विधि से किया जाये।	सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि यम दृढ़ हो चुके हैं। संतोषी हैं एवं तप करता है।
9.	स्वास्थ्य प्रतिस्पर्धा, सामाजिकता, मित्रता आदि भावों का विकास करना।	'स्व' के प्रत्यय का सही दिशा में विकास कराया जाये। सृष्टि प्रक्रिया में विकसित विभिन्न सामाजिक, पारिवारिक संगठनों का ज्ञान कराया जाये एवं सामूहिक क्रिया कलाप करवाये जायें। हस्त कला से संबंधित एवं रचनात्मक क्रिया कलाप करवाये जायें जैसे – मिट्टी के खिलौने बनाना, पेड़ पौधों की देखभाल करना, पशुपालन आदि।	–नियमों का पालन प्रदर्शन विधि से करवाया जाये। – प्रार्थना भजन, सांध्य पूजन करवाये जायें।	उत्तरदायित्वों का पालन करता है। परिवार एवं समाज के प्रति सद्भावना है। सामूहिक क्रिया कलाप में भाग लेता है। रचनात्मक कार्य करता है।

10.	मन को एकाग्र करने की शक्ति का विकास करना।	मन को एकाग्र करने की गतिविधियां करवाई जावें जैसे – प्रार्थना, भजन, आसन, प्राणायाम्, ध्यान आदि।	–आहार विहार पर विशेष ध्यान दिया जाये।	नियमित प्रार्थना, भजन करता है। ध्यान केन्द्रित करता है।
11.	कार्य– कारण सिद्धांत का ज्ञान देना।	सत्कार्यवाद के सिद्धांत का ज्ञान उदाहरण सहित कराया जाये।	–ध्यान एंव आसनों हेतु सिद्ध योगी की मदद ली जाये।	कारण एवं परिणामों से परिचित है। सत्कार्य करने के लिए अग्रसर है।
12.	मौलिक एवं रचनात्मक दृष्टिकोण का विकास।	धारणा एवं ध्यान इन योगांगों की मदद से प्रतिभा का विकास। रचनात्मक क्रिया कलाप जैसे – चित्रकारी, कृषिकार्य आदि।	–सत्संग एवं भ्रमण विधि।	रचनात्मक गतिविधियों में एवं मौलिक कार्यो में संलग्न है।
13.	जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के मध्य समायोजन उत्पन्न करने की क्षमता का विकास।	धारणा एवं ध्यान इन योगांगों की मदद से प्रतिभा का विकास। रचनात्मक क्रिया कलाप जैसे – चित्रकारी, कृषिकार्य आदि।	–योग्य एवं प्रशिक्षित योगी द्वारा क्रियाएं करवाई जायें।	जीवन को उत्तरोत्तर ऊंचा उठाने वाली गतिविधियों में संलग्न है।

5.3.3. किशोरावस्था के लिये पाठ्यक्रम

	उद्देश्य	विषयवस्तु	शिक्षण–विधियां	मूल्यांकन
1.	शरीर को हुष्ट पुष्ट एवं सुडोल बनाना।	शरीर के अंगों का विकास करने वाली गतिविधियों नियमित रूप से कराई जायें। जैसे – आसन, व्यायाम आदि।	इस अवस्था के लिये निम्नांकित शिक्षण विधियां अपनाई जा सकती है।	व्यक्तित्व पूर्ण रूप से विकसित है।
2.	शरीर के समस्त अंगों का ज्ञान एवं सामंजस्य पूर्ण विकास	ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां सहित आंतरिक अंगों – मन, बुद्धि एवं अहंकार का ज्ञान दिया जाये।	–शिक्षार्थी की प्रकृति के अनुसार शिक्षण।	आंतरिक एवं बाह्य अंगों का पूर्ण ज्ञान है।

3.	निरोगी एवं क्षमतावान बनाना।	नियम के सभी अंगों का पालन एवं अभ्यास कराया जाये।	–आवश्यकता पर आधारित शिक्षण। – प्रत्यक्ष विधि का प्रयोग	स्वस्थ्य एवं क्षमतावान है।
4.	ज्ञानार्जन की प्रवृत्ति का विकास करना।	पच्चीस तत्वों से एवं उनसे होने वाले परिणामों से परिचित कराया जावे।	– अनुमान विधि का प्रयोग।	ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है।
5.	अमूर्त चिंतन एवं ध्यान केन्द्रित करने की क्षमता का विकास करना।	पुरूष तत्व का ज्ञान प्रदान कराते हुए अन्तिम सत्ता को जानने हेतु वातावरण निर्मित किया जावे।	– शब्द विधि का प्रयोग	ध्यान केन्द्रित करता है।
6.	आंतरिक शक्तियों का विकास करना।	सत्कार्यवाद के सिद्धांत का ज्ञान एवं प्रयोग किया जाये।	– नवीन शिक्षण विधि की खोज एवं प्रयोग	अंतिम लक्ष्य तक पहुंचने का प्रयास करता है।
7.	बैद्धिक क्षमताओं का विकास।	त्रिगुण एवं उनके कार्य, प्रभाव एवं परिणामों का ज्ञान। चित्त एवं उसकी अवस्थाओं का ज्ञान एवं विकास कराया जाये।	– रूचि एवं संवेगों को ध्यान में रखते हुए शिक्षण। प्रशिक्षण दिया जाये।	तर्क शक्ति है एवं निर्णय कर सकता है।
8.	विशिष्ट रूचियों का विकास करना।	सत्व, रज एवं तम इन तीन गुणों का ज्ञान प्रदान करना एवं इनके आधार पर सतोगुणी बनाया जाये।	–नियमित अभ्यास कराया जाये।	सतोगुणी है।
9.	सहानुभूति, दया, प्रेम एवं देश भक्ति जैसे भावों को विकसित करना।	'अहंकार' इस तत्व को सही दिशा में विकसित करने वाले क्रियाकलाप करवाये जायें। जैसे– समाजोपयोगी उत्पादक कार्य आदि।	–सामुहिक क्रियाकलाप कराये जायें।	सद्भावनाएं विकसित है।

10.	मित्रता, उत्तरदायित्व, उदारता, सहनशीलता आदि नैतिक मूल्यों का विकास करना।	त्रिगुणात्मक प्रकृति के परिणामों की मदद से विभिन्न गुणों का विकास किया जाये।	–आसन, प्राणायाम एवं ध्यान की क्रियाएं नियमित है।	नैतिक मूल्य विकसित है। जीविकोपार्जन के अच्छे तरीके स्वीकारता है।
11.	स्वाभिमानी एवं आत्मनिर्भर बनाना।	सृष्टि की रचना में मानव का स्थान एवं सहयोग संबंधी ज्ञान, प्रयोग एवं क्रियाकलाप।	– नियमित दिन चर्या हो।	स्वाभिमानी है। आत्मनिर्भर है।
12.	मौलिक एवं रचनात्मक दृष्टिकोण का विकास।	धारणा एवं ध्यान इन योगांगों की मदद से प्रतिभा का विकास। रचनात्मक क्रियाकलाप जैसे– चित्रकारी, कृषि कार्य आदि।	– सत्संग एवं भ्रमण विधि।	रचनात्मक गतिविधियों में एवं मौलिक कार्यो में संलग्न है।
13.	जीवन की विभिन्न परिस्थितियों के मध्य समायोजन उत्पन्न करने की क्षमता का विकास	अष्टांग योग के सभी अंगों का ज्ञान एवं पालन	–योग्य एवं प्रशिक्षित योगी द्वारा क्रियाएं करवाई जायें।	जीवन को उत्तरोत्तर ऊंचा उठाने वाली गतिविधियों में संलग्न है।

उपर्युक्त पंक्तियों में पाठयक्रम का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह मात्र उदाहरण स्वरूप है, इसमें परिवर्तन एवं संवर्धन की बहुत सारी संभावनाएं हैं।

5.4.0 शिक्षण विधियाँ

शिक्षण की प्रक्रिया में तीन कारक निहित रहते हैं – प्रथम – बालक जो इस प्रक्रिया का आधार बिंदु है। द्वितीय विषयवस्तु जो उसे सीखनी है और तृतीय – शिक्षण जो सीखने में सहायता प्रदान करता है। शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि व्यवस्थित शिक्षाक्रम तथा मनोवैज्ञानिक शिक्षण–सिद्धांतों पर आधारित उपयुक्त शिक्षण–पद्धति अपनाई जाये। यदि पद्धति उपयुक्त नहीं है तो समस्त सिद्धांत एवं आदर्श कोरे सिद्धांत और आदर्श बने रहे जाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि सांख्य के शैक्षिक सिद्धांतों, आदर्शो एवं शैक्षिक उद्देश्यों को साकार रूप देने वाली शिक्षण पद्धति अपनाये। शिक्षण–विधि, पाठ्यवस्तु की प्रकृति विद्यार्थी के स्तर पर निर्भर है। अतएवं सांख्य दर्शन की पाठ्यवस्तु हेतु निहितार्थो के लिये कौन सी शिक्षण पद्धतियाँ अपनाई जाये इस संबंध में आगामी पंक्तियों में विचार किया जायेगा।

सर्वप्रथम सांख्य दर्शन द्वारा जो तीन प्रमाण (ज्ञान जानने के तरीके) बताये हैं उन पर चर्चा की है तदुपरान्त बिन्दुवार विषय वस्तु के अनुरूप शिक्षण विधियों पर विचार किया गया है। चूंकि प्रकृति, बुद्धि, मन; पंचतन्मात्रायें एवं पंचज्ञानेन्द्रियों आदि की विषय वस्तु भिन्न–भिन्न है। अतः स्वाभाविक है कि शिक्षण के तरीके भी भिन्न होंगें अतः किस विषय वस्तु के अध्यापन के लिये कौन सी विधि उपयुक्त होगी इसे दृष्टिगत रखते हुये ही शिक्षण विधियों के संबंध में विचार किया गया है। सांख्य मत के अनुसार ज्ञान को प्राप्त करने में तीन तत्वों का प्रयोग होता है–

प्रथम – **प्रमाता** अर्थात् ज्ञाता को आत्मा अथवा पुरूष है तथा चैतन्य स्वरूप है।

द्वितीय – **प्रमेय** अर्थात् ज्ञेय विषय।

तृतीय – **प्रमाण** अर्थात् वह विधि जिसके द्वारा महत् का रूपांतरण होता है तथा प्रमाता, प्रेमय का जानता है।

सांख्य में तीन प्रकार के प्रमाणों अथवा ज्ञान प्राप्त करने की विधियों का उल्लेख किया गया है।

प्रथम – प्रत्यक्ष विधि

द्वितीय – अनुमान विधि तथा

तृतीय – शब्द विधि

ज्ञान प्राप्ति की प्रत्यक्ष विधि –

विषयों के प्रति इन्द्रियों के संपर्क से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान प्राप्ति कहा जाता है। प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान यथार्थ तथा साक्षात् होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिया, मन, बुद्धि तथा आत्मा चारों क्रियाशील रहते हैं यह पूर्वानुमानों पर आधारित नहीं होता, किसी वस्तु का साक्षात्कार होने पर ही उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों संबंधी समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष विधि द्वारा दिया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप जो ज्ञान भाषा के आधार पर प्राप्त किया जाता है उसके लिये जिन संज्ञाओं, क्रियाओं विशेषणों आदि का प्रयोग किया जाता है वे सब आरंभ में प्रत्यक्ष विधि द्वारा निर्मित होते हैं।

वस्तु का ज्ञान इन्द्रिय संपर्क से होता है और उसका किसी शब्द के साथ तादात्म्य स्थापित कर दिया जाता है। इस प्रकार भाषा का विकास होता चलता है। जब पर्याप्त शब्द भण्डार प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा हो जाता है तो उसके बाद नये शब्दों का ग्रहण तथा निर्माण भी पूर्व ज्ञान के आधार पर हो सकता हैं हाथ, पैर, आंख, नाक, त्वचा आदि समस्त इन्द्रिय ज्ञान एवं इनसे जुड़े हुये अन्य ज्ञान प्रत्यक्ष विधि द्वारा ही दिये जा सकते हैं। इन अंगों का उचित विकास एवं किसी विशेष लक्ष्य हेतु प्रशिक्षण प्रत्यक्ष विधि द्वारा ही दिया जाना संभव है। उदाहरण स्वरूप शारीरिक संरचना की जानकारी इसी विधि द्वारा दी जाती है।

सृष्टि के विकास क्रम का ज्ञान प्रत्यक्ष विधि द्वारा दिया जा सकता है। सृष्टि विकास क्रम के फलस्वरूप अनेक भौतिक पदार्थ अस्तित्व में आये हैं, इन सबका ज्ञान प्रत्यक्ष विधि द्वारा दिया जा सकता है। प्रकृति एवं इसकी गोद में फैली हुई अन्य वस्तुएं जैसे – नदी, पर्वत, वृक्ष, खनिज पदार्थ, सागर और फल, फूल आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष विधि द्वारा दिया जा सकता है। विशाल सृष्टि का अध्ययन करने हेतु शिक्षा शास्त्रियों ने अनेक विषयों में उसका विभाजन किया है जैसे –, सामाजिक अध्ययन, विज्ञान, गणित भूगोल और इतिहास आदि। इन सब विषयों की विषय सामग्री प्रत्यक्ष ज्ञान विधि द्वारा दी जा सकती है। उदाहरण स्वरूप – सौर मण्डल के सूर्य, चन्द्र गृह, तारा मण्डल प्रत्यक्ष ज्ञान विधि द्वारा दी जा सकती है। उदाहरण स्वरूप – सौर मण्डल के सूर्य, चन्द्र ग्रह, तारा मण्डल आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष विधि द्वारा दिया जा सकता है। इसी प्रकार इतिहास की घटनाओं की जानकारी में प्रत्यक्ष विधि उपयोगी है। इसी प्रकार प्रशासन संसद, चिकित्सालय, संचार व्यवस्था, यातायात व्यवस्था आदि का ज्ञान देने में यही विधि उपयोगी है। विज्ञान के विभिन्न

प्रयोग इसी विधि द्वारा करवाये जाते हैं। प्रकृति – विज्ञान, भौतिक विज्ञान, जीवन विज्ञान, रसायन विज्ञान, चिकित्साशास्त्र आदि का ज्ञान प्रदान करने में यह विधि अत्यन्त उपयोगी है। कला उद्योग आदि विषय सर्वथा प्रत्यक्ष ज्ञान है और इनके लिये प्रत्यक्ष विधि का प्रयोग करना ही उचित है।

वर्तमान शिक्षा प्रक्रिया में यह मांग की जाती रही है कि विषय वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप में दिया जाना चाहिये। प्रायोगिक–कार्य अधिक करवाये जाने चाहिये इत्यादि। इन दोषों को दूर करने में यह विधि उपयुक्त है। खास तौर से छोटे बच्चों के शिक्षण में जबकि उनका परिचय पर्यावरण से कराया जाता है। तो इसी विधि का प्रयोग किया जाना उपयुक्त है। पंचभूतों का ज्ञान इसी विधि द्वारा दिया जा सकता है। शारीरिक अंगों के विकास में यही विधि उपयोगी है। शिक्षा के नैतिक व चारित्रिक विकास के उद्देश्य की पूर्ति भी इस विधि द्वारा की जा सकती है। शारीरिक शिक्षा एवं योग की शिक्षा में तो यह विधि अत्यन्त सफल है। इसलिये स्पष्ट है कि यह विधि अत्यन्त उपयोगी व लाभप्रद है इसका प्रयोग किया जा सकता है।

ज्ञान प्राप्ति की अनुमान विधि –

प्रत्यक्ष के धरातल से ही अनुमान का प्रयोग किया जाता है। अनुमान वह विधि है, जिसमें ज्ञात विषय के आधार पर किसी अज्ञात विषय का किसी हेतु के माध्यम द्वारा अनुमान लगाया जाता हैं। अनुमान शब्द का समास विग्रह अनु+मान होगा, अर्थात् जो ज्ञान के पश्चात् आए। अतः अनुमान उस ज्ञान को कहते हैं जो पूर्ण ज्ञान के पश्चात् आता है, उदाहरणार्थ "वहां पशु चर रहे हैं, अतः वहां घास होनी चाहिये।" इस उदाहरण में पशु का घास के मैदान में चरना पूर्वानुभूत है। परन्तु इस समय केवल पशुओं को देखा गया है और इसके आधार पर घास का मैदान होना अनुमानित कर लिया है। सृष्टि का बहुत–सा ज्ञान जैसे मौसम विज्ञान की जानकारियाँ अनुमान के आधार पर ही दी जाती हैं। वैज्ञानिक व विषयों का अध्ययन व नवीनतम प्रयोग का आधार अनुमान विधि हो सकती है। भाषा का ज्ञान कराने में जैसे संदर्भ व अर्थ निगमित करना नवीन शब्दों का ज्ञान प्रदान करना, कला के भाव को समझना, लाक्षणिक अर्थों की प्रतीति करना, व्याकरण ज्ञान आदि कार्य इस विधि द्वारा सम्पन्न होते हैं।

गणित पढ़ाने के सबसे अधिक प्रचलित विधि जिसे संश्लेषण–विश्लेषण विधि कहा जाता है इसी अनुमान विधि का दूसरा रूप है। 'प्रमेय' समझने में इसी विधि का प्रयोग होता है। सामाजिक विषयों के अध्यापन में यह विधि प्रयुक्त होती रही है। कार्य–कारण सिद्धांत की जानकारी प्रदान करने में इस विधि का उपयोग किया जा सकता है। सांख्या की इसी विधि पर आधारित अनेक आधुनिक विधियों का विकास हुआ है जैसे – हर्बर्ट की पंचपदी, वैज्ञानिक विधि के पंच सोपान आदि।

ज्ञान प्राप्ति की शब्द विधि –

जिस विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा प्राप्त करना संभव नहीं है, उसके लिये शब्द–प्रमाण का सहारा लेना पड़ता है। दूसरे शब्दों में मौखिक तथा लिखित वाणी शब्द–प्रमाण के अन्तर्गत आती है। जो किसी आप्त पुरूष द्वारा प्रयुक्त होती है। सांख्य दर्शन के सभी तत्वों का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा देना असंभव है अतः अनेक गूढ़ एंव गंभीर विषयों के ज्ञान हेतु शब्द–प्रमाण विधि उपयुक्त है। उदाहरणार्थ – प्रकृति व पुरूष तत्व की जो व्रिवेचना की गई है उसके ज्ञान में यह विधि सहायक होगी। इसी तरह से प्रकृति के अनेक रहस्यों के उत्तर इसी विधि द्वारा ही दिये जा सकते हैं। प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है, सृष्टि क्रम प्रकृति और पुरूष का संयोग है, 'पच्चीस तत्वों के नाम एवं वर्गीकरण, प्रमाण की जानकारी, द्वैतवाद की जानकारी, अनेकांतवाद का ज्ञान, सूक्ष्म एंव स्थूल शरीर की अवधारणा, मोक्ष प्राप्ति के तरीके का ज्ञान इस विधि द्वारा ही दिया जाना संभव है।

आज शिक्षा शास्त्री भी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि समस्त ज्ञान प्रत्यक्षानुभव द्वारा दिया जाना संभव नहीं हैं। अतः उपलब्धियों एवं संचित ज्ञान के अध्यापन की एक मात्र सरलतम विधि शब्द विधि है। प्रश्नोत्तर चर्चा, विचार, व्याख्या, पुस्तक अध्ययन, कक्षा अध्यापन आदि विधियां शब्द विधि के अन्तर्गत आती है। संवाद विधि का प्रयोग इस विधि के अन्तर्गत आता है। वर्तमान शिक्षा–प्रणाली का दोष यह है कि इसमें ज्यादातर शाब्दिक विधि का प्रयोग किया जाता है तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमान विधियों की उपेक्षा की जाती है। चूंकि सांख्य दर्शन आधारित शिक्षा व्यवस्था में सांख्य की शिक्षण विधियों की प्रमुखता होगी अतः बालक प्रत्यक्ष व अनुमान विधि का प्रयोग कर वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। ये शिक्षण विधियां करके सीखने पर स्वयं सीखने पर बल देती है एवं शिक्षार्थी को जिज्ञासु बनाती है। सर्जनात्मक क्षमताओं को बढ़ाने में ये शिक्षण विधियां उपयुक्त हैं। सरल से सरल व गूढ़ से

गूढ़ विषयों का ज्ञान इन विधियों द्वारा दिया जा सकता है। स्पष्ट है सांख्य दर्शन का ज्ञान, सांख्य विधियों द्वारा उचित व सही तरीके से दिया जा सकता है। आगामी पृष्ठों में सांख्य दर्शन के विभिन्न तत्वों का ज्ञान किस विधि से एवं किस तरीके से दिया जा सकता है इस पर चर्चा करेगें।

5.4.1 प्रकृति

'प्रकृति' सांख्य दर्शन का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व हैं। इस तत्व का ज्ञान देने में शिक्षार्थी का स्तर एवं उम्र महत्वपूर्ण स्थान रखती है अतः इस तत्व के लिये शिक्षण विधियों हेतु निहितार्थ निम्नलिखित हो सकते हैं। 'प्रकृति' का महत्व स्पष्ट करने के लिये चर्चा, उदाहरण एवं स्वध्याय विधि का सहारा लिया जा सकता है। प्रकृति के गुण एवं विशेषताओं की जानकारी देने के लिये चर्चा, दृष्टान्त एंव व्याख्यान विधि का प्रयोग करना होगा। 'प्रकृति विश्व का मूल कारण है परन्तु स्वयं कारण हीन है। यह तथ्य चर्चा द्वारा ही समझा जा सकता है। प्रकृति अदृश्य है, प्रकृति अव्यक्त है, प्रकृति अचेतन है आदि तथ्यों को भी इसी विधि द्वारा ही समझा जा सकता है।

प्रकृति के विभिन्न नामों के बारे में जानकारी प्रश्नोत्तर एवं तर्क–वितर्क विधि द्वारा दी जा सकती है। संसार की समस्त वस्तुओं का कारण प्रकृति है अतः इसका ज्ञान देने के लिये विषय के अनुसार शिक्षण विधि का चुनाव करना पड़ेगा। उदाहणार्थ – सामाजिक विज्ञान विषय के लिये कथन, प्रश्नोत्तर व्याख्यन विधि की मदद ली जा सकती है। विज्ञान विषयों के लिये प्रयोगशाला विधि उपयुक्त हो सकती है। भाषा संबंधी विषयों के लिये सुनो और बोलो विधि हो सकती है। गणित के लिये विश्लेषण संश्लेषण विधि हो सकती है। प्रकृति विज्ञान के लिये प्रत्यक्ष विधि एवं भ्रमण विधि उपयुक्त है।

छोटे बच्चों को छूकर देखकर, चखकर आदि का प्रयोग करते हुए विषयवस्तु का ज्ञान दिया जा सकता है। संसार का ऋणि कैसे हैं ? यह स्पष्ट करने के लिये उदाहरण एवं प्रयोग द्वारा स्पष्ट किया सकता है। उत्तरदायित्व एवं स्वावलंबन का भाव पैदा करने के लिये कहानी विधि का प्रयोग किया जा सकता है। त्रिगुणात्मक रूप को स्पष्ट करने के लिये एवं सत्व, रज एंव तम गुणों को स्पष्ट करने के लिये उदाहरण स्वाध्याय एवं व्याख्यान का सहारा लिया जा सकता है।

5.4.2. पुरूष तत्व

संसार की अन्तिम सत्ता कौन सी है ? मृत्यु के पश्चात् क्या होता है? आदि जिज्ञासाऐं स्वाभाविक हैं। इन जिज्ञासाओं को शांत करने के लिए जिस शिक्षण विधि का प्रयोग किया जा सकता है, वह है– शाब्दिक विधि, कथन, व्याख्यान एवं शास्त्रार्थ विधि (वर्तमान में जिसे सेमिनार विधि कहा जाता है) आदि। जब 'मोक्ष' के संबंध में चर्चा की जाती है तो पुनः प्रश्न खड़े हो उठते हैं – मोक्ष क्या है? किसे कहते हैं ? कैसे प्राप्त होता है? इसका समाधान स्वाध्याय विधि से किया जाता है।

5.1.3.1.2 महत् तत्व

महत् तत्व का अर्थ एवं महत्व स्पष्ट करने हेतु अनेक प्रकार की शिक्षण विधि यों का प्रयोग किया जा सकता है। विश्लेषण एवं संश्लेषणात्मक विधि का प्रयोग करते हुये बुद्धि के कार्य बताये जा सकते हैं। उदाहरण एवं तर्क विधि का सहारा लेकर मस्तिष्क की शक्ति से परिचित कराया जा सकता हे। बौद्धिक क्षमता के विकास के लिये दोहराव विधि का प्रयोग किया जाना उपयुक्त है बुद्धितत्व के लिये प्रश्नोत्तर विधि का प्रयोग किया जा सकता है। बार–बार प्रश्न के उत्तर देने में शिक्षक के संकोच नहीं करना चाहिये न ही नाराज होना चाहिये। सुनकर समझना, पढ़कर समझना, चिंतन द्वारा समझना, अनुभव से समझना आदि तरीकों का प्रयोग करते हुये मस्तिष्क एवं बुद्धि का विकास किया जा सकता है। शिक्षण विधि ऐसी हो कि शिक्षार्थी की रूचि एवं उत्साह को बढ़ाये।

इस तत्व के विकास के लिये आवश्यक है एवं शिक्षार्थी को अनुसंधान एवं शोध की ओर प्रवृत्त करना। अतः गतिविधि आधारित शिक्षण विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। अतः जोड़ी जमाना वर्गीकरण करना, सारणी बनवाना, भेद करना, परिणाम निकालना आदि तरीकों का प्रयोग किया जा सकता है। अनेक प्रकार के टेस्ट आयटम तैयार करके बुद्धि का परीक्षण किया जा सकता है। निदानात्मक परीक्षण एवं उपचारात्मक शिक्षण की इस संबंध में प्रमुख भूमिका होगी। उपलब्धियों के परीक्षण पर उचित मार्गदर्शन दिया जा सकता है। आईक्यू परीक्षण एवं उसके आधार पर शिक्षण कार्य किया जाना उचित है।

5.1.3.1.4 अहंकार

अहंकार की प्रवृत्ति का नाश करने एवं सद्‌वृत्तियों के विकास के लिये ऐसी

शिक्षण विधियों को अपनाना उपर्युक्त होगा जिससे कि शिक्षार्थी सद् प्रवृत्तियों की ओर प्रेरित हो। इस हेतु निश्चित–दिनचर्या बनाना आवश्यक है। दिनचर्या का प्रमुख अंग पूजा, ध्यान, अर्चन, प्रार्थना भी होना चाहिये। उचित दृष्टान्त के द्वारा सद्वृत्त्यिों का विकास किया जा सकता है। छोटी उम्र के शिक्षार्थियों के लिये कहानी विधि उपयुक्त है। महापुरूषों एवं संतों के संस्मरण एवं कहानियों द्वारा अहंकार का नाश करने का संदेश दिया जा सकता है। आलोचना के स्थान पर प्रोत्साहन दिया जाना ज्यादा उचित है। समय–समय पर शिक्षार्थियों की प्रशंसा किया जाना आवश्यक है इससे बालक सद्कार्य करने की ओर प्रोत्साहित होगा। शिक्षक को शिक्षार्थियों से दूरियां समाप्त कर स्नेह व प्रेम पूर्वक व्यवहार करना चाहिये तथा स्नेह व शांतिपूर्ण तरीके से शिक्षार्थी को सद्कार्य करने की ओर प्रेरित किया जा सकता है। बच्चा अनुकरण द्वारा बहुत कुछ सीखता है। उनके समक्ष आदर्शवादी व्यवहार प्रस्तुत किया जाना चाहिये। 'बालक' पर शिक्षक के कर्म, वचन और विचारों के संस्कार बनाने पड़ते हैं, उसके सहपाठियों के कर्म, विचार और वचन वातावरण बनाने हैं। अतः विद्यालय के वातावरण से यह प्रमाणित होता है कि विद्यालय का अच्छा वातावरण एंव अच्छे संस्कार शिक्षार्थी के अच्छा बनने में सहायक होंगे। सामूहिक शपथ ग्रहण समारोह विभिन्न विचार व भाव पैदा करने में सहायक हैं।

5.4.5 मन

मन ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का नियंत्रक एवं संवाहक है अतः मन की विशेषता व कार्य की जानकारी देते हुए उचित भावात्मक विकास आवश्यक है। अतः ऐसी शिक्षण विधियां अपनाने की आवश्कयता है जो कि बालक के मनोभावों का सही तरीके से विकार करें। कहानी विधि एवं अभिनय विधि द्वारा मनोभावों को प्रभावित एवं विकसित किया जा सकता है। शिक्षक का व्यक्तित्व, उसकी वाणी एवं विचार बालक को प्रभावित करते हैं अतः शिक्षक स्वयं अच्छे व्यक्तित्व का स्वामी बनकर शिक्षार्थियों को प्रेरित करें। बालक की अनुसरण करने की प्रवृत्ति का लाभ लिया जा सकता है। 'श्रवण' मनन चिंतन की प्रवृत्ति विकसित की जाय। सद् वाक्य एवं सत्विचार बालक का मार्ग प्रशस्त करेंगे। महापुरूषों की जयन्तियां एवं पुण्यतिथि मनाना आवश्यक है।

विभिन्न प्रकार की साहित्यिक प्रतिस्पर्धाएं आयोजित की जायें। जैसे – वाद विवाद प्रतियोगिता, निबंध प्रतियोगिता, भाषण प्रतियोगिता एवं तत्कालीन भाषण

प्रतियोगिता आदि। इसमे शिक्षार्थी को भाग लेने हेतु प्रोत्साहित किया जाये। सद्कार्य करने हेतु बढ़ावा देना चाहिये। प्रशंसा करना भी आवश्यक है। इससे बालक के व्यक्तित्व का उचित विकास होगा। पुस्तकालय विधि का प्रयोग करते हुए प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करने हेतु प्रोत्साहित किया जाये। उनकी विवेचना करना, तुलना करना एवं सह संबंध बताने को प्रोत्साहित किया जाये ताकि तर्क, चिन्तन व निर्णय क्षमता का विकास हो। सामूहिक प्रार्थना, देश भक्ति के गीत, भजन, दोहे आदि का सस्वर वाचन, तरीके अपनाकर उचित मनोभावों का विकास किया जा सकता है। आसन, प्राणायाम आदि तरीके मन को नियंत्रित करेंगे। सामुहिक पी.टी. और विभिन्न योगाभ्यास भी करवाये जा सकते हैं।

5.4.6 ज्ञानेन्द्रिया एवं कर्मेन्द्रियां

इसके सही विकास के लिये विभिनन प्रकार की गतिविधियां करवाई जाना आवश्यक है अतः शिक्षक कथन विधि, दृष्टान्त विधि, प्रश्नोत्तर विधि आदि का प्रयोग करते हुये शारीरिक अंगों की जानकारी दी जा सकती है। शारीरिक स्वच्छता एवं रोगों एवं बीमारियों का ज्ञान, स्वच्छता एवं बीमारियों के बीच संबंध स्थापित करने के लिये व्याख्यान विधि, चर्चा विधि आदि का सहारा लिया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के क्रियाकलाप किये जाना आवश्यक है उदाहरण स्वरूप –

- सामूहिक एवं व्यक्तिगत व्यायाम करवाना।
- विभिन्न प्रकार के आसनों में अवगत कराना।
- हस्त कौशल संबंधी कार्य करना जैसे मिटटी का सामान बनाना, कागज से सामग्री निर्मित करना, बांस के उपयोग बताना आदि।
- 'चित्रकला'/स्वतंत्र चित्रण को प्रोत्साहन देना।
- वर्तमान समय में प्रचलित स्काउट गाइड जैसे गतिविधियां करवाना।
- विभिन्न प्रकार के खेल खिलाना। खेल कक्षा के अन्दर खेले जाने वाले भी हो सकते हैं। खेल साधन सहित भी हो सकते हैं और साधन रहित भी हो सकते हैं।
- रेंगना, फिसलना, चलना, दौड़ना, कूदना, सरकना, फूंकना उछलना, घूमना, रोकना आदि शारीरिक क्रियायें व अभ्यास कराये जा सकते हैं।
- तैरना, नाव खेना आदि गतिविधियां करवाना।

– नृत्य, अभिनय, संगीत आदि क्रियाकलाप कराना।

इस प्रकार इन सब गतिविधियों के द्वारा बालक के अंग प्रत्यंगों का पूर्ण विकास होगा तथा बालक इन्द्रियों का समुचित व सही प्रयोग करने में सक्षम होगा। प्रत्यक्ष विधि का प्रयोग भी किया जाना उचित होगा।

5.4.7. पंचतन्मात्रा एवं पंचमहाभूत

इनका ज्ञान प्रदान करने के लिये जिन विधियों का प्रयोग किया जा सकता है ये हैं – भ्रमण विधि, प्रेक्षण विधि एंव निरीक्षण विधि आदि। तन्मात्रायें चूंकि सूक्ष्म हैं अतः उनका ज्ञान दृष्टान्तों की शाब्दिक विधियों का ही प्रयोग करके दिया जा सकता है परन्तु पंच महाभूत स्थूल है अतः इनका ज्ञान प्रत्यक्षतः दिया जा सकता है। अतः प्रत्यक्ष विधि का प्रयोग करना उचित है। छूकर, चखकर, सूंघकर इनके विषय में जानकारी प्राप्त करने को कहा जाय। जल, पृथ्वी, अग्नि आदि का ज्ञान एवं उनके उपयोग बताने हेतु दृष्टान्त विधि का प्रयोग करना होगा। 'वायु' तत्व बताने में अनुमान विधि का प्रयोग किया जा सकता है। पंच महाभूत स्पष्ट करने के लिये प्रयोग विधि, करके देखना आदि विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। सूक्ष्य निरीक्षण, अवलोकन आदि विधियों द्वारा बहुत से तथ्य स्पष्ट किये जा सकते हैं। वर्णन करना, परिभाषित करना, पहचानना आदि तरीकों द्वारा भी ज्ञान दिया जा सकता है।

5.4.8 सत्कार्यवाद

कार्य–कारण सिद्धांत का ज्ञान कराने में दो प्रमुख विधियां हैं – एक तो सूक्ष्म अवलोकन एवं दूसरा प्रयोग द्वारा सिद्ध करना। सत्कार्यवाद सिद्ध करने के लिये दृष्टांत एवं आप्त वचनों का सहारा लिया जा सकता है। खोजने, अनुसंधान करने, शोध करने आदि विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। योजना विधि का भी प्रयोग किया जा सकता है।

5.4.9 कैवल्य

भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार मानव की मूल प्रकृति आध्यात्मिक हैं।[1] इस आध्यात्मिक प्रकृति के कारण मनुष्य ने विज्ञान, साहित्य, संस्कृति, कला, सदाचार एवं

धर्म के रूप में अपने को अभिव्यक्त किया हैं। अध्यात्म का संबंध आत्मा से है। इसे मुक्ति दिलाना शिक्षा का एक उद्देश्य भी है। यही कैवल्य या मोक्ष हैं यहां तक पहुचने के लिये निम्नलिखित शिक्षण विधियां उपयोगी हो सकती हैं –

परमतत्व के प्रति आस्था एवं भक्तिभाव पैदा करना इसमें प्रार्थना, पूजा आदि तरीके सहयोग देंगें। मौन, ध्यान, भजन, संगीत आदि से भी बालक अंतर्मुखी होता है। धर्माचरण, दूसरों के प्रति सेवा भाव, उच्च नैतिक एवं चारित्रिक गुणों का विकास आवश्यक है। प्रेम, करूणा, निर्भयता, स्वतंत्रता, प्रसन्नता एंव विनयशीलता आदि भाव जगाना भी आवश्यक है। इसे विकसित करने के लिए कविता, कहानी, आप्त वचन आदि का प्रयोग किया जा सकता है। अष्टांग योग के आठो अंगों का प्रयोग करते हुए इस अवस्था तक बालक को पहुंचाया जा सकता है।

5.5.0 मूल्यांकन

'मूल्यांकन' शिक्षण प्रक्रिया का अभिन्न अंग है। मूल्यांकन प्रक्रिया का क्षेत्र व्यापक है। इसका प्रमुख लक्ष्य यह देखना है कि पाठ्यक्रमों के निर्धारित उद्देश्यों की किस सीमा तक प्राप्ति हुई है। यह प्रक्रिया स्वभावतः शैक्षिक अनुभवों और शिक्षण की उन विधियों से सम्बद्ध है जो ज्ञानार्जन में प्रयुक्त की गई हो। मूल्यांकन प्रक्रिया से छात्रों को अध्ययन के लिये मार्गदर्शन एवं प्रेरणा प्राप्त होती है एवं शक्तियों और दुर्बलताओं का ज्ञान होता है।

सांख्य दर्शन पर आधारित शिक्षा प्राप्त करने उपरान्त शिक्षार्थी में कौन–कौन सी योग्यताओं क्षमताओं एवं दक्षताओं का विकास होगा यह आगामी पंक्तियों में बताने का प्रयास किया गया है। शिक्षार्थी में कौन–कौन से गुण एवं कौशल होंगें ? वह क्या–क्या जानेगा किन–किन बातों का ज्ञान होगा यह बताया गया है। शिक्षार्थी का ज्ञानात्मक पक्ष भावात्मक पक्ष एंव कौशलात्मक पक्ष कौन–कौन सी विशेषताओं से युक्त होगा यह बताया गया है। इसके साथ ही मूल्यांकन के अर्न्तगत लिखी गई सामग्री यह मापदण्ड है जिसके आधार पर यह जांचा जा सकता है कि शिक्षार्थी तदनुरूप है या नही? उसमे निर्धारित योग्यतायें कुशलतायें एवं गुणादि हैं या नही ? यदि है तो किस सीमा तक हैं ? कितने हैं ? जो नहीं हैं वह कौन–कौन से हैं ? आदि।

सर्वप्रथम सांख्य दर्शन के विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत (यथा–प्रकृति, पुरूष, महदादि); मूल्यांकन के बिंदु लिखे गये हैं तत्पश्चात् योग के अन्तर्गत मूल्यांकन के बिंदु लिखे गये हैं। अन्त में मूल्यांकन – विधियों पर भी संक्षेप में चर्चा की गई है।

सांख्य दर्शन पर आधारित शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् निम्नलिखित योग्यतायओं एवं गुण विकसित होगें। यही मूल्यांकन के बिंदु भी हैं –

1. सृष्टि का जन्म एवं विकास तथा मनुष्य के जन्म एवं विकास की स्थितियां समरूप हैं यह जानता है। प्रत्येक मनुष्य अपने आप में सृष्टि है तथा सृष्टि विकास की सभी स्थितियों से अपने जीवन काल में भी गुजरता है इस तथ्य से परिचित है।
2. मेरा स्वतंत्र अस्तित्व है और मेरी आत्मा पृथक है वह अनुपम और गरिमायम है, उसमें स्वतंत्र संकल्प शक्ति है। अपनी सृष्टि का निर्माण तथा निगमन करने के लिये वह सवतंत्र है यह जानता है। वैयाक्तिक – विभिन्नता को स्वीकारता है तदनुरूप विकास की ओर अग्रसर होता हैं।
3. अविवेक या अज्ञान ही समस्त दु:खों का मूल कारण है, दु:खों से छुटकारा पाने के लिये मुझे ज्ञान प्राप्त करना होगा यह समझता है।
4. संसार सौद्देश्य बना है। उद्देश्ययुक्त जीवन की ही सार्थकता है यह समझता है।
5. विकार सहित प्रवृत्ति और पुरूष तत्व का ज्ञान है। जन्म जीवन तथा मृत्यु इन तीनों स्थितियों में ज्ञान पूर्वक जीने का प्रयास करता है।
6. प्रकृति, पुरूष, महदादि इन पच्चीस तत्वों का यथार्थ ज्ञान है।
7. कार्य –कारण सिद्धांत से परिचित है।

5.5.1 पुरूष

1. संसार का रचियिता कौन है ? इसे जानता है।
2. आंतरिक शक्तियों को विकसित करने का प्रयास करता है।
3. मैं पंच तत्वों से निर्मित स्थूल देह इन्द्रिय, अहंकार बुद्धियुक्त प्राणीमात्र ही नहीं हूँ वरन् मुझमें चैतन्य का वास है। आत्मा का निवास है इसे जानता है। मुझमें असीम शक्यता है और इस विश्वास से वह उच्चतम शक्यताओं को प्राप्त करने के लिये प्रतिबद्ध है।

4. इस तथ्य से अवगत हो कि वह भौतिक सत्ता मात्र नहीं है वरन् मूल सत्ता है जो अनाशवान है।

5. सुख बाधा उत्पादन में नहीं है वह तो आंतरिक है और उसे आत्मज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

6. अनुभव करता है कि आत्मा, शरीर, इन्द्रिय गन और बुद्धि से भिन्न है।

5.5.2 प्रकृति

1. प्रकृति के नियमों का ज्ञान है तथा उन्हें मान्यता प्रदान करता है।

2. प्रकृति का विकास इसकी तीन शक्तियों अथवा गुणों से होता है ये गुण हैं – सत्व रज और तम। मनोवैज्ञानिक अर्थ में 'सत्व' ज्ञान अथवा प्रकाश का, रज प्रवृत्ति अथवा गति एवं 'तम्' मोह एवं जड़ता का प्रतीक है इसे जानता है। सृष्टि अथवा उसका लघुरूप यह शरीर तीन तत्वों से बना है। जिन्हें सत्व, रजस एंव तमस कहा गया है ये तीनों तत्व क्रमशः सुख दुःख व उदासीनता का प्रतिनिधित्व करते हैं इसे अनुभव करता है। यह भी जानता है कि भिन्न–भिन्न गुणों की प्रधानता के कारण व्यक्ति में भेद पाये जाते हैं इनका तीनों का व्यक्तित्व विकास में अत्यन्त महत्व है। इस तथ्य को जानता है। कि जब सत्य की प्रधानता होती है तो शुभ कार्य की ओर प्रेरित होते हैं, रजस का प्राधान्य अशुभ कर्म की ओर ले जाता है जब तमों गुण की प्रधानता होती है तो ऐसे कर्म करते हैं जिसे अच्छा कह सकते हैं न बुरा। उसका यह ज्ञान अनुभवात्मक है।

3. प्रकृति – पुरूष (जड़–चेतन) के सहकार से जगत की उत्पत्ति होती है इसे जानता है।

4. सहृदय एवं भावपूर्ण है क्योंकि वह इस तथ्य को जान जाता है। कि जागतिक अनुभव न तो पूर्णतः सुखः कारक है न पूर्णतः दुःखकारक। सुखः–दुःख का निरपेक्ष होता है प्रत्येक में तीनों तत्वों का सम्मिश्रण होता है।

5. प्रकृति की विशेषताओं से परिचित है।

6. प्रकृति की समस्त वस्तुओं के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है एवं उनका समयानुसार सदुपयोग करता है।

5.5.3 महत्

1. स्वतंत्र निर्णय लेने में सक्षम है। क्या करणीय है क्या अकरणीय है इसका निर्णय कर लेता है।

2. अपनी इच्छा–शक्ति वश में रखते हुए वह शरीर इन्द्रिय मन अथवा अहंकार का दास नहीं है। बल्कि इनका स्वामी है।

3. नियमों का पालन करता है व नियमों के अंतर्गत ही इच्छित परन्तु प्राप्त करने का प्रयास करता है।

4. उसकी बुद्धि तामस व राजस रूप न लेते हुये सात्विक रूप प्रधान है परिणाम स्वरूप कर्तव्य–पालन् करता है। ज्ञान–सम्पादन करते हुए देवीय शक्तियां प्राप्त करता है।

5. विवेक जागृत धर्माचरण और योगादि से ज्ञान प्राप्त करता है। योग–पद्धतियों का प्रयोग करते हुए विवेकमय ज्ञान प्राप्त करता है।

6. भावना प्रधान उत्तेजनाओं और इच्छाओं को वश में रखते हुए बौद्धिक क्रियाओं पर नियंत्रण रखता है। वह विवेक ज्ञान प्राप्ति की ओर अग्रसर हो रहा है। (नियम पूर्वक कार्य सम्पादन तथा मन की शक्ति बुद्धि पारदर्शी बनाती है और उसमें पुरूष का प्रकाश प्रतिबिंम्बित होता है अतः बालक के व्यक्तित्व के व्यवहार से स्पष्ट परिलक्षित होता है)

7. जीवन का अंन्तिम लक्ष्य मोक्ष है इसे जानता है तथा मुक्ति हेतु प्रयास करता है।

5.5.4 अहंकार

1. जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित करता है।

2. क्रियाशील, जिज्ञासु और व्यावहारिक है।

3. सुसंस्कृत सामाजिक और सहयोगी, सहकारी है।

4. मैं या मेरा, भाव अत्यन्त अल्प मात्रा में है। आलस्य, प्रमादी एवं उदासीन न होकर सत्कर्मो की ओर प्रवृत्त है।

5. उत्तरदायित्व का बोध है एवं परिवार, समाज, राष्ट्र विश्व के प्रति कर्तव्य बद्ध है।

5.5.5 मन

1. वैचारिक शक्ति प्रबल होती है। स्मरण शक्ति तीव्र है।
2. विषय को पहचानना, परस्पर आकलन करने की मानसिक क्रियाओं को सम्पन्न करने की क्षमता रखता है।
3. अवधान, (सोचने, विचारने, चिन्तन) विश्लेषण संश्लेषण चयन, एवं निरसन की शक्ति प्रबल है।
4. एकाग्रता की शक्ति जाग्रत है। योग निष्ठा तथा यम, नियम, आसन, प्राणायम आदि का महत्व है।
5. अनिष्ट विचारों का त्याग कर रहा है एवं श्रेष्ठ विचार विकसित हो रहे हैं, विचारों में संयम रख सकता है।
6. तर्क शक्ति प्रबल है। कल्पना शक्ति विकसित है।
7. ज्ञान, भावना, इच्छा आवेग आदि को संतुलित व संयमित व उचित रूप में ग्रहण करता है।
8. अच्छी मनोवृत्ति है मानसिक शक्तियां विकसित हैं। तनाव मुक्त है।
9. प्रवृत्तियां सहज संवेगों से युक्त (जिसमें सुख तथा दुःखात्मक अनूभूति का प्राधान्य होगा) किसी भी ज्ञान, भावनाओं, संवेगों, आदेश, निर्देश, नियम आदि को आत्मसात कर सकता है।

5.5.6 ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां

1. सबल एवं स्वस्थ्य शरीर है ।
2. समस्त अंग संतुलित एवं समुचित रूप से विकसित है।
3. इन्द्रिय ज्ञान पूर्ण रूपेण सही है।
4. सही व उचित शारीरिक क्रियायें करने योग्य है। एवं समस्त अंगों और अवयवों के अनुसार क्रियाओं को सुसमन्जित करता है।

5. शारीरिक दोषों को दूर करने का प्रयास करता है।
6. कर्मेन्दियां सक्षम एवं क्रियाशील है।
7. कठोर परिश्रम कर सकता है एवं नियमित रूप से अभ्यास करता है।
8. खेल, व्यायाम, योगासन, आदि में सिद्धहस्तता प्राप्त है।
9. हस्तकला कौशल के रूप में विकसित है।
10. सर्वांगीण विकसित एवं सतुलित व्यक्तित्व है।

5.5.7 पंचतन्मात्रा और पंच महाभूत

1. ध्वनि, उच्चारण स्पष्ट व साफ है। वाचन दोष मुक्त है आवश्यकतानुसार वाणी प्रयोग कर सकता है। शब्द भण्डार बहुत समृद्ध है।
2. वस्तुओं के रूप, आकृति, आकार की पहचान स्पष्ट है।
3. विभिन्न स्वादों को पहिचानता है, अनुभव कर सकता है एवं पदार्थो के गुणों को जानता है।
4. घ्राण शक्ति तीव्र है।
5. चिकना, खुरदुरा, भारी हल्का आदि अवधारणायें स्पष्ट व साफ हैं।
6. मिटटी, पानी, प्रकाश हवा एवं आकाश से पूर्ण तथा परिचित है।
7. प्रकृति की सभी वस्तुओ से पूर्ण एवं सही रूप से परिचित है।
8. प्राकृतिक वस्तुयें संपदा का उपयोग भली प्रकार करता है इनका लाभ ले सकता है।
9. इन सभी वस्तुओं के प्रति सचले हैं एवं विनष्ट होने से बचाने का प्रयास करता है।
10. आसपास के परिवेश एंव पर्यावरण से परिचित है विस्तृत ज्ञान प्राप्त करता है।
11. सीखता है – किस प्रकार जियें ? किस प्रकार अधिक से अधिक जियें तथा किस प्रकार जिये कि कम से कम कष्ट हो एवं अधिकाधिक आनंद की उपलब्धि हो।
12. समाज के नियमों को जानता है तथा समाज का उपयोगी अंग है।

5.5.8 सत्कार्यवाद (कार्यकारण सिद्धांत)

1. प्रत्येक कार्य का कारण जानने का प्रयास करना है।
2. जगत् का आदि कारण जानता है।
3. शोध एवं खोज की प्रवृत्ति है।
4. अध्ययनशील है, प्रयोग करता है एवं निष्कर्ष निकालता है।
5. सद्कर्म करने की ओर प्रवृत्त होता है।

5.5.9 कैवल्य

1. दुःखत्रय का ज्ञान है।
2. दुःखत्रय का कारण जानता है ?
3. दुःखत्रय से मुक्ति का मार्ग जानता है।
4. विवेक–ज्ञान जागृत है।
5. कैवल्य प्राप्त करने का प्रयास करता है।
6. दुःखों से मुक्ति पाने के लिये प्रयास करता है।

5.6.0 अन्य पक्ष

पाठयक्रम का सीधा संबंध जिस दो ध्रुवों से रहता है वह है शिक्षक एवं शिक्षार्थी। इसके साथ ही पाठ्यक्रम को सफल बनाने में कुछ भौतिक पदार्थ भी सहायक होते हैं जैसे विद्यालय भवन, पुस्तकालय, कक्षा व्यवस्था एवं सहायक सामग्री आदि अतः इन बिन्दुओं पर भी चर्चा की जाना अपेक्षित है।

5.6.1 शिक्षक

शिक्षण प्रक्रिया में शिक्षक का स्थान महत्वपूर्ण एवं सर्वोपरि है। शिक्षण, पद्धति, पाठयक्रम, भवन आदि साधन सामग्री की व्यवस्था कितनी भी उत्तम क्यों न हो परन्तु शिक्षक पद पर आसीन व्यक्ति चरित्रवान एवं योग्य नहीं है तो उक्त संपूर्ण व्यवस्थाएं निरर्थक हो जाती हैं।

सांख्य योग का शिक्षक एक व्यक्ति नहीं वरन् पद एवं संस्था है। अतः शिक्षक अपने विषय का पूर्ण ज्ञानी, चरित्रवान तथा योग्य होंगें। शिक्षक अपने विषय का विशेषज्ञ होगा उदाहरणार्थ – कोई शिक्षक 'प्रकृति' इस विषय में विशेषज्ञ होगा तो कोई यम का प्रशिक्षण देने में। शिक्षक, शिक्षार्थी को हित चिंतक, पथ प्रदर्शक एवं मित्र होगा। शिक्षक केवल विषय का ज्ञाता ही नहीं होगा बल्कि शिक्षार्थी को समझाने की एवं पढ़ाने की दक्षता में कुशल एवं निपुण होगा।

5.6.2 शिक्षार्थी

सांख्य की दृष्टि में विद्यार्थी पंच तत्वों से निर्मित स्थूल देह इन्द्रिय, अहंकार, बुद्धि युक्त प्राणी मात्र नहीं है। वरन् उसमें चैतन्य का वास है, आत्मा का निवास है। उसमें कार्य करने की असीम सम्भावनाएं हैं अतः वह ऊँचे से ऊँचे पथ की ओर अग्रसर हो सकता है। सांख्य योग के अनुसार बालक का व्यक्तित्व त्रिगुणात्मक है। सत्व, रजस और तमस उसके व्यक्तित्व के सार्वभूत तत्व हैं तथा व्यक्तित्व में पाये जाने वाले भेद भी भिन्न–भिन्न गुणों की प्रधानता के कारण हैं। अभ्यास एवं सतत् प्रयास से बालक तम से रज, रज से सत की दिशा की ओर उत्क्रमण कर सकता है। सांख्य योग की शिक्षा का मुख्य उद्‌देश्य बालक का सर्वांगीण विकास करना है। बालक को त्रिगुणातीत और गुंणातीत मानव बनाना हैं। अतः सांख्य योग दर्शन पर आधारित शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् शिक्षार्थी अनेक गुणों एवं क्षमताओं से युक्त होगा। कुछ प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार बताई जा सकती हैं –

1. शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ्य एवं सुगठित है उसका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से विकसित हैं।
2. निश्चत करना, संकल्प करना, विश्लेषण करना, मनन एवं चिंतन करना आदि शक्तियां विकसित हैं।
3. सृष्टि की उत्पत्ति एवं विकास क्रम को समझता है एवं उद्‌देश्यों की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।
4. अनेक प्रकार के उच्च नैतिक एवं चारित्रिक गुणों से युक्त हैं। जैसे – सत्य का पालन करने वाला अहिंसावादी इत्यादि।
5. परिवार एवं समाज में समन्वय स्थापित करते हुए उत्तरदायित्वों का पालन करता है।

6. स्वाभिमानी, स्वावलंबी एवं आत्मनिर्भर है।
7. अनेक प्रकार के योगासनों में पारंगत है एवं एकाग्रचित्त है।
8. उसकी नियमित दिनचर्या हैं एवं नियमित रूप से प्रार्थना, ध्यान आदि करता है।
9. प्रेम, दया, करूणा, सहयोग, सहानुभूति एवं भातृत्व, सामाजिक आदि भावों से युक्त है।
10. सतोगुणी एवं जिज्ञासु है। अंतिम सत्य को जानने एवं प्राप्त करने का प्रयास करता है।

5.6.3. विद्यालय

विद्यालय का स्वरूप प्राचीन गुरूकुल आश्रमों की भांति हो सकता है। चूंकि विद्यालय ज्ञान, कला, विज्ञान एवं संस्कृति के गतिशील केन्द्र होते हैं। यह एक प्रकार की साधना स्थली है जहां शील एवं चरित्र का निर्माण एवं विकास होता है अतः विद्यालय सरलता, पवित्रता, स्वच्छता एवं सुन्दरता से युक्त होना चाहिये। यहां शिक्षण हेतु पर्याप्त स्थान एवं पर्याप्त साधन सामग्री होना चाहिये। यहां का वातावरण शैक्षिक होना चाहिये शिक्षार्थी को विद्यालय अपना घर जैसा लगना चाहिये।

5.6.4 अनुशासन

सांख्य दर्शन विवेक ज्ञान अर्जन को ही शिक्षा का चरम लक्ष्य मानता है। उसके अनुसार इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु छात्र का अनुशासन का पालन एक अनिवार्य शर्म हैं, क्योंकि ज्ञान प्राप्ति हेतु चित्त का स्थिर और निर्मल होना आवश्यक है। शान्त मन और शुद्ध हदय से ही ज्ञान प्राप्ति की साधना सम्भव है।

सांख्य दर्शन छात्र के व्यक्तित्व के तीन पक्ष स्वीकार करता है। प्रथम पक्ष शरीर एवं वातावरण से सम्बन्धित है, द्वितीय, चित्त वृत्ति तथा तृतीय आत्मिक चेतना से सम्बन्धित है अनुशासन के दृष्टिकोण से इन तीनों का ही ध्यान रखना होता है। मानव मन, अहंकार और बुद्धि इनके निर्धारक हैं। छात्र का शरीरिक स्वास्थ्य उसके भौतिक वातावरण पर निर्भर करता है। मन, अहंकार और बुद्धि उसके मानसिक स्वास्थ्य से प्रभावित होते हैं, और उसका शुद्ध चैतन्य स्वरूप, आत्मिक स्वास्थ्य पर

निर्भर करता है। सांख्य दर्शन में इन तीनों पक्षों के अनुशासन की योजना प्रस्तुत की गयी है। इसे अष्टांग योग कहा जाता है।

मानव व्यक्तित्व के संगठन में अष्टांग योग की महत्वपूर्ण भूमिका है। उस का उददेश्य स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण करना है। उसके अभ्यास से व्यक्ति का शरीर, मन और चित्त अत्यन्त शुद्ध एवं स्वस्थ हो जाता है। शरीर, मन और चित्त का शुद्ध एवं स्वस्थ होना व्यक्तित्व के संगठन में सहायक है। जिस व्यक्ति का शरीर, मन और चित्त अशुद्ध और अस्वस्थ होता है उसका व्यक्तित्व विघटित होता है जिस व्यक्ति के ये तत्व शुद्ध और स्वस्थ होते हैं उसका व्यक्तित्व संगठित होता है। इन तत्वों की शुद्धि के लिये और वास्तविक व्यक्तित्व (निर्विकल्प समाधि) की प्राप्ति के लिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इत्यादि योग के ये आठ अंग अत्यन्त सहायक है। ये आठ अंग व्यक्तित्व संगठन हेतु क्रमिक सोपान है। शारीरिक और मानसिक स्वस्थता से ही आध्यात्मिक या संगठित व्यक्तित्व प्राप्त हो सकता है। अष्टांग योग एक ऐसे समायोजित परिवेश का निर्माण करता है जिसमें व्यक्ति के सम्पूर्ण मनोदैहिक विकार पूर्णरूपेण समाप्त हो जाते है। यह परिवेश समाधि है। समाधि की उत्कट अवस्था ही यथार्थ व्यक्तित्व है और यथार्थ व्यक्तित्व ही निर्विकल्प समाधि है।

योग शास्त्र में क्लेशों से चित्त परिशुद्धि हेतु अष्टांग साधनों का वर्णन किया गया है। चित्त को समाहित करने में इन साधनों का अभ्यास नितान्त आवश्यक है। ये आठ अंग हैं – यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पांच बहिरंग साधन है। ध्यान, धारणा और समाधि ये तीन अन्तरंग साधन है।

इन साधनों के सतत् अभ्यास से व्यक्ति के समस्त मनोदैहिक विकास काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, चिन्ता, घृणा, हताशा, हीन–भावना, आक्रामकता, भय आदि समाप्त हो जाते हैं। ये साधन व्यक्ति को नूतन जीवन प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। इन साधनों के सतत् परिणाम स्वरूप व्यक्ति की चंचल इन्द्रियाँ नियंत्रित हो जाती हैं, चित्त वृत्तियां निरूद्ध हो जाती हैं तथा व्यक्तित्व संगठित हो जाता है। इन साधनों से व्यक्ति अपने यथार्थ व्यक्तित्व (मोक्षावस्था) को प्राप्त कर सकता है। अतः शिक्षक और शिक्षार्थी को व्यक्तित्व संगठन के लिये ज्ञान, कर्म और अष्टांग योग का सतत् अभ्यास, एवं चिन्तन, मनन करना चाहिये।

5.6.5 कक्षा–व्यवस्था

शिक्षण कार्य को सफल बनाने में कक्षा व्यवस्था महत्वपूर्ण स्थान रखती है। अतः सर्वप्रथम उचित बैठक व्यवस्था होना आवश्यक है। भारतीय पद्धति के अनुसार नीचे बैठकर शिक्षण दिया जाना ज्यादा उचित हे। कक्षा का वातावरण भय रहित होना चाहिये जहां प्रत्येक शिक्षार्थी को झिझक या संकोच न हो, शिक्षार्थी को अपनापन लगे एंव संख्या की दृष्टि से कक्षा इतनी बड़ी हो कि शिक्षक व शिक्षार्थी के मध्य उचित सामंजस्य स्थापित हो सके।

5.6.6 अधिगम सामग्री

प्रत्येक शिक्षार्थी का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है इस दृष्टिकोण से स्वअधिगम सामग्री आवश्यक है। किसी तरह से प्रयोग करने हेतु उचित साधन सामग्री होना चाहिये शिक्षण की आवश्यकतानुरूप उचित शिक्षण सामग्री होनी चाहिये। स्वाध्याय हेतु पुस्तकालय एवं उसमें विभिनन प्रकार की पुस्तकें रहेंगी व्यवहारिक विषय के अध्ययन के लिये भी उचित सहायक सामग्री रहेगी।

5.6.7 नियमित दिनचर्या

सांख्य दर्शन के शैक्षिक निहितार्थ के संबंध में एवं उस पर आधारित शिक्षा ग्रहण करने वाला शिक्षार्थी की नियमित दिनचर्या होगी। जिसका पालन करना सभी विद्यार्थियों के लिये अनिवार्य होगा।

****

संदर्भ अनुक्रम

1. सांख्यकारिका –2
2. सांख्यकारिका – 2
3. सांख्यकारिका – 2
4. सांख्यकारिका – 3
5. सांख्यकारिका – 8
6. सांख्यकारिका – 9
7. सांख्यकारिका – 12, 13
8. सांख्यकारिका – 4
9. सांख्यकारिका – 21 से 28
10. 15, 16 सांख्य सूत्र व सांख्य प्रवचन भाष्य – 1/110, 1/22 – 137
11. सांख्य कारिका 12, 13
12. 170–20, सांख्य प्रवचन भाष्य तथा सांख्यवृत्ति – 166, 1–138 – 164, 5/61–68
13. सांख्यकारिका – 22, 23, 35 – 37, 43–52
14. सांख्यकारिका – 22, 24, 25
15. सांख्यकारिका – 22, 27
16. सांख्यकारिका – 22, 27, 28, 34
17. सांख्यकारिका – 2, 27, 38, 39
18. सांख्यकारिका – 9
19. सांख्यकारिका – 21, 57, 58, 61; 62, 63, 65, 66, 68
20. सुरेश भटनागर, शिक्षा मनोविज्ञान, इण्टरनेशनल पब्लिशिंग हाऊस, 1989, पृ. 42–81
21. भारत सरकार के मानव संसाधन मंत्रालय के शिक्षा विभाग द्वारा गठित समिति, 1991, द्वारा निर्धारित प्राथमिक स्तर पर, न्यूनतम अधिगम स्तर

अध्याय षष्ठम्

सांख्य दर्शन के शैक्षिक निहितार्थों की समालोचना

वर्तमान शिक्षा में सांख्य शिक्षा दर्शन कहां तक उपयोगी सिद्ध हो सकता है या सांख्य शिक्षा की वर्तमान युग में क्या प्रासंगिकता हो सकती है यह जानने के लिए हमें वर्तमान शिक्षा की समस्याओं का ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। उसके पश्चात् ही हम सांख्य की प्रासंगिता की पुष्टि कर सकते हैं।

6.1.0 वर्तमान भारतीय शिक्षा के दोष

स्वतंन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अत्यन्त त्वरित गति से शिक्षा का संख्यात्मक विकास भारत में हुआ है। साथ ही उसका विकास आदि से अन्त तक अनियोजित रहा है। परिणामतः शिक्षा का स्तर गिर गया है, छात्रों में ज्ञानार्जन की अभिलाषा नष्ट हो गई है, शिक्षित व्यक्तियों के समक्ष बेरोजगारी की समस्या उपस्थित हो गई है। और सर्वोपरि यह शिक्षा देश की वर्तमान एवं भावी आवश्यकताओं को पूर्ण करने में असमर्थ हो गई है। अतः जैसे कि "कोठारी कमीशन" ने लिखा है – "भारत में सामान्य भावना यह है कि उच्च शिक्षा की स्थिति असंतोषजनक एवं भयप्रद है। उच्च शिक्षा के प्रति इस सामान्य भावना का कारण उसमें परिलक्षित होने वाली बहुरंगी समस्याएं हैं। हम कुछ प्रमुख समस्याओं एवं उनके समाधान के उपायों की निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत चर्चा कर रहे हैं।

1. उद्देश्यहीनता – हमारी उच्च शिक्षा की उद्देश्यहीनता एक सर्वविदित तथ्य हैं। जमाना बदल गाया है, देश परिस्थितियां बदल गई हैं, परन्तु खेद का विषय है, कि उच्च शिक्षा का जो उद्देश्य–भारत के अंग्रेज शासकों ने अपनी स्वार्थ–सिद्धि के लिए निर्धारित किया था वह स्वतन्त्रता प्राप्ति के वर्षों बाद भी अपने पुरानत रूप में उच्च शिखा पर अपना अखण्ड साम्राज्य स्थापित किये हुए हैं। परतन्त्र भारत में इस उद्देश्य के वास्तविक स्वरूप का वर्णन गुन्नार मिरडल ने इन शब्दों में किया है, "विश्वविद्यालय की उपाधियाँ सरकारी नौकरियों के लिए पासपोर्ट थीं। शिक्षा–विद्यार्थियों की नौकरी के लिए न कि जीवन के लिए तैयार करने के सीमित उद्देश्य से प्रदान की जाती थी। जिस प्रकार उच्च शिखा परतन्त्र भारत के व्यक्ति को जीवन के लिए तैयार नहीं करती थी उसी प्रकार स्वतंन्त्र भारत में नहीं करती है। "इसकी पुष्टि हुमायुँ कबीर के इन शब्दों से होती है, "बहुत बार यह कहा गया है कि विश्वविद्यालयों में जो शिक्षा दी जाती है, वह व्यक्ति को व्यावहारिक जीवन के लिऐ तैयार नहीं करतीं।"[2]

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि विश्वविद्यालय की उपाधि से अलंकृत होकर, कोई सरकारी या गैर–सरकारी नौकरी प्राप्त करना वर्षों से उच्च शिक्षा का केवल एक ही उद्देश्य है किन्तु छात्रों द्वारा प्राप्त की जाने वाली उपाधियों में श्रेणियां का अन्तर होता है, उनके द्वारा अध्ययन किये जाने वाले विषयों में अन्तर होता है, और सर्वोपरि बड़े आदमियों तक उनकी पहुंच में अन्तर होता है। इन सब बातों का परिणाम होता है थोड़े से छात्रों का सरकारी या गैर सरकारी पदों पर नियुक्ति हो जाना और अधिकांश का बेरोजगारों के विशाल समूह में सम्मिलित होना।

इस उद्देश्यहीन शिक्षा का सबसे दूषित प्रभाव ग्रामों से नगरों में अध्ययन करने के लिए आने वाले छात्रों पर पड़ता हे। इस प्रभाव का सजीव चित्र हुमायुं कबीर के इन शब्दों में मिलता है, "विश्वविद्यालय, गांवो के योग्य और होनहार युवकों को शहरों में खींच लाते हैं। परन्तु इस प्रकार गांव के छोटे से समाज में नेता बनने के बजाय– जो कि वे बड़ी आसानी से बन सकते थे – वे शहर की अज्ञात जनसंख्या में हताश और कटू भावना से भरे सदस्य – मात्र बन जाते हैं।"[3]

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि हमारे विश्वविद्यालयों की उद्देश्यहीन शिक्षा, हमारे देश एवं नवयुवकों के जीवन पर कुठाराघात कर रही है। विश्वविद्यालयों की सोद्देश्य शिक्षा ही राष्ट्र के वैभव और उसके निवासियों की बौद्धिक, नैतिक एंव अध्यात्मिक श्रेष्ठता की निर्धारक शक्ति है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर डॉ. आर0के0 सिंह ने लिखा है। "देश का वैभव, विश्वविद्यालय से सम्बद्ध होता है। दूषित विश्वविद्यालय सम्पूर्ण राष्ट्र को दूषित कर देता है।"

2. छात्र अनुशासनहीनता – उच्च शिक्षा की सम्भवतः सबसे विकराल समस्या छात्र अनुशासनहीनता की है। यह कहना पूर्णतया युक्तियुक्त होगा कि इस समस्या की जननी आधुनिक उच्च शिक्षा है, जिसकी छत्रछाया में यह दिन प्रतिदिन भीमकाय रूप धारण करती चली जा रही है। और नित्य नूतन आकृति में प्रकट हो रही है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति प्रोफेसर एन0के0 सिद्धांत ने एक अध्ययन के आधार पर 7 प्रकार के अनुशासनहीन कार्यो का उल्लेख किया है।

1. उच्छृंखल व्यवहार , 2. सामान्य दुर्व्यवहार, 3. यौन सम्बन्धी दुर्व्यवहार, 4. परीक्षा से दुर्व्यवहार, 5. स्वाधिकारों का दुरूपयोग, 6. धन सम्बन्धी अनियमितता और 7. चोरी एवं सेंधमारी।"[4]

यह अनुशासनहीनता के कार्यो की अन्तिम सूची नहीं है, अपितु बानगी मात्र है। इन कार्यो की संख्या में इतनी अधिक वृद्धि हो गई है कि किसी भी सूची को पूर्ण नहीं कहा जा सकता है। अकारण हड़तालें, अनावश्यक प्रदर्शन, पुलिस से झगड़ा, बल का अनुचित प्रयोग, छोटी–छोटी बातों के लिए अनशन, कक्षाओं से बहिर्गमन, परीक्षाओं का बहिष्कार, शिक्षकों के साथ अभद्र व्यवहार, सार्वजनिक स्थानों में मारपीट, कालेजों के भवनों एवं रजिस्ट्रारों के कार्यालयों का अग्निहोम, परीक्षा में अनुचित साधनों का खुलेआम प्रयोग, छात्रसंघों के पदाधिकारियों द्वारा अपने अधिकारों का दुरूपयोग, युवतियों का अपहरण और उनके बलात्कार। ये सब छात्र अनुशासनहीनता के कुछ प्रतिदिन देखे और सुने जाने वाले नमूने हैं।

यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि उच्च शिक्षा की संस्थाओं में अनुशासनहीतना की समस्या उत्तरोत्तर अधिक ही अधिक जटिल होती जा रही है। इसीलिए – "भारतीय विश्वविद्यालय प्रशासन" ने यह मत प्रकट किया है कि "उच्च शिक्षा के केन्द्रों में अनुशासन बनाए रखने की समस्या प्रतिदिन अधिक गम्भीर होती जा रही है।"[5]

3. निर्देशन व परामर्श का अभाव – उच्च शिक्षा की संस्थाओं में निर्देशन एवं परामर्श सेवाओं का प्रायः पूर्ण अभाव है। अतः छात्र अपनी स्वयं की इच्छा से, अपने अभिभावकों के दबाव से, या किसी अनुभवहीन व्यक्ति से परामर्श से पाठ्य विषयों का चयन करते हैं। इस प्रकार का चयन अनेक छात्रों के समक्ष संकटपूर्ण स्थिति उपस्थित कर देता है। पाठ्य–विषयों का थोड़ा सा अध्ययन ही उनको स्पष्ट संकेत देने लगता है कि वे उनकी रूचियों के अनुकूल नहीं हैं, या उन पर अधिकार प्राप्त करने की क्षमता उनमें नहीं है या वे उनके भावी जीवन की आवश्यताओं के अनुकूल नहीं है।

इन बातों का पहला दुष्परिणाम होता है – परीक्षा में असफलता और दूसरा दुष्परिणाम होता है जीवन में असफलता। इस प्राकर निर्देशन एवं परामर्श सेवाओं के अभाव के कारण अनेक छात्रों को अपने भावी जीवन में पग पग पर निराश या निष्फलता के झपेटों का शिकार बनना पड़ता है।

4. दोषपूर्ण पाठ्यक्रम – स्वतंत्रत भारत में माध्यमिक शिक्षा का इतना अधिक प्रसार हुआ है परन्तु शिक्षा की एक समस्या माध्यमिक विद्यालयों का एक वर्गीय पाठ्यक्रम है। सभी विद्यार्थियों को एक पूर्व निर्धारित पाठ्यक्रम का अध्ययन करना

पड़ता है। छात्रों को अपनी रूचि एवं जिज्ञासा के अनुसार विषयों के चयन का अवसर नहीं प्राप्त होता। परिणाम यह होता है कि उनके मौलिक विचारों एवं मानसिक शक्तियों का विकास नहीं हो पाता। साथ ही पाठ्यक्रम का विद्यार्थियों के वातावरण और वास्तविक एवं व्यावहारिक जीवन से कोई संबंध नहीं है। फलतः जीवन क्षेत्र में पदार्पण करने पर वे अपने को एक ऐसी विचित्र स्थिति में पाते हैं कि वे सामाजिक वातावरण से अपना सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते आवश्यकता इस बात की है कि पाठ्यक्रम का विस्तार किया जाए और उसमें विभिन्न उद्योगों, व्यवसायों तथा कृषि–सम्बन्धी विषयों का समावेश किया जाय और छात्रों को उनकी रूचियों के अनुसार विषयों को चुनने में विशेषज्ञों द्वारा सहायता दी जाये।

5. **दोषपूर्ण परीक्षा प्रणाली** – माध्यमिक परीक्षा प्रणाली में एक नहीं अपितु अनेक दोष भरे हुए हैं। इस प्रणाली में जितने ही दोषों को उल्लेख किया जाय, उतने ही कम हैं। वस्तुतः वह भारत की साम्प्रदायिक, सामाजिक एवं राजनैतिक प्रणाली से भी अधिक बुरी है। मेट्रीकूलेशन परीक्षा का सम्पूर्ण माध्यमिक शिक्षा पर शासन है। एक विद्यालय और उसके शिक्षकों तथा छात्रों की श्रेष्ठता परीक्षा की कसौटी पर जांची जाती है। वही विद्यालय उत्तम समझा जाता है जिसका परीक्षाफल उत्तम होता है। ऐसी परिस्थितियों में अध्यापक उत्तम परीक्षाफल देने के लिए अनुचित साधनों का प्रयोग करते हैं। विद्यार्थी ज्ञान के अर्जन से वास्तविक लाभ उठाने की अपेक्षा केवल पुस्तकों को यन्त्रवत् रटते रहते हैं, जिससे उन्हें परीक्षा में अचछे अंक प्राप्त हों। परिणाम यह होता है कि उनके मस्तिष्क तथा व्यक्तित्व का विकास अवरूद्ध हो जाता है। परीक्षा ही छात्रों के ज्ञान और अध्यापकों की कार्य–क्षमता की वास्तविक कसौटी नहीं है। अतः यह आवश्यक है कि वर्तमान परीक्षा–प्रणाली में इस प्रकार परिवर्तन किया जाये, जिससे छात्र अर्जित ज्ञान से लाभान्वित हो सकें और अध्यापकों की कार्य क्षमता को भी आंका जा सके।

6. **सुसंगठित सामाजिक जीवन का अभाव** – विद्यालयों में सुसंगठित सामाजिक जीवन का सर्वथा अभाव है। इसका कारण यह है कि खेल, पर्यटन, शारीरिक व्यायाम तथा विनोदात्मक एवं सामाजिक क्रियाओं का कोई भी आयोजन नहीं किया जाता है, जिससे छात्रों में सम्पर्क स्थापित हो और उसमें घनिष्ठता बढ़े। इसके अतिरिक्त, स्कूलों में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा का पूर्ण अभाव है। इस प्रकार सामान्यतया एक साधारण स्कूल एक फैक्ट्री के समान होता है, जिसका प्रमुख उद्देश्य – छात्रों को मेट्रीकुलेशन परीक्षा में उत्तीर्ण कराना होता है। इसके

अतिरिक्त भी स्कूलों के कुछ और कार्य हैं। उन्हें छात्रों को देश के भावी नागरिकों के रूप में तैयार करना होता है। अतः जब तक छात्रों को विद्यालयों में सुसंगठित सामाजिक जीवन व्यतीत करने की शिक्षा नहीं दी जायेगी, तब तक वे देश के कुशल एवं कर्तव्यनिष्ठ नागरिक नहीं बन सकेंगे।

7. **निजी स्कूलों की अवांछनीय वृद्धि** – स्वतन्त्रता – प्राप्ति के पश्चात् शिक्षा–प्रसार के नाम पर माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में असाधारण वृद्धि हुई है। परन्तु यह वृद्धि अवांछनीय होने के साथ–साथ छात्रों, अध्यापकों एवं अन्त में देश के लिए अभिशाप सिद्ध हुई है। इनमें से अधिकांश स्कूल, किसी जाति–विशेष, राजनैतिक दल या सेठ–साहूकार की निजी सम्पत्ति होते हैं, जिनमें जातिवाद का ताण्डव नृत्य होता है, जिन्हें राजनैतिक रंगमंच में परिणत कर दिया है और जो प्रबन्धकों की आय के निश्चित साधन हो गये हैं। अध्यापकों को अल्प वेतन पर नियुक्त किया जाता है, उनके वेतन में से कटौती की जाती है और ग्रीष्मावकाश में उनसे त्याग–पत्र ले लिया जाता है। ऐसे स्कूलों के अनुशासन, शिक्षा–स्तर एंव शिक्षकों और छात्रों के चरित्र का अनुमान सरलतापूर्वक लगाया जा सकता है। स्कूल निरीक्षक भी ऐसे स्कूलों के प्रति उदासीन हो जाते हैं।

8. **शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी** – हमारे देश को स्वतन्त्र हुए आज पूरे 55 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, परन्तु अब भी विश्वविद्यालयों में शिक्षा के माध्यम के पद पर अंग्रेजी भाषा प्रतिष्ठित है। हमारी दीर्घकालीन दासता ने हम में अंग्रेजी से इतना मोह उत्पन्न कर दिया है कि हम अब भी उसका आंचल पकड़े हुए हैं। परन्तु इससे हमारे नवयुवकों की कितनी हानि हो रही है, इस बात को हमने कभी शांत मस्तिष्क से नहीं विचारा। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा था, "विदेशी माध्यम ने राष्ट्र की शक्ति को क्षीण कर दिया है। इसने व्यक्तियों की आयु कम कर दी है, इसने उनको जनसाधारण से पृथक कर दिया है। इसने शिक्षा को अनावश्यक रूप में मंहगा बना दिया है।"

6.2.0 वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में सांख्य की प्रासंगिकता

हमारी आधुनिक शिक्षा–प्रणाली को पुर्नजीवन प्रदान करने में सांख्य–दर्शन महत्वपूर्ण योगदान कर सकता है। भारतीय दर्शनों पर प्रायः यह आपेक्ष लगाया जाता है कि इसमें आत्मज्ञान पर इतना अधिक आग्रह है कि शरीर की अवहेलना की

जाती है। वेदान्त तथा अन्य भारतीय दर्शनों में इस सृष्टि और शरीर को माया माना जाता है। फलतः शरीर की उपेक्षा की जाती है तथा आध्यात्मिक विकास पर बल दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि अन्य दर्शन व्यावहारिक शिक्षा के लिए कुछ भी योगदान करने में अशक्त रहते हैं। विद्यालयी शिक्षा के प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं तथा दर्शन एवं धर्म के बीच कोई भेद नहीं रह जाता। दूसरी ओर आदर्शवाद से इतर अन्य पाश्चात दर्शन शरीर, इन्द्रियां, मन आदि को इतना महत्व दे देते हैं कि आत्मा की उपेक्षा हो जाती है। सांख्य दर्शन मध्यम–मार्ग प्रस्तुत करता है। वह बालक के शरीर, प्राकृतिक परिवेश तथा उसमें निहित आत्मा सभी को उचित स्थान प्रदान करता है। सांख्य दर्शन में शरीर और आत्मा तथा सृष्टि और परमात्मा को एक दूसरे का पूरक माना गया है।

बिना आत्मा के शरीर निर्जीव प्रकाश रहित तथा जड़ है तो बिना शरीर के आत्मा पंगु है। शरीर की सहायता के बिना आत्मा अपने आपको अभिव्यक्त नहीं कर सकती है।

सांख्य द्वारा प्रस्तुत बाल–विकास का विवेचन मनोवैज्ञानिक है तथा बाल–विकास की दृष्टि से अध्यापक को एक नई अर्न्तदृष्टि प्रदान करता है। इसमें शरीर, इन्द्रियां, मन, अहंकार, बुद्धि आदि विभिन्न ज्ञानात्मक अंगों के विकास का अवस्थावार विवेचन मिलता है।

अधिकांश भारतीय दर्शन एकात्मवादी दर्शन है, जिनमें व्यक्ति को समष्टि का अंग माना जाता है। दूसरे शब्दों में जीव को ब्रहा का अंश माना जाता है। व्यक्ति का उदगम भी ब्रहा से तथा समाहार भी ब्रह्म में माना जाता है। इस प्रकार की विचारधारा सर्वाधिकारवाद को जन्म दे सकती है। सांख्या विचारधारा आधुनिक लोकातान्त्रिक दर्शन से मेल खाती है। सांख्य दर्शन में प्रत्येक व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा पृथक है तथा उसका व्यक्तित्व अद्वितीय है। प्रत्येक छात्र को अपनी क्षमता, योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार विकास करने का अधिकार है। उसका व्यक्तित्व उसका है, और वह अनुपम है, गरिमामय है। उसमें स्वतन्त्र संकल्प शक्ति है। अपनी सृष्टि का निर्माण तथा नियमन करने के लिए वह स्वतंन्त्र है। व्यक्तित्व का यह गरिमामय स्वरूप लोकतन्त्र को जीवित रखने एवं अनुप्राणित करने के लिए आवश्यक है।

भारत में अनेक विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक और उपकुलपति के अतिरिक्त कुलपति और विश्वविद्यालय आयोग के सभापति के रूप में डॉ. राधाकृष्णन ने

वर्तमान भारतीय शिक्षा पर तीन आरोप लगाये –

1. यह मानव–आत्मा का खण्डन करती है और विद्यार्थी में सृजनशीलता को कुण्ठित करती है।

2. वर्तमान शिक्षा प्रणाली के द्वारा विद्यार्थी को यह पता नहीं चलता कि सबसे उत्तम चिन्तन क्या है।

3. वर्तमान शिक्षा–प्रणाली स्वतन्त्र चिन्तन का विकास नहीं करती। राधाकृष्णन के शब्दों में "शिक्षा की समुचित पद्धति को मनुष्य के संतुलित विकास पर जोर देना चाहिये और विज्ञान और ज्ञान की महत्ता को समझना चाहिए, उसे केवल बुद्धि को शिक्षित नहीं करना चाहिए। बल्कि मानव–हृदय को सौन्दर्य से भर देना चाहिए। ज्ञान साहित्य, दर्शन और धर्म के अध्ययन से अर्जित किया जा सकता है। वह ब्रह्मांण्ड के उच्चतर नियमों की व्याख्या करता है। यदि हमारा कोई सामान्य दर्शन अथवा जीवन का दृष्टिकोण नहीं है तो हम व्याकुल रहेंगें और लालच, भीरुता, उद्विग्नता तथा पलायनवाद से ग्रस्त रहेंगें।"[6] स्वतन्त्र चिन्तन के बिना मनुष्य का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। आधुनिक शिक्षा परतन्त्र मस्तिष्क को जन्म देती है। रवीन्द्र नाथ टैगोर और राधाकृष्णन् आध ुनिक शिक्षालयों को यन्त्रालय मानते है। जिसमें मानव–यन्त्रों का निर्माण होता है, मनुष्यों का विकास नहीं किया जाता। वास्तविक शिक्षा सम्पूर्ण मानव का निर्माण करती है। आधुनिक शिक्षा में व्यक्तिगत विभिन्नताओं की ओर कोई ध यान नहीं दिया जाता। राधाकृष्णन् के शब्दों में, "प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व, साधन और अभिरूचियों में अन्तर होता हे। परन्तु जो शिक्षालय केवल यन्त्रालय के समान हैं, वह मनुष्य की भिन्नता पर विचार नहीं करता। उसमें आत्मा के विकास अथवा स्वतन्त्र विचारो की प्रगति की कोई स्वतन्त्रता नहीं होती। ध ार्मिक और कलात्मक, आध्यात्मिक और नैतिक प्रवृत्ति केवल वैज्ञानकि विधि और सामाजिक नियम रटने में रह जाती है। इस प्रकार के अध्ययन का परिणाम अच्छा नहीं होता।"[7] इस प्रकार आधुनिक शिक्षा मस्तिष्क को यन्त्र बना देती है और मौलिकता का विनाश करती है। वह आत्म विकास पर जोर देती है। वह बौद्धिक और वैज्ञानिक है। उसके द्वारा चरित्र निर्माण किया जा सकता है। उससे विश्वबन्धुत्व की भावना उत्पन्न की जा सकती है। वह छात्रों की व्यक्तिगत विनियमितताओं पर जोर देकर छात्रानुसार शिक्षा पद्धति को जानती है।

वर्तमान शिक्षा–प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्वबन्धुत्व की धारणा का प्रसार नहीं करती। वह मस्तिष्क को उन्मुक्त नहीं करती, न आत्म साक्षात्कार की ओर ही ले जाती है। राधाकृष्णन् के शब्दों में, "हमारी शिक्षा ने हमें बौद्धिक बन्धनों से स्वतंत्र नहीं किया है। वह मस्तिष्क को उत्तेजित तो करती है, परन्तु तृप्त नहीं करती। हम कविता पढ़ते है, चलचित्र देखते हैं तथा उपन्यास पढ़ते हैं और समझ लेते हैं कि हम सुसंस्कृत हैं। हमारा विवेक केवल दिखावा है। हम अपनी आन्तरिक प्रेरणा को सहारा देने के लिये विवेक को काम में लाते हैं हम जो कुछ करना चाहते हैं, उससे लिये झूठे बहाने निकाल लेते हैं और जो कुछ विश्वास करना चाहते हैं, उसके लिये तर्क देने लगते हैं।"[8] इस प्रकार प्रचलित शिक्षा–प्रणाली मनुष्य को महान् न बनाकर सामान्य बनाती है। वह निर्भय न बनाकर भय पैदा करती है, अपने से भय और दूसरें से भी भय। राधाकृष्णन् के शब्दों में, "प्रचलित शिक्षा–पद्धति, छापाखाना, चलचित्र और बेतार के तार ने साधारण व्यक्ति के मस्तिष्क को उच्छिष्टता से भर दिया है, यद्यपि युद्ध, धोखाधड़ी और व्यवहारवाद तथा गर्भ निरोध आदि बहुत सी बातों ने उसे प्रभावित किया है। जिनका ज्ञान अधिक है वह उसे व्यक्त करने से डरते हैं, तथा सामान्य लोगों के साथ कदम मिलाकर चलते हैं।"[9] अस्तु एक ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जो मस्तिष्क को उन्मुक्त करे, चरित्र का विकास करें, और मुक्ति दे और विश्वबन्धुत्व की ओर ले जायें।

शिक्षा का लक्ष्य

सांख्य शिक्षा दर्शन की परंम्परा में डा0 राधाकृष्णन् कहते हैं, "जीवन की लक्ष्य सांसारिक आनन्द उठाना नहीं हैं, बल्कि आत्मा को शिक्षित करना है। यही शिक्षा का लक्ष्य है। शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य मनुष्य को आन्तरिक सत् को जानने में सहायता देना है।"[10] भौतिक सफलता शिक्षा का लक्ष्य नहीं है। केवल डिग्री की शिक्षा सच्ची शिक्षा नहीं है। वास्तविक शिक्षा तो मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति पर आधारित होनी चाहिये। उसका लक्ष्य आत्म–विकास है। राधाकृष्णन् के शब्दों में, "शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य यह है कि मनुष्य का चरित्र तालबद्ध होना चाहिये और उनकी आत्मा सृजनात्मक होनी चाहिये।"[11] शिक्षा का लक्ष्य सब प्रकार की स्वतन्त्रता की ओर ले जाना है। उसका ध्येय केवल बाहय योग्यता प्राप्त करना नहीं होना चाहिये। शिक्षा के द्वारा व्यवहारिक सफलता का महत्व अवश्य है, किन्तु यही उसकी एक मात्र कसौटी नहीं है।

आधुनिक भारतीय शिक्षा शास्त्रियों के अनुसार शिक्षा के निम्नलिखित मुख्य लक्ष्य सांख्य शिक्षा दर्शन में पहले से ही पाये जाते हैं।

(1) ज्ञान प्राप्त करना—शिक्षा का सबसे प्रमुख लक्ष्य मनुष्य को ज्ञान देना है, उसको विद्वान बनाना है। ज्ञान के बगैर आध्यात्मिक विकास नहीं हो सकता। इसी ज्ञान के लिये विज्ञान, साहित्य, कला और दर्शन आदि की शिक्षा दी जाती है।

(2) रूपान्तरण—किन्तु कोरा ज्ञान कुछ नहीं हैं, जब तक कि उसकों आत्मसात न कर लिया जाये। इससे मनुष्य का रूपान्तरण होता है। यह केवल पुस्तकीय ज्ञान से सम्भव नहीं है। राधाकृष्णन् के शब्दों में, "पुस्तकों से शिक्षा ग्रहण की जा सकती है, परन्तु इस प्रकार से प्राप्त किया हुआ ज्ञान आत्मा की गहराई में नहीं उतरता, वह मानव की प्रकृति का अंग नहीं बनता। उसके द्वारा रूपान्तरण नहीं होता। रूपान्तरण के लिये यह आवश्यक है कि कुछ क्षणों के लिये पूर्णतया शान्त होकर बैठा जाये और यह देखा जाये कि जो विद्या तुमने ग्रहण की है, जो ज्ञान तुमने प्राप्त किया है, उसका रूपान्तरण हो।"

(3) स्वतन्त्रता— शिक्षा का लक्ष्य मानव आत्मा की स्वतन्त्रता है। राधाकृष्णन् ने लिखा है, "मानव आत्मा की स्वतन्त्रता सबसे अधिक मूल्यवान है, यह आवश्यक है कि मानव आत्मा की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखें जिससे बहुत से लाभ हैं, जिनसे संस्कृति की वृद्धि हुई है.............. हमने आरम्भ में ही कहा है कि मानव आत्मा की स्वतन्त्रता से अधिक बड़ा कुछ नहीं हैं और मानव—आत्मा की प्राप्ति से अधिक कुछ नहीं है।"[12]

(4) चरित्र—निर्माण— किसी भी राष्ट्र का भविष्य उसके नर नारियों के चरित्र पर निर्भर है। चरित्र निर्माण का कार्य शिक्षा द्वारा होता है। चरित्र से तात्पर्य नैतिक चरित्र है, इसके बगैर व्यक्ति अथवा समाज किसी की भी प्रगति नहीं हो सकती। राधाकृष्णन् के शब्दों में, "चरित्र के द्वारा राष्ट्र के भाग्य का निर्माण होता है। जिस देश के निवासियों का चरित्र नीचा है, वह देश कभी भी महान् नहीं हो सकता। यदि हम एक महान् राष्ट्र का निर्माण करना चाहते हैं तो हमें अधिक संख्या में युवकों और युवतियों को इस प्रकार शिक्षित करना होगा कि उनमें चरित्र—बल हो। हमारे पास ऐसे नर नारी होने चाहिये जो दूसरों में अपनी झांकी देखें, जैसा कि हमारे शास्त्रों में कहा गया है।"[13] इस

प्रकार विश्व बन्धुत्व नैतिक चरित्र का सबसे बड़ा गुण है। राधाकृष्णन् ने इसके विकास पर जोर दिया है। विवेकानन्द के शब्दों में, "किसी भी व्यक्ति का चरित्र केवल उसकी प्रवृत्तियों का समग्र, उसके मानव के झुकाव का समग्र है। जैसे–जैसे सुख और दुख उसकी आत्मा के सामने आते हैं, वे उस पर विभिन्न चित्र छोड़ जाते हैं और इन संयुक्त संस्कारों के परिणाम को ही मनुष्य का चरित्र कहा जाता है।"[14]

(5) आत्माभिव्यक्ति– शिक्षा से मनुष्य आत्माभिव्यक्ति की कला सीखता है। भाषा इसी का एक रूप है। भाषा पर अधिकार करने से व्यक्ति अपने विचारों को स्पष्ट कर सकता है। विभिन्न विषयों की शिक्षा देने में आत्म प्रकाशन की कला के विकास पर विशेष रूप से दृष्टि रखी जानी चाहिये। आत्म प्रकाशन के लिये अन्तर्दृष्टि का विकास आवश्यक है।

(6) अन्तर्दृष्टि का विकास–अन्तर्दृष्टि के विकास के बिना कोई भी शिक्षा अधूरी है। सांख्य दर्शन में अन्तर्दृष्टि को उच्चतम शिखा कहा गया है। उससे सत और असत, उचित और अनुचित का अन्तर किया जा सकता है। उसी से अपने को और जगत को समझा जा सकता है। उसी से अपने को और जगत को समझा जा सकता है। उसी से कैवल्य को प्राप्त किया जा सकता है। यह अन्तर्दृष्टि केवल पुस्तकों को पढ़ने से नहीं मिल सकती। इसके लिये योग्य शिक्षक के नेतृत्व की आवश्यकता है।

शिक्षा–व्यवस्था में शिक्षक का स्थान

सांख्य दर्शन में शिक्षक को अत्यन्त उच्च स्थान दिया गया है। किसी भी विद्यालय का महत्व उसके विशाल भवनों, प्रयोगशालाओं और साधनों से नहीं होता, उसका महत्व उसके योग्य शिक्षकों से होता है। राधाकृष्णन् के शब्दों में "हम किस प्रकार की शिक्षा अपने युवकों को दे सकते हैं, यह इस बात का निर्भर करता है कि हम किस प्रकार से शिक्षक प्राप्त कर सकते हैं।"[15] इसके लिये शिक्षण कार्य के प्रति पूर्ण समर्पण की आवश्यकता है। सांख्य शिक्षा में गुरू का दर्जा बहुत ऊँचा है और उसका जीवन और योग्यता भी वैसे ही ऊँचे है। आधुनिक शिक्षा पद्धति में अधिकतर समस्याओं का मूल कारण अयोग्य शिक्षक हैं। विद्यार्थी में चरित्र निर्माण के पहले शिक्षक में चरित्र होना चाहिये। डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है, "हमारे युवकों के

मस्तिष्क और हृदय के निर्माण में शिक्षकों का विशिष्ट स्थान है।"[15] "शिक्षक अपने और जनता के सेवकों के ऊपर सर्वसत्ताधारी होते हैं। वे अपनी भावनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं और जितना भी सम्भव हो उतनी मानवता की सहायता करते हैं। यही परिपाटी चली आयी है। हमारे सबसे महान् शिक्षक वे रहे हैं जिन्होंने हमारी संस्कृति को जीवित रखा है। वे सुदूर देशों की यात्राओं के लिये गये और उन्होंने वह सब भी जानने का प्रयत्न किया जो उनकी संस्कृतियों में निहित है।"[17] शिक्षक को जिज्ञासु होना चाहिये। उसे ज्ञान के विकास में भी उतनी ही रूचि लेनी चाहिये जितनी ज्ञान के विस्तार में । विश्वविद्यालय आयोग के प्रधान के रूप में अपनी सिफारिशों में डा0 राधाकृष्णन् ने योग्य शिक्षकों की भर्ती पर और शिक्षा–व्यवस्था में सब प्रकार से शिक्षकों के हितों पर ध्यान देने पर जोर दिया है। विश्वविद्यालयों के शिक्षकों को अनुसन्धान और नवयुवकों में चरित्र–निर्माण दोनों ही कार्य करने होते हैं। इसलिये उनका चुनाव करते समय केवल बौद्धिक योग्यता पर जोर नहीं दिया जाना चाहिये, बल्कि विद्वता के साथ–साथ अपने विषय से प्रेम और विद्यार्थियों के चरित्र–निर्माण में उत्साह पर भी ध्यान दिया जाना चाहिये।

शिक्षा की गुरूकुल प्रणाली

वर्तमान काल में विद्यार्थियों के मस्तिष्क में यह विचार घुस गया है कि चूंकि वे शुल्क देते हैं, इसलिये उन्हें शिक्षा पाने का अधिकार है और इस प्रकार शिक्षक वैतनिक व्याख्यानदाता से अधिक नहीं रह गया है। वह गुरू या निदेशक नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि शिक्षक शिक्षार्थी सम्बन्ध बिगड़ते जा रहे हैं और विद्यालयों में अनुशासनहीनता की समस्या बढ़ती जा रही है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? सांख्य विचारक गुरू–शिष्य के सम्बन्धों को अधिक घनिष्ठ बनाना चाहते हैं। शिक्षक का व्यक्तिगत जीवन जितना ही ऊंचा होगा, शिक्षार्थियों पर उसका उतना ही अधिक प्रभाव पड़ेगा। प्राचीन भारतीय परम्प्रा में ऋषि–मुनि शिक्षा देने का काम करते थे। शिक्षक की सबसे पहली योग्यता आत्मत्याग है। उसे बिना किसी बदले की भावना के शिक्षार्थी को सब प्रकार से ज्ञान देने के लिये तत्पर रहना चाहिये। प्राचीन भारतीय परम्परा में शिष्य गुरू की हर प्रकार से सेवा करता और उसके लिये भिक्षा मांगकर लाता था। भिक्षा मांगने के पीछे यह भावना थी कि शिक्षा व्यवस्था समाज में गृहस्थ लोगों के सहयोग से चलायी जानी चाहिये। शिक्षक और शिक्षार्थी के मध्य किसी प्रकार का आर्थिक समझौता नहीं होता था। विद्यालय गुरूकुल कहलाते थे और

गुरूकुल में विद्यार्थी अपने घर की तरह रहते थे। गुरू और गुरू–पत्नी उनकी सब प्रकार की आवश्यकताओं का ध्यान रखते और प्रत्येक विद्यार्थी गुरूकुल को चलाने में अपना योगदान देता था। नये आवास बनाने से लेकर पुराने आवासों की मरम्मत, जंगल से लकड़ी लाना, कुएँ से पानी खीचना, खेती–बाड़ी सब प्रकार के काम शिष्यगण किया करते थे। विवेकानन्द भारतवर्ष में गुरूकुल प्रणाली के आधार पर शिक्षा व्यवस्था चलाने की राय देते हैं। सांख्य आधारित शिक्षा प्रणाली ऐसी ही है।

शिक्षार्थी और शिक्षक के गुण

प्राचीन भारतीय शिक्षा–व्यवस्था में शिक्षार्थी मे शिक्षा देने वाले व्यक्ति में कुछ गुणों का होना आवश्यक माना जाता था। विवेकानन्द के अनुसार शिक्षार्थी में विचारों की शुद्धता, ज्ञान की पिपासा, धैर्य, वचन और कर्म में शुद्धता इत्यादि गुणों की आवश्यकता है। इनके अभाव में शिक्षा प्राप्त नहीं की जा सकती। शिक्षार्थी को अपनी निम्न प्रकृति पर नियन्त्रण करना चाहिये और धैर्यपूर्वक आत्मविकास का प्रसास करना चाहिये। दूसरी ओर शिक्षक का आत्मविकास अत्यन्त उच्च होना चाहिये। वास्तविक शिक्षा पुस्तकों से नहीं, बल्कि गुरू के वचनों से प्राप्त की जाती है। वचनों के पीछे भी ग्रन्थ अथवा वक्ता की आन्तरिक शक्ति का महत्व होता है। शब्दों से अधिक उनके पीछे की भावना का महत्व है। जो शिक्षक स्वयं आध्यात्मिक अनुभव नहीं रखता, वह विद्यार्थी को क्या होगा? अच्छे शिक्षक को सही अर्थों में शिक्षार्थी का गुरू, निर्देशक और आदर्श होना चाहिये। उसे निष्पाप होना चाहिये, क्योंकि हृदय और आत्मा की शुद्धता के बिना न तो कोई ज्ञान दे सकता है और न कोई ज्ञान ले सकता है। आत्मा की शुद्धता के बिना वचनो का कोई अर्थ नहीं होता। आत्मा की शुद्धता और निष्पाप जीवन के अलावा शिक्षक में त्याग की भावना भी आवश्यक है। शिक्षण स्वयं अपना लक्ष्य है, वह धन अथवा यश कमाने का साधन नहीं होना चाहिये। शिक्षा देने में शिक्षक का एक मात्र लक्ष्य मानव मात्र के प्रति विशुद्ध प्रेम होना चाहिये। इस प्रेम के माध्यम से ही आध्यात्मिक शक्ति कार्य करती है। जब कभी भी शिक्षा देने के पीछे धन अथवा नाम की लालसा काम करती है तो उसकी प्रभावोत्पादकता समाप्त हो जाती है।

शिक्षक का कार्य शिक्षार्थी के अन्दर छिपी आध्यात्मिक चेतना को जगाना है। जिन शिक्षकों को शिक्षण कार्य में कोई आनन्द नहीं आता, उनको यह कार्य कभी

नहीं करना चाहिये। दूसरी ओर, जिनके लिये शिक्षण उनका मिशन है, वही शिक्षक शिक्षार्थियों में आत्म विश्वास जगा पाते हैं। सच्चा शिक्षक वह है जो विद्यार्थी को असत्य से सत्य की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाये। भारतीय दर्शन के अनुसार, इन्हीं लक्ष्यों को प्राप्त करना मनुष्य का परम कर्तव्य है। सांख्य आधारित शिक्षा इसी ओर ले जाती है।

शिक्षा प्राप्त करने की विधियाँ

सांख्य के अनुसार शिक्षक का कार्य शिक्षार्थी में पहले से ही उपस्थित सामर्थ्यों और आध्यात्मिक तत्व को अभिव्यक्त करने में सहायता देना है। इस विषय में आध् ुनिक शिक्षा शास्त्रियों में दो मत नहीं है। आधुनिक शिक्षा शास्त्री यह मानते हैं कि शिक्षार्थी अपनी विभिन्न प्रकार की क्रियाओं से ही शिक्षा प्राप्त करता है। शिक्षा से वह अपनी सांस्कृतिक विरासत को पहचानता है और जीवन संघर्ष में इसका लाभ उठाता है। चूंकि शिक्षक उस मार्ग पर चल चुका है जिस पर शिक्षार्थी को चलना है और वह उस मार्ग की कठिनाईयों तथा मंजिलों से भली भांति परिचित है, इसलिये वह शिक्षार्थियों का मार्ग दर्शन कर सकता है। यह मार्ग दर्शन शिक्षक का पहला कर्तव्य है।

1. कठिनाइयों का निराकरण– शिक्षा का मार्ग कण्टकाकीर्ण है। भिन्न–भिन्न विद्यार्थियों को मार्ग में भिन्न–भिन्न कठिनाईयाँ और बाधाएं मिलती है। शिक्षक का कर्त्तव्य इन बाधाओं को दूर करने में सहायता देना है। कुशल शिक्षक स्वयं भी इन बाधाओं को जानता है और बाधाओं से बचाकर शिक्षार्थी को शिक्षा के मार्ग पर अग्रसर करता है।

2. मनोवैज्ञानिक शिक्षण– चूंकि अधिकतर बाधायें मनोवैज्ञानिक होती है, इसलिये शिक्षक को मानव मनोविज्ञान का पर्याप्त ज्ञान होना आवश्यक है। भारतीय शिक्षा दर्शन में सांख्य योग मनोविज्ञान विद्यार्थियों के मनोवैज्ञानिक शिक्षण के आधार प्रदान करता है। निर्देशन के अनेक आधुनिक परिणाम इसका समर्थन करते हैं। बाध ाओं के दूर होने से शिक्षार्थी अधिक केन्द्रित ध्यान से शिक्षा ग्रहण करता है। जितनी ही अधिक बाधायें दूर रहेंगी उतना ही ध्यान का केन्द्रीकरण होगा। इसके लिये शिक्षार्थी को अपने चारों ओर के परिवेश से ध्यान को समेटने की आवश्यकता होती है, जिससे कि वह शिक्षा में ध्यान लगा सके। योग ध्यान के मनोविज्ञान का

सांगोपाग दर्शन है। उसमें ध्यान की बाधाओं का वर्चस्व है और उन्हें दूर करने के उपाय भी बतलाये गये हैं। योग ध्यान की कला और ध्यान का विज्ञान है। पश्चिम के अनेक शिक्षा शास्त्री ध्यान के लिये मौलिक क्रियाओं का महत्व मानते हैं।

3. ध्यान की एकाग्रता– विवेकानन्द ने शिक्षा में ध्यान के केन्द्रीकरण पर जोर दिया है। उनके अपने शब्दों में, "ज्ञान के खजाने की एक मात्र पूँजी एकाग्रता की शक्ति है। साहित्यकार अथवा वैज्ञानिक प्रत्येक को अपने–अपने क्षेत्र में लम्बे काल तक एकाग्र होकर काम करना पड़ता है, तभी कोई महत्वपूर्ण बात बन पाती है। सच तो यह है कि जो व्यक्ति जितना ही अधिक एकाग्र हो सकता है, अन्य बातें समान रहने पर वह उतना ही अधिक कार्य कर सकता है। परन्तु फिर भिन्न–भिन्न व्यक्तियों में एकाग्रता की सामर्थ्य में अन्तर देखा जा सकता है।" अस्तु, शिक्षक को ध्यान एकाग्र करने में शिक्षार्थी की सहायता करनी चाहिये। इस सम्बन्ध में उसे भिन्न भिन्न शिक्षार्थियों की एकाग्रता की सामर्थ का भी ध्यान रखना चाहिये। जहाँ कुछ लोगों के लिये ध्यान एकाग्र करना बड़ा सरल होता है, वहां अन्य व्यक्तियों को इसके लिये जबर्दस्त चेष्टा करनी पड़ती है। शिक्षक को दूसरे प्रकार के शिक्षार्थियों को ध्यान एकाग्र करने का प्रशिक्षण देना चाहिये। हमारे चारों ओर के परिवेश मे असंख्य वस्तुयें अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती रहती हैं। इसी प्रकार मनुष्य के मन में उठने वाली हजारों प्रवृत्तियां और विचार अनवधान के कारण हैं। अस्तु, शिक्षक को शिक्षण प्रक्रिया का इस प्रकार आयोजन करना चाहिये कि अनवधान कम से कम हो जिससे एकाग्रता सहज हो जाये। सच तो यह है कि मन को एकाग्र करने की सामर्थ्य ही शिक्षा है। अस्तु सांख्य योग, दर्शन से अधिक शिक्षा शास्त्र है। शिक्षित व्यक्ति की पहचान यह नहीं है कि उसने कितनी अधिक पुस्तकों का अध्ययन किया है, बल्कि यह है कि कोई कार्य उठाने पर वह उसमें कहां तक ध्यान को एकाग्र कर सकता है। यह सामर्थ्य योग के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

4. ब्रह्मचर्य का महत्व– सांख्य योग के अनुसार ध्यान को एकाग्र करने के लिये ब्रह्मचर्य का पालन सबसे पहली शर्त है। ये विचारक सदा से ही यह मानते आये हैं कि ब्रह्मचर्य से महान बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती है। इस दृष्टि से सांख्य योग विचारकों और पाश्चात्य विचारकों के विचारों में भारी अन्तर है। किन्तु केवल प्राचीन सांख्य योग विचारकों ने ही नहीं, बल्कि समकालीन भारतीय शिक्षा दार्शनिकों–श्री अरविन्द, महात्मा गांधी, दयानन्द, राधाकृष्णन् तथा अन्य ने ब्रह्मचर्य के विषय में वैसे ही विचार प्रस्तुत किये हैं जैसे कि सांख्य योग के वचनों

में मिलते है। सांख्य योग विचारकों के अनुसार ब्रह्मचर्य के काम शक्ति आध्यात्मिक शक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है। ब्रह्मचर्य का अर्थ मन, वचन, कर्म की शुद्धता है। ब्रह्मचारी को बुरे विचारों की कल्पना तक नहीं करनी चाहिये। सांख्य विचारकों ने यह दिखलाया है कि कैसे ब्रह्मचर्य का पालन करने से सीखना, स्मृति, चिन्तन इत्यादि मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएं तीव्र हो जाती है और शिक्षा का कार्य अत्यन्त सरल हो जाता है। ब्रह्मचर्य से मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है और स्मृति तीव्र होती है। ब्रह्मचर्य के बिना आध्यात्मिक शक्ति तो सम्भव ही नहीं है। गांधी जी विद्यार्थी के लिये ब्रह्मचारी शब्द को ही सबसे अधिक उपयुक्त मानते थे। विद्यार्थी को पूरे जीवन में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिये। यह पालन पूरी तरह स्वेच्छा से होना चाहिये, क्योंकि इसे बाहर से लादा नहीं जा सकता। ब्रह्मचर्य की शिक्षा शैशवावस्था से ही प्रारम्भ होनी चाहिये। इसमें बालकों के सामने शिक्षक के अपने व्यक्तित्व द्वारा प्रस्तुत उदाहरण का बड़ा महत्व है। उसका प्रभाव केवल कक्षा की दीवारों तक ही सीमित नहीं होता। कक्षा के कमरे से बाहर निकल कर बालक जो कुछ करता है, उस पर भी शिक्षक का प्रभाव होता है। अस्तु, शिक्षक का सामाजिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक, शारीरिक और संवेगात्मक विकास शिक्षार्थी के सामने आदर्श के रूप में होना चाहिये। यदि इनमें से किसी भी पहलू का बुरा प्रभाव पड़ता है तो उस पहलू में विद्यार्थी में भी अवांछित विकास होगा। अस्तु, विद्यार्थियों के सामने ब्रह्मचर्य का आदर्श रखने के लिये सबसे पहले स्वयं शिक्षकों को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य शारीरिक और मानसिक दोनों ही दृष्टि से लाभदायक है। ब्रह्मचर्य का पालन करने से अनवधान के अवसर कम आते हैं। दूसरी ओर उसके अभाव में शिक्षा में मन नहीं लगता। अस्तु, स्वाभाविक है कि विद्यार्थी को असफलता पर असफलता मिलती जाती है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली में, जिसमें कि शिक्षकों और शिक्षार्थियों दोनों में ब्रह्मचर्य का लगभग नितान्त अभाव ही है, यदि विद्यार्थी शिक्षा में ध्यान न लगाते हों और असफलताओं की संख्या बढ़ती जाती हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

5. अनासक्ति– सांख्य आसक्ति को अज्ञान ठहराता है। मन की एकाग्रता के लिये ब्रह्मचर्य के साथ साथ अनासक्ति का अभ्यास भी आवश्यक है। अनासक्ति के बिना एकाग्रता गलत रास्ते पर ले जाती है। अस्तु, एकाग्रता और अनासक्ति दोनों ही संयुक्त आदर्श है। विवेकानन्द ने कहा था, "मैं शिक्षा का मूल, तथ्यों के संग्रह

को नहीं, अपितु एकाग्रता को मानता हूँ। यदि मुझे फिर से शिक्षा प्राप्त करनी होती तो मैं एकाग्रता और अनासक्ति दोनों ही शक्तियों को विकसित करता और तब उस मन रूपी निर्दोष यन्त्र की सहायता से इच्छा मात्र के ही तथ्यों का संग्रह कर लेता।"

6. **वाद–विवाद और चिन्तन–** एकाग्रता के अतिरिक्त सांख्य योग शिक्षा प्रणाली में वाद–विवाद और चिन्तन पर जोर दिया गया है। शिक्षक से मैत्री के वातावरण के तर्क–वितर्क करने से शिक्षार्थी अपने ज्ञान के मार्ग की बाधाओं को दूर कर सकता है। शिक्षक को विद्यार्थियों में जिज्ञासा उत्पन्न करनी चाहिये और उनकी जो शंकाएं हो, उनका हर प्रकार से समाधान करना चाहिये।

7. **श्रद्धा–** सांख्य शिक्षा शास्त्रियों ने शिक्षक के प्रति शिक्षार्थियों में श्रद्धा को आवश्यक माना है। सच तो यह है कि श्रद्धा के बिना जीवन में किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं हो सकती। जो लोग अपने लक्ष्यों में श्रद्धा रखते हैं वे ही उनको प्राप्त करने के लिये मन, वचन, कर्म से प्रयास करते हैं। जीवन में श्रद्धा के अभाव में लोग आत्म–हत्या करते देखे जाते हैं। केवल यही नहीं बल्कि आधुनिक काल में ज्ञान–विज्ञान का समस्त विकास मानव की ज्ञान–विज्ञान में श्रद्धा का ही परिणाम है। गुरू इस श्रद्धा का असली आधार प्रत्येक व्यक्ति में छिपी हुई आत्मा है। जो व्यक्ति इस आधार को जितना ही अधिक प्राप्त कर लेता है, वह प्रगति के मार्ग पर उतनी ही तेजी से आगे बढ़ता है।

शिक्षा की प्रकृति

ज्ञान क्या है, इस विषय में सांख्य शिक्षा दर्शन और आधुनिक पाश्चात्य मत में स्पष्ट अन्तर दिखलाई पड़ता है। अनेक पाश्चात्य शिक्षा शास्त्रियों के अनुसार ज्ञान मानव प्राणी की परिवेश से अन्तः क्रिया में उत्पन्न होता है। सांख्य के अनुसार ज्ञान मनुष्य में उसके अन्दर से उत्पन्न होता है, बाहरी परिवेश के प्रभाव से नहीं। वास्तविक ज्ञान, बाहर से नहीं आता, उसका अन्दर से अनावरण होता है, क्योंकि पुरूष ज्ञान का सनातन स्त्रोत है। स्वामी विवेकानन्द सांख्य परम्परा के अनुयायी थे। उन्होंने कहा था, "विश्व ने कभी भी जो ज्ञान प्राप्त किया है वह सब मानस से आता है, विश्व का असीम पुस्तकालय जो आपके मस्तिष्क में हैं। बाहरी दुनिया केवल एक संकेत, केवल एक अवसर है जो आपको मानस के अध्ययन के लिये

प्रेरित करता है। सेब के गिरने से न्यूटन को संकेत मिला और उसने अपने मस्तिष्क का अध्ययन किया, उसने अपने मस्तिष्क में विचार किया पिछलीसब कड़ियों को व्यवस्थित किया और उनमें एक नयी कड़ी खोजी जिसको हम गुरूत्वाकर्षण का नियम कहते हैं।"[18] हमारा समस्त ज्ञान हमारे मस्तिष्क में गुप्त रूप से उपस्थित होता है। शिक्षा इसी का अनावरण है, उसमें बाहर से कुछ नहीं आता, बल्कि जो हमारे अन्दर है वही अभिव्यक्त होता है। इसलिये किसी मनुष्य की शिक्षा उसके द्वारा पढ़ी गयी पुस्तकों से नहीं जानी जाती, बल्कि अज्ञान के पर्दे की मोटाई से जानी जाती है। जिसकी आंखों के सामने यह पर्दा जितना ही अधिक मोटा होता है, वह उतना ही अधिक अविद्या का शिकार होता है। ज्ञान का प्रकाश बढ़ते जाने के साथ–साथ यह पर्दा भी उठता जाता है।

ज्ञान के अनावरण में अध्यापक का कार्य संकेत देने का है। इस संकेत से बालक में छिपी ज्ञान की शक्ति अभिव्यक्त हो जाती है और वह अपने अन्दर छिपे ज्ञान का अनावरण करता है। विवेकानन्द के शिक्षा सम्बन्धी ये विचार आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा शास्त्रियों द्वारा समर्थित हैं। आजकल शिक्षा की परिभाषा बालक के सर्वांग विकास के रूप में की जाती है। स्वाभाविक है कि वह उसके अन्दर से ही होगा और बाहरी परिवेश केवल उसका अवसर उपस्थित कर सकता है। शिक्षक का कर्तव्य बालक के लिये एक ऐसे परिवेश का निर्माण करना है जिसमें उसके अन्दर के सुप्त ज्ञान को अभिव्यक्त होने का पूर्ण अवसर मिले। आधुनिक मनोवैज्ञानिक यह मानते है कि प्रत्येक व्यक्ति में स्वभाव से ही कुछ विशिष्ट शक्तियाँ सुप्तावस्था में होती हैं। शिक्षा के द्वारा इन शक्तियों का विकास और अभिव्यक्ति होती है।

शिक्षा कोरी जानकारी नहीं है। बालक बालिकाओं के मस्तिष्क में जानकारी को ठूँसने के प्रयास को शिक्षा नहीं कहना चाहिये। तथाकथित शिक्षित व्यक्तियों की भर्त्सना करते हुये विवेकानन्द ने कहा है, "विदेशी भाषा में दूसरों के विचारों को याद कर लेने और अपने मस्तिष्क को उन्हे ठूँस–ठूँस कर भरने तथा किसी विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त कर लेने पर आप अपने को शिक्षित समझने का गर्व कर सकते हैं। क्या यह शिक्षा है?" आपकी शिक्षा का लक्ष्य क्या है? या तो क्लर्की अथवा वकील वकील बनना, अथवा अधिक से अधिक एक डिप्टी मजिस्ट्रेट बनना जो कि एक दूसरे प्रकार की क्लर्की ही है, क्या यही सब कुछ नहीं है? अपनी आँखें खोलो और देखो कि इस भारत देश में, जो कि खाद्य सामग्री के लिये प्रसिद्ध था आज भोजन के लिये कैसी त्राहि–त्राहि मची हुई है। क्या आपकी शिक्षा प्रणाली इस

कमी को पूरा करेगी?"[16] देश में एक ऐसी शिक्षा–प्रणाली का प्रसार होना चाहिये जिससे देशकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो, लोगों में विश्वास और दृढ़ चरित्र निर्माण हो तथा साहस और आगे बढ़ने की इच्छा जाग्रत हो। ऐसी शिक्षा प्रणाली सांख्य योग पर आधारित हो सकती है।

सांख्याधारित आत्मशिक्षा का महत्व

सांख्य के अनुसार शिक्षा आत्म शिक्षा व आत्म साक्षात्कार है। श्री अरविन्द के अनुसार, "बालक की शिक्षा उसकी प्रकृति में जो कुछ सर्वोत्तम, सर्वाधिक शक्तिशाली, सर्वाधिक अन्तरंग और जीवन पूर्ण है, उसकों व्यक्त करना होनी चाहिये, मनुष्य की क्रिया और विकास जिस साँचे में ढलने चाहिये, वह उसके अन्तरंग गुण और शक्ति का साँचा है। उसे नई वस्तुयें अवश्य प्राप्त होनी चाहिये, परन्तु वह उनको सर्वोत्तम रूप से सबसे अधिक प्राणमय रूप में स्वयं अपने विकास, प्रकाश और अन्तरंग शक्ति के आधार पर प्राप्त करेगा।"[20] इस प्रकार सच्ची शिक्षा आत्म–शिक्षा है। वह एक प्रयोजनमय प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अपनी अन्तरंग प्रकृति और उसकी प्रेरणाओं के लक्ष्यों को प्राप्त करता है। बालक की सच्ची शिक्षा वही है जो कि उसके सम्पूर्ण पहलुओं का विकास करें, जो कि उसके जीवन, मस्तिष्क और आत्मा, व्यक्तिगत और सामाजिक स्थिति सभी में उसके सर्वांग विकास में योगदान दे। सांख्य दार्शनिक मनुष्य में मनस को नहीं, बल्कि आत्मा को ही सर्वोच्च तत्व मानते रहे हैं, इस दृष्टि से सांख्य दृष्टिकोण पाश्चात्य दृष्टिकोण से भिन्न है। प्रत्येक व्यक्ति का ही नहीं बल्कि प्रत्येक देश का भी अपना स्वधर्म होता है और उसी के अनुसार उसका विकास किया जाना चाहिये। अस्तु, भारत में शिक्षा व्यवस्था राष्ट्रीय सिद्धान्तों पर आध ारित होनी चाहिये। श्री अरविन्द के शब्दों में, "हम जिस शिक्षा की खोज में है वह एक भारतीय आत्मा और आवश्यकता तथा स्वभाव और संस्कृति के उपयुक्त शिक्षा है, केवल ऐसी शिक्षा नहीं है जो भूतकाल के प्रति ही आस्था रखती हो, बल्कि भारत की विकासमान आत्मा के प्रति, उसकी भावी आवश्यकताओं के प्रति, उसकी आत्मोत्पत्ति की महानता के प्रति और उसकी शाश्वत आत्मा के प्रति आस्था रखती है।" सांख्य दार्शनिक सब कहीं एकता में विविधता के सिद्धांन्त को मानते हैं। प्रकृति में सब कहीं विविधता है और इस विविधता से ही समृद्धि है। अस्तु, राष्ट्रीयता की भावना को बनाये रखते हुये भी इस विविधता को मिटाया नहीं जा सकता। राष्ट्रीय शिक्षा का अर्थ यह नहीं है कि हम आधुनिक ज्ञान और सत्य की अवहेलना करें,

बल्कि उसका अर्थ केवल यह है कि हम जो कुछ भी ज्ञान और सत्य एकत्रित करें, राष्ट्रीय जामा पहना दें, ताकि वह हमारे अस्तित्व का जीवित अंग बन जाये।

मानव का विकास सब कहीं स्वाभाविक रूप से किया जाना चाहिये। शिक्षा के क्षेत्र में यह बात ध्यान में रखना और भी अधिक आवश्यक है। शिक्षा का अर्थ बालक के मन में विभिन्न प्रकार की जानकारी भरना मात्र नहीं है, बल्कि उसे ज्ञान, चरित्र और संस्कृति का प्रयोग करने को प्रेरित करना है, उसके मस्तिष्क और आत्मा का विकास करना है, एक सतत प्रगतिशील आत्मा के रूप में उसका सहायता देना है। सांख्य शिक्षा का लक्ष्य बालक को उसकी प्राकृतिक योग्यता के अनुसार उसके सर्वांग विकास के साधन जुटाना है। जैसा कि श्री अरविन्द ने लिखा है, "शिक्षा का सच्चा आधार मानव मस्तिष्क, शिशु, किशोर और वयस्क का अध्ययन है।"[21]

सांख्य आत्म–शिक्षा के सिद्धान्त

सांख्य आत्म–शिक्षा आत्म–साक्षात्कार पर आधारित है। आत्म–साक्षात्कार की प्रक्रिया शिक्षा की प्रक्रिया के समान आजीवन चलती रहती है। इसमें सबसे अधिक आवश्यक यह है कि विद्यार्थी को स्वयं अपने में विश्वास हो और अपनी बाहय आत्मा के मूल में अधिक व्यापक वास्तविक आत्मा के अस्तित्व में विश्वास हो। शिक्षा की प्रक्रिया में वे सब क्रियायें सहायक हो सकती हैं जिनमें आनन्द की स्वाभाविक अनुभूति मिलती है। यह आनन्द आत्मा की प्रतिक्रिया है इसलिये सुख अथवा सन्तोष मात्र से भिन्न है। सांख्य आत्म–शिक्षा में शिक्षार्थी को निम्नलिखित तीन कार्यात्मक सिद्धान्तों को सीखकर उनका प्रयोग करना होता है।

(1) स्वतन्त्रता– सांख्य आत्म –शिक्षा का एक सिद्धान्त स्वतन्त्रता है। इसमें बुद्धि, हृदय और संकल्प अथवा ज्ञान, भक्ति और कर्म की स्वतन्त्रता पर विशेष जोर दिया है। इस स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिये शिक्षार्थी को निष्कामभाव, समानता, समन्वय और सन्तुलन का अभ्यास करना आवश्यक है। इससे वह सत्य और असत्य, स्वाभाविक और कृत्रिम, प्रासंगिक और अप्रासंगिक, स्थायी और अस्थायी, सर्वाभौम और व्यक्तिगत तथा विशाल और संकुचित में अन्तर कर सकता है तथा सत्य और स्वाभाविक, प्रासंगिक, शाश्वत, समन्वित और विश्वगत तत्वों को ग्रहण कर सकता है। एक बार यह सामर्थ्य उत्पन्न होने पर शिक्षार्थी स्वयं अपना निर्देशन करता है। वह स्वयं यह जानता है कि कौन–कौन से अनुभव और क्रियाएं उसके मार्ग में बाधक

हैं और कौन से साधक है। रवीन्द्र नाथ के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ स्वाभाविकता है दूसरे शब्दों में जब बुद्धि भावना संकल्प स्वाभाविक रूप से विस्तृत हों तो उसे स्वतंत्रता की स्थिति कहा जा सकता है। इस प्रकार स्वतंत्रता अनियन्त्रण से भिन्न है। वह आत्म–नियन्त्रण है। वह 'स्व' के अनुसार आचरण करना है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता एक बार प्राप्त हो जाने पर फिर मार्ग–भ्रष्ट होने का खतरा नहीं रहता, क्योंकि उसकी इन्द्रियां, बुद्धि, संवेग, अनुभूतियां और सभी शक्तियां उसके अपने 'स्व' के आदेश पर चलती है।

(2) पूर्णता– सांख्य आत्म–शिक्षा का दूसरा कार्यात्मक सिद्धान्त पूर्णता है। इसके अनुसार प्रत्येक शिक्षार्थी को अपने व्यक्तित्व के सभी पहलुओं और अपनी सभी शक्तियों का पूर्ण विकास करना चाहिये। इस दृष्टि से शिक्षा का लक्ष्य व्यावसायिक निपुणता प्राप्त करना, परीक्षा में सफल होना अथवा डिग्रियां लेकर सामाजिक सम्मान प्राप्त करना नहीं है। शिक्षा का एक मात्र लक्ष्य बालक के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है। यह पूर्ण विकास तभी सम्भव हो सकता है, जबकि व्यक्तित्व के सभी पहलुओं पर समुचित जोर दिया जाये, किसी पर आवश्यकता से अधिक बल न दिया जाये।

(3) सार्वभौमिकता– सांख्य शिक्षा से सार्वभौमिकता प्राप्त होती है। व्यक्ति का विकास तब तक पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक कि वह अपने अन्दर उपस्थित विश्वात्मा को प्राप्त न कर ले। इस विश्वात्मा के अस्तित्व में आस्था शिक्षा की पहली शर्त है। शिक्षा का उददेश्य कोरा विकास मात्र न होकर एक नया जन्म है, जिससे व्यक्ति अपने सीमित व्यक्तित्व से ऊपर उठकर विश्वात्मा से एक हो जाता है। इस विश्वात्मा को न केवल व्यक्तिगत जीवन में, बल्कि अपने चारों ओर के प्राकृतिक जीवन में भी खोजा जाता है। यह खोज ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों के ही माध्यम से होती है। एक बार इस विश्वात्मा का साक्षात्कार हो जाने पर फिर इसके निर्देशन में आगे बढ़ना सरल हो जाता है।

सांख्य आधारित पाठ्यक्रम

सबसे पहले विभिन्न ग्रन्थों की शास्त्रों के प्रमाणों से परीक्षा की जानी चाहिये और जो ग्रन्थ परीक्षा के विरूद्ध ठहरें उनको नहीं पढ़ाया जाना चाहिये। वे ही ग्रन्थ पढ़ाए जाने चाहिये जो परीक्षा में सही उतरें। सबसे पहले पाणिनी के व्याकरण की शिक्षा दी जानी चाहिये और बालकों को यथायोग्य उच्चारण सिखाया जाना चाहिये।

इसके बाद अष्टाध्यायी सूत्रों का पाठ किया जाना चाहिये। पढ़ने के साथ–साथ लिखने का भी काम करना चाहिये। जिस–जिस सूत्र से जो जो कार्य होता है, वह उसको पढ़ पढ़ा कर और स्लेट या लकड़ी के पट्टे पर लिखवाकर दृढ़ बोध कराया जाना चाहिये। सही ग्रंथ को पढ़ने से जितना तीन वर्षों में लाभ होता है, उतना बोध गलत ग्रंथों को पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता।

व्याकरण पढ़कर फिर यास्क मुनि द्वारा लिखे गये निघण्टु और निरूक्त छः अथवा आठ महीने में पढाऐ जाने चाहिये। पिंगलाचार्य द्वारा लिखे छन्द ग्रन्थ पढ़ाकर छन्दों का ज्ञान, नवीन रचना और श्लोक बनाने की विधि सिखाई जाये। इसके बाद मनुस्मृति, बाल्मीकीय रामायण और महाभारत के उद्योग पर्व में विदुर नीति के प्रकरण पढ़ाये जायें। इसके पश्चात् पूर्व मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग सांख्य और वेदान्त, व्याख्या सहित ये छः शास्त्र पढ़ाए जाने चाहिये। वेदान्त सूत्र पढ़ाने से पहले ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तीय, छान्दोग्ञ और बृहदारण्यक इन दस उपनिषदों को पढ़ाया जाय और छः शास्त्रों के भाष्य वृत्ति सहित सूत्रों को दो वर्ष के भीतर पढ़ाया जाय। इसके बाद छः वर्षों में चारों ब्राहण सहित चारों वेद पढ़ाए जायें। वेदों का स्वर, अर्थ, सम्बन्ध और क्रिया सहित पढाया जाना चाहिये।

सब वेदों को पढ़ने के बाद आयुर्वेद को–अर्थ, क्रिया, शस्त्र, छेदन, भेदन, लेख, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शरीर, देश, काल और वस्तु के गुण ज्ञान पूर्वक चार साल में पढ़ाया जाय। इसके बाद धनुर्वेद पढ़ाने को दो वर्ष दिये जाने चाहिये। इसमें राजा और प्रजा दोनों के कार्यों का उल्लेख है। राजा का काम में सभा, सेना के अध्यक्ष, शस्त्रास्त्र विद्या, सब प्रकार के व्यूहों का अभ्यास और प्रजा के पालन और वृद्धि तथा न्यायपूर्वक सबको प्रसन्न रखना और दुष्टों को दण्ड देना आदि सीखना चाहिये।

उपरोक्त सिखाने के बाद गान्धर्व वेद, अर्थात् गान विद्या सिखाई जानी चाहिये जिसमें स्वर, राग–रागिनी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादन, नृत्य, गीत आदि यथावत् सिखाए जाने चाहिये। इसके बाद अथर्ववेद जिसको शिल्प विद्या कहते हैं, उसकी शिक्षा दी जाये। इसके बाद दो वर्ष में ज्योतिष–शास्त्र, सूर्य सिद्धान्त आदि जिसमें बीजगणित, अंकगणित, भूगोल, खगोल और भूगर्भ विद्या है, सिखाये जायें। इसके बाद सब प्रकार की हस्त–कलायें और यन्त्र कलायें सिखाई जायें।

स्त्रियों की शिक्षा

सांख्य शिक्षा दर्शन में सबके लिये सामान्य पाठ्यक्रम के साथ–साथ भिन्न–भिन्न वर्णों के स्त्री–पुरूषों के लिये उनके वर्ण के अनुरूप विशेष शिक्षा का भी आयोजन किया गया है। केवल पुरूषों में ही नहीं बल्कि भिन्न–भिन्न वर्ण की स्त्रियों को भी उनके वर्ण के अनुरूप शिक्षा दी जानी चाहिये। स्त्रियों को भी उन्ही सब नियमों का पालन करना चाहिये। ब्राहम्णों और क्षत्रियों को सब विद्यायें वैश्यों कोव्यवहार विद्या और शूद्रों को पाक आदि सेवा की विद्या अवश्य जाननी चाहिये। पुरूषों के समान स्त्रियों को भी धनुर्वेद, व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्प विद्या आदि सीखनी चाहिये, क्योंकि इनके बिना सन्तानोत्पत्ति और उसका पालन–पोषण तथा शिक्षा आदि काम जैसे होने चाहिये, वैसे नहीं होंगे। वैद्यक पढ़ने से घर में कभी रोग नहीं आयेगा। शिल्प विद्या जाने बिना घर का बनाना, वस्त्र आभूषण आदि बनवाना सम्भव नहीं होता। गणित विद्या के ज्ञान के बिना सबका हिसाब समझना कठिन है। वेद आदि शास्त्रों के बिना ईश्वर और धर्म को नहीं जाना जा सकता। चूंकि बालक–बालिकाओं की पहली शिक्षा माता के ही द्वारा दी जायेगी, इसलिये माताओं को सब प्रकार से शिक्षित और योग्य होना चाहिये। आजकल जबकि शिक्षा के पाठयक्रम का वास्तविक जीवन से कोई विशेष सम्बन्ध दिखलाई नहीं पड़ता, उस समय सांख्य का यह सुझाव महत्वपूर्ण है कि बालक को उन सभी कामों की शिक्षा दी जानी चाहिये जिनकी उन्हे आगे चलकर जीवन में आवश्यकता पड़ सकती है। ऐसे किसी भी विषय को छोड़ देने से शिक्षा अधूरी ही मानी जायेगी।

देश के दीन–हीन, दरिद्र और पिछड़े वर्गों की ओर ध्यान देते हुये समकालीन भारतीय शिक्षा शास्त्रियों ने भारतीय नारियों की ओर भी ध्यान दिया है क्योंकि उनकी दशा पुरूषों से बहुत पिछड़ गयी थी। प्राचीन भारतीय परम्परा में स्त्री पुरूष में कोई ऊंच नीच नहीं माना गया है। वे दोनो परस्पर पूरक माने गये है। उपनिषदों के काल में स्त्रियों में शिक्षा का व्यापक प्रचार था। अनेक स्त्रियों ने दर्शन और गणित जैसे विषयों में भी ख्याति प्राप्त की थी। विवेकानन्द ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के इस ऊंचे आदर्श के होते हुये भी आज हम स्त्री–पुरूष में भेदभाव कर रहे हैं। उन्होंने स्त्रियों की हीन दशा की ओर ध्यान आकर्षित किया और स्त्रियों को फिर से आगे बढ़ाने की आवश्यकता पर जोर दिया। वे नारी को शक्ति का अवतार मानते थे, जिसका सब प्रकार से सम्मान किया जाना चाहिये। वे इस सिद्धान्त को मानते थे, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र

देवता।' भारतीय दर्शन में नर–नारी ब्रह्म के दो रूप माने गये है। विवेकानन्द ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि जो देश अपनी स्त्रियों का सम्मान नहीं कर सकता, वह कभी आगे नहीं बढ़ सका। इस सम्बन्ध में उन्होंने अमरीका का उदाहरण दिया और यह कहा कि वहां पर स्त्रियों के इतने अधिक सम्मान के कारण ही वह देश आज इतना आगे बढ़ सका है।

स्त्रियों की स्थिति में सुधार के लिये एक मात्र उपाय शिक्षा है। सांख्य शिक्षा से ही उनमें आत्म–विश्वास उत्पन्न होगा और वे स्वयं अपनी सहायता कर सकेंगी। स्त्रियों की शिक्षा में धार्मिक शिक्षा आवश्यक है, क्योंकि वे भारतीय नारी को सीता और गार्गी के आदर्श के अनुरूप बनाना चाहते हैं, पाश्चात्य नारी की प्रतिलिपि बनाना नहीं चाहते। उन्होने स्त्रियों में चरित्र और शुद्धता पर विशेष जोर दिया। इसी से उनमें साहस जाग्रत होगा। उन्होंने स्त्रियों के सामने सीता का आदर्श उपस्थित किया। उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया कि आधुनिक शिक्षा–प्रणाली से हमारे युवक–युवतियां पाश्चात्य आदर्शों का अनुकरण कर रहे है। इससे युवकों से भी अधिक युवतियों की हानि हुई। इससे सब ओर नैतिक पतन बढ़ा है। उन्होंने स्त्रियों में त्याग और सेवा का आदर्श उत्पन्न करने की सलाह दी। पुरूषों के समान स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य के आदर्श का पालन करना चाहिये। स्त्रियों को शिक्षा देने के लिये स्त्री शिक्षकों में उच्च्य चरित्र की आवश्यकता है। स्त्री शिक्षा स्त्रियों के द्वारा ही दी जानी चाहिये। ये अविवाहित अथवा विवाहित अथवा विधवा कोई भी हो सकती है, किन्तु सब कहीं उच्च्य चरित्र अत्यन्त आवश्यक है। इसके अभाव में किसी भी स्त्री को शिक्षक होने का अधिकार नहीं है। केवल धनोपार्जन के लिये शिक्षण कार्य ग्रहण करना उपयुक्त नहीं है।

सांख्य आधारित नैतिक शिक्षा

1. घर में शिक्षा– बालक की सबसे पहली नैतिक शिक्ष घर में होनी चाहिये। घर में ही उसके चरित्र की नींव पड़ती है, वह अच्छी आदतें सीखता है और बुरी आदतों से बचता है। इस मनोवैज्ञानिक नियम के अनुसार माता–पिता बालकों को यथासम्भव जितेन्द्रिय, विद्या प्रिय और सत्संग में रूचि रखने वाला बनायें। वे उन्हें व्यर्थ क्रीड़ा, रोदन, हास्य, लड़ाई, हर्ष, शोक, किसी पदार्थ में लोलुपता, ईर्ष्या और द्वेष आदि से रोकें। बालकों को बतलाया जाये कि उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श और मर्दन से वीर्य की क्षीणता और नपुसंकता होती है और हाथ में भी

दुर्गन्ध आती है, इसलिये ऐसा न किया जाये। बिना ब्रह्मचार्य शिक्षा को ठोस आधार पर आधारित नहीं किया जा सकता। आधुनिक काल में जबकि यौन–शिक्षा के विषय में इतना सब कहा सुना जाता है, तब यह बात भुला दी जाती है कि बचपन में ही बालकों को उपस्थेन्द्रियों के विषय में स्पष्ट रूप से सही दृष्टिकोण रखना बतलाया जाना चाहिये। बालकों को सत्य भाषण, शौर्य, धैर्य, प्रसन्न वदन रहना आदि गुण सिखाये जाने चाहिये।

जब लड़का–लड़की पांच–पांच वर्ष के हो जायें, तब उन्हें देवनागरी अक्षरों का अभ्यास कराया जाना चाहिये। इसके साथ–साथ अन्य देशों की भाषाओं के अक्षर भी सिखाये जा सकते हैं। इसके बाद ऐसे छन्द, श्लोक, सूत्र, गद्य अर्थ सहित कंठस्थ कराये जायें जिनसे अच्छी शिक्षा और विद्या मिले तथा जिनसे माता–पिता, आचार्य, विद्वान, अतिथि, राजा–प्रजा, कुटुम्ब, बन्धु, भगिनी तथा भृत्य आदि से व्यवहार की शिक्षा मिले। बालकों को ऐसे उपदेश दिये जायें जिनसे उनका भूत–प्रेत आदि मिथ्य बातों पर विश्वास न हो, वे किसी धूर्त के बहकाने में न आवें। उन पर ऐसे संस्कार डाले जाने चाहिये जिनसे उनमें आरोग्य, बुद्धि, बल और पराक्रम बढ़े। विद्यार्थियों को विषयों की कथा, विषयी लोगों का संग, विषयों का ध्यान, स्त्री का दर्शन, एकान्त सेवन, सम्भाषण और स्पर्श आदि से दूर रहना चाहिये।

2. **माता द्वारा शिक्षा–** बालक–बालिकाओं को बचपन से ही ब्रह्मचर्य का उपदेश देना चाहिये, क्योंकि ब्रह्मचर्य के अभाव में मनुष्य दुर्बल, निस्तेज, निबुद्धि, उत्साहहीन हो जाता है और उसमें साहस, धैर्य, बल, पराक्रम आदि नहीं रहते। बालकां को बतलाया जाना चाहिये कि यदि वे इस आयु में सुशिक्षा और विद्या ग्रहण नहीं करते और वीर्य की रक्षा नहीं करते तो उनको फिर से यह अवसर प्राप्त नहीं होगा। इस आयु में उन पर परिवार का उत्तरदायित्व नहीं होता और दूसरे लोग ही उनका पालन–पोषण करते हैं। इस अवसर पर लाभ उठाकर परिवार के अन्य सदस्यों के जीवित रहते हुये उन्हें विद्या ग्रहण और शरीर का बल बढ़ाने का पूरा प्रयत्न कर लेना चाहिये।

3. **पिता द्वारा शिक्षा–** जन्म से पांचवे वर्ष तक बालकों की शिक्षा माता के द्वारा दी जानी चाहिये। छठे वर्ष से आठवें वर्ष तक पिता को बालकों को शिक्षा देनी चाहिये। आधुनिक शिक्षा–मनोवैज्ञानिक एक मत से यह मानते हैं कि बालक की प्रारम्भिक शिक्षा में माता–पिता का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जहां तक सम्भव

हो, माता–पिता को स्वयं इस ओर ध्यान देना चाहिये क्योंकि कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो विशेषज्ञों द्वारा नहीं कराये जा सकते। प्रारम्भिक शिक्षा भी इसी प्रकार का काम हैं। इसके जैसे ही अतिरिक्त बालक–बालिकाओं को साकारात्मक सन्तोष प्राप्त होता है। आधुनिक काल में जबकि कुछ लोग नर्सरी कक्षा से ही बालक की सारी शिक्षा स्कूलों को सौंप देते हैं, उस समय यह बात अत्यधिक महत्वपूर्ण है। नवें वर्ष के प्रारम्भ में उपनयन संस्कार के बाद लड़के – लड़कियों को आचार्य कुल में शिक्षा के लिये भेजे जाने का विधान किया गया है। आचार्य कुल में विद्वान शिक्षक और पूर्ण विदुषी स्त्रियां अध्यापक होनी चाहिये, शूद्र आदि वर्ण बिना उपनयन के ही गुरूकुल में भेजे जा सकते हैं।

4. **पुरस्कार और दण्ड–** बालकों की शिक्षा में पुरस्कार और दण्ड के सिद्धान्त पर विशेष महत्व हैं। कभी–कभी दण्ड को आवश्यक माना गया है, यद्यपि यह दण्ड जहां तक हो सके मौखिक ताड़ना के रूप में ही होना चाहिये। जो माता–पिता पढ़ाने में सन्तानों को लाड़ नहीं करते, किन्तु ताड़ना ही करते रहते हैं उन्ही की सन्तान विद्वान, सभ्य और सुशिक्षित होती है। महाभारत में कहा गया है कि जो माता–पिता और आचार्य सन्तान और शिष्यों का ताड़ना करते हैं, वे मानों अपने सन्तान और शिष्यों को अपने हाथ से अमृत पिलाते हैं। दूसरी ओर जो सन्तानों और शिष्यों को लाड़ करते हैं वे उन्हें विष पिलाकर नष्ट–नष्ट कर देते हैं, क्योंकि अत्यधिक लाड़ से वे दोषयुक्त हो जाते हैं, जबकि ताड़ना से गुण बढ़ते हैं। बालकों को यह भली भांति पता चल जाना चाहिये कि उनके माता–पिता और शिक्षक किन बातों के विरूद्ध हैं। उन्हें ताड़न से आसन्न नहीं होना चाहिये और न अत्यधिक लाड़ की इच्छा करनी चाहिये। आज जबकि अनेक स्थानों पर शिक्षा–व्यवस्था में अनुत्तरदायी विद्यार्थियों को सब प्रकार की छूट देकर अत्यधिक लाड़–प्यार से बिगाड़ने के दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं, उस समय सांख्य की दण्ड के विषय में यह धारणा विचारणीय़ है। अमरीका में नई पीढ़ी की हालत देख कर शिक्षा–शास्त्री यह फिर से विचार कर रहें हैं कि शिक्षा–व्यवस्था में दण्ड को पूर्णतया निकाल करके उन्होंने कहां तक उचित कार्य किया है। बालक पुरस्कार और दण्छ की व्यवस्था से सीखता है। जिन कामों से उसे पुरस्कार मिलता है, उन्हें दुहराता है और जिनके दण्ड मिलता हैं उनको फिर से नहीं करता। किन्तु जहां सांख्य ने दण्ड का समर्थन किया है वहां साथ ही यह भी जोर दिया है कि माता–पिता अथवा अध्यापक द्वारा दण्ड ईर्ष्या और द्वेष से नहीं होना चाहिये तथा

बालक–बालिकाओं में ऊपर से दण्ड का भय बनाये रखते हुये भी उनके प्रति सदैव कृपा दृष्टि रखनी चाहिये।

5. **आदर्श द्वारा नैतिक शिक्षा–** बालकों की शिक्षा में सबसे महत्वपूर्ण उपाय माता–पिता और शिक्षा द्वारा सही आदर्श उपस्थित करना है विशेषतया बचपन में आदर्श का बड़ा प्रभाव पड़ता है। जो माता–पिता या शिक्षक अच्छे उदाहरण उपस्थित नहीं कर सकते, उनका अच्छा प्रभाव नहीं पड़ सकता। माता–पिता को अच्छे उदाहरण उपस्थित करते हुये बालक–बालिकाओं को चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य, मिथ्या भाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष, मोह आदि दोषों को छोड़ने और सत्याचार को ग्रहण करने की शिक्षा दी जानी चाहिये। नैतिक शिक्षा देने में बालकों को तरह–तरह के उदाहरण से सद्गुणों का महत्व समझाना चाहिये। उन्हें बतलाया जाना चाहिये कि जो व्यक्ति चोरी, जारी, मिथ्या भाषण, आदि में पकड़ा जाता हैं, उसकी कभी भी प्रतिष्ठा नहीं होती। मिथ्या प्रतिज्ञा करने वाले को कभी सम्मान नहीं मिलता। अस्तु, प्रत्येक को अपने दिये हुये वचन का पालन करना चाहिये। सदैव सत्य–भाषण और सत्य–प्रतिज्ञा युक्त होना चाहिये। किसी को अभिमान न करना चाहिये। छल–कपट व कृतघ्नता से केवल दूसरे को ही हानि नहीं होती, किन्तु अपना भी मन मैला होता है। जितना बोलना चाहिये उससे कम या अधिक बोलना अनुचित है। क्रोध आदि दोष और कटु वचन को छोड़कर शान्त और मधुर वचन बोलना चाहिये। अत्यधिक बकवाद अच्छी नहीं है।

6. **शिष्टाचार की शिक्षा–** बचपन में शिष्टाचार की शिक्षा भी अत्यन्त आवश्यक है। बालकों को चाहिये कि वे बड़ों का सम्मान करें और उनके सामने उठकर उन्हें उच्च आसन पर बैठायें और मिलते ही नमस्ते करें तथा उनके सामने उच्च आसन पर न बैठें। सभा में प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे स्थान पर बैठना चाहिये, जिसकी उसमें योग्यता हो और जहां से किसी को उसे उठाने की आवश्यकता न पड़े। किसी से बैर नहीं करना चाहिये। गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करना चाहिये। सज्जनों का संग और दुष्टों का त्याग उचित है। सबको अपने माता–पिता और आचार्य की तन, मन, धन से सेवा करनी चाहिये। इसी प्रकार माता–पिता और आचार्य को बालकों को उचित और अनुचित से परिचित कराना चाहिये। उन्हें चाहिये कि वे सन्तान और शिष्यों को सत्य का उपदेश करे और बुरे कामों से दूर रखें। बालकों को पाखण्डी और दुष्टाचारी मनुष्य पर विश्वास नहीं करना चाहिये और माता–पिता तथा आचार्य की आज्ञा का पालन करना चाहिये। माता–पिता और आचार्य

की शिक्षा के अतिरिक्त नैतिक शिक्षा का एक उपाय उत्तमोत्तम ग्रन्थों का स्वाध्याय है। निघंटु, निरूक्त तथा अष्टाध्यायी आदि अनेक ग्रन्थों में अच्छे आचरण के सम्बन्ध में श्लोक मिलते हैं। इन ग्रन्थों को पढ़कर विद्यार्थियों को आरोग्य, विद्या और बल प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। विद्यार्थी जीवन में खान–पान का संयम भारतवर्ष में सदा से आवश्यक माना गया है, क्योंकि इनसे स्वभाव और बुद्धि का प्रभाव पड़ता है। जितनी भूख हो उससे कुछ कम ही भोजन करना चाहिये। मद्य, मांस आदि का सेवन अनुचित है। यथासम्भव पानी को वस्त्र को छानकर पीना चाहिये। नीचे–ऊंचे स्थान को देखकर चलना चाहिये। अज्ञात गम्भीर जल में प्रवेश न करें और न ऐसी जगह स्नान ही करें। सत्य से पवित्र करके वचन बोले और मन से विचार के आचरण करें।[22]

उपर्युक्त प्रकार की बाल–शिक्षा का प्रबन्ध सभी माता–पिता का परम कर्तव्य है। चाणक्य–नीति में स्पष्ट लिखा गया है कि जो माता–पिता अपनी सन्तान को विद्या प्राप्त नहीं कराते वे उनके बैरी के समान है, क्योंकि इससे वे विद्वानों की सभा में वैसे ही तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं जैसे हंसों के बीच बगुला। माता–पिता का परम कर्तव्य और धर्म है कि अपनी सन्तान को तन–मन–धन से विद्या, धर्म और सभ्यता की उत्तम शिक्षा दिलायें। उत्तम विद्या, शिक्षा और गुण ही बालक–बालिकाओं के सच्चे आभूषण है जिनको कोई छीन नहीं सकता।

आदर्श शिक्षक

कोई शिक्षा व्यवस्था चाहे कितनी भी अच्छी क्यों न हो, उससे लाभ तभी हो सकता है, जबकि वह आदर्श शिक्षकों के हाथ में हो। इसके बिना अच्छी से अच्छी व्यवस्था से कोई लाभ नहीं हो सकता। अस्तु, सांख्य ने आचार्य अथवा शिक्षक के चरित्र पर विशेष जोर दिया है। जो अध्यापक पुरूष या स्त्री दुराचारी हो, उन्हें शिक्षक का पद कभी भी नहीं दिया जाना चाहिये। शिक्षकों को स्वयं विद्वान होना चाहिये और सत्यचार से सत्य–विद्याओं को पढ़ना–पढ़ाना चाहिये। उन्हें तपस्वी होना चाहिये और धर्मानुष्ठान करते हुये वेद आदि शास्त्रों को पढ़ना–पढ़ाना चाहिये। उन्हें बाहय इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोकना चाहिये और मन को सब प्रकार की कुप्रवृत्तियों से हटाना चाहिये। संसार में जितने भी दान हैं, अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, तिल, स्वर्ण और धृत आदि इन सब दानों में विद्यादान अति श्रेष्ठ है, इसलिये

विद्या दान करने वाला आचार्य अत्यन्त उच्च कार्य करता है। उसे तन, मन, धन से विद्या की वृद्धि करनी चाहिये। जिस देश में ऐसे आचार्य हों वहीं उन्नति हो सकती है। इस प्रकार जो आदर्श विद्यार्थियों के जीवन में साकार किये जाने हैं, उन्हे पहले शिक्षकों को अपने जीवन में उतार कर दिखाना चाहिये, क्योंकि सबसे बड़ा उदाहरण माता–पिता और आचार्य का ही उदाहरण होता है। शिक्षा का सबसे उत्तम मार्ग स्वयं शिक्षक का आदर्शों की साकार मूर्ति बनना है। समाज–निर्माता शिक्षक वर्ग विशेष गुण युक्त होना चाहिये। दयानन्द के अनुसार शिक्षक वही हो सकता है जिसको आत्म–ज्ञान हो, जो निकम्मा आलसी कभी न रहे, जो सुख–दुख, हानि–लाभ, मानापमान, निंदा–स्तुति में हर्ष–शोंक न करे, जो धर्म में नित्य निश्चित रहे, जिसके मन को उत्तम–उत्तम पदार्थ और विषय–सम्बन्धी वस्तुयें आकर्षित न करें, शिक्षक पण्डित होता है और पण्डित का धर्म सदैव धर्मयुक्त कर्मों का सेवन, अधर्मयुक्त कामों का त्याग, ईश्वर, वेद और सत्याचार में श्रद्धा रखना आदि है। वह कठिन विषय को शीघ्र जान लेता है, बहुत काल पर्यन्त शास्त्री को पढ़ता और सुनता है और उन पर विचार करके कार्य रूप में परिणित करता है। वह अपने स्वार्थ के लिये कोई काम नहीं करता और बिना पूछे और बिना योग्य समय के दूसरे को कोई सम्मति नहीं देता। जो प्राप्ति के अयोग्य की इच्छा न करे, नष्ट हुये पदार्थ पर शोक न करें, आपातकाल में मोह को न प्राप्त हो वही बुद्धिमान पण्डित है। जिसकी वाणी सब विद्याओं और प्रश्नोत्तरों में अति निपुण हो, जो विभिन्न शास्त्रों के प्रकरणों का वक्ता हो और जो यथायोग्य तर्क और स्मृति मान ग्रन्थों के यथार्थ का शीघ्र वक्ता हो, वही पण्डित कहलाता है। जो कभी श्रेष्ठ धार्मिक पुरूषों की मर्यादा की भंग न करे, जिसका श्रवण बुद्धि के अनुसार हो, वही पण्डित है। ऐसा शिक्षक शिक्षार्थी को अपने पुत्र के समान समझता है और उससे कभी बैर नहीं करता, बल्कि सदैव उसकी कुप्रवृत्तियों को छुड़ाने में लगा रहता है। शिक्षा समाप्त करके जब विद्यार्थी आचार्य कुल छोड़ता है, तो विद्वान शिक्षक उसे धर्माचरण का पालन करने और पापाचरण से दूर रहने का उपदेश देता है।

विद्यार्थी की योग्यता और गुण

समकालीन भारतीय शिक्षा–दार्शनिक एक स्वर से यह मानते हैं कि आधुनिक शिक्षा–प्रणाली का सबसे बड़ा दोष किराये की शिक्षा होना है। कोई भी व्यक्ति फीस देकर विद्यालय में प्रवेश पा सकता है, भले ही उसमें विद्यार्थी के गुण हों या न

हों। सांख्य शिक्षा–शास्त्रियों ने सभी व्यक्तियों को विद्या ग्रहण के उपयुक्त नहीं माना और विद्यार्थी के कुछ अनिवार्य लक्षण माने हैं जिनके न होने पर उसको शिक्षा नहीं दी जानी चाहिये। महाभारत के उद्योग पर्व में पढ़ने में अयोग्य और मूर्ख का लक्षण बतलाते हुये कहा गया है, जिसने कोई शास्त्र न पढ़ा हो, न सुना और जो अति घमण्डी तथा दरिद्र होकर भी बड़े–बड़े मनोरथ करने वाला हो, जो बिना कर्म के पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा करता हो, वह मूढ़ है। जो बिना पूछे सभा में व्यर्थ बकवाद करे, जो विश्वास के अयोग्य वस्तु या मनुष्य में विश्वास करे, वह मूढ़ और नीच मनुष्य है। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुये स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि जिन पुरूषों में ऐसे अवगुण हों, उन्हें अध्यापक का पद नहीं दिया जाना चाहिये क्योंकि इससे अविद्या, अधर्म, असभ्यता, कलह और विरोध बढ़ेंगे। साथ ही साथ ये अवगुण विद्यार्थियों में भी नहीं होने चाहिये। महाभारत में उद्योग पर्व में विद्यार्थियों के बुरे लक्षण बतलाये गये हैं जिनके रहते विद्या कभी नहीं आती। ये दोष हैं– शरीर और बुद्धि में जड़ता, नशा–सेवन, मोह, चपलता और इधर–उधर की व्यर्थ कथा कहना और सुनना, पढ़ते–पढ़ते रूक जाना, अभिमानी, होना। विद्यार्थी को भोगों से दूर रहना चाहिये, क्योंकि विषय सुख की इच्छा वाले को विद्या नहीं मिल सकती। विद्यार्थी को सदैव सदाचार में प्रवृत्त, जितेन्द्रिय, और ब्रह्मचारी होना चाहिये। उसे सत्यवादी, सत्यमानी, सत्यकारी, सभ्य, जितेन्द्रिय, सुशील तथा शरीर और आत्मा में बलिष्ठ और विद्वान होना चाहिये। उसे विद्या पढ़ने में सब प्रकार से चेष्टा करनी चाहिये। उसे विचारशील, परिश्रमी, पुरूषार्थी होना चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ण के विद्यार्थी में अपने वर्ण–सुलभ गुण होना आवश्यक है, जैसे–ब्रह्मण धर्म, क्षत्रियों में राजधर्म, वैश्यों में व्यापार और पशु–पालन तथा खेती आदि तथा शूद्रों में सेवा करने की योग्यता होनी चाहिये।[23]

सांख्य आधारित स्वदेशी शिक्षा

सबसे पहले बालक को स्वयं जानना और विकसित होना है, शिक्षक केवल उसका निर्देशन और सहायता कर सकता है। दूसरे शिक्षा शिक्षार्थी के विशिष्ट गुणों, सामर्थ्यों, विचारों और सद्‌गुणों के अनुरूप होनी चाहिये। व्यक्ति हो अथवा समूह, स्वध र्म सब कहीं विकास और वृद्धि का मूल मन्त्र है, दूसरों का अन्धानुकरण सदैव हानिकारक है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य विकासवान आत्मा को अपने में से सर्वोत्तम को बाहर निकालने में औश्र शुभ कार्यों में प्रयोग के लिये

उसे पूर्ण बनाने में सहायता देना होना चाहिये।"[24] अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय को अपनी प्रकृति के अनुसार शिक्षा–व्यवस्था का निर्माण करना चाहिये। यह व्यक्ति और समुदाय को अपनी प्रकृति के अनुसार शिक्षा–व्यवस्था का निर्माण करना चाहिये। यह व्यक्ति और समाज दोनों की पूर्णता के लिये आवश्यक है। प्राचीन यूनानी और भारतीय शिक्षा–दार्शनिकों ने इसी प्रकार का मत उपस्थित किया था। आत्म–साक्षात्कार को अनेक दार्शनिकों ने शिक्षा का लक्ष्य माना है, यद्यपि मानव आत्मा की सही प्रकृति को बहुत कम विचारक समझ सके हैं। मानव आत्मा मनुष्य के भौतिक, प्राणात्मक और मानसिक ढाँचे के पीछे सदैव उपस्थित यथार्थ आत्मा पुरूष है। शिक्षा का लक्ष्य इसी को अभिव्यक्त करना होना चाहिये, जिससे कि मनुष्य में जो कुछ सर्वोत्तम है उसका विकास हो सके।

विद्यालय में पाठ्यक्रम, शिक्षा का माध्यम, सामान्य वातावरण, सभी कुछ शिक्षार्थी के लिये स्वाभाविक होना चाहिये। केवल शिक्षा का आदर्श ही नहीं, बल्कि उसका स्वरूप भी स्वदेशी होना चाहिये। राष्ट्रीय शिक्षा–प्रणाली विशिष्ट राष्ट्रके भूत पर आधारित होनी चाहिये और राष्ट्रभाषा के माध्यम से ही चलायी जानी चाहिये। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि हम दूसरों से कुछ भी ग्रहण न करें। वास्तव में दूसरों से ग्रहण करना स्वदेशी को छोड़ना नहीं है क्योंकि मानव मात्र में सब कहीं गुणों, शक्तियों और सामर्थ्यों, इच्छाओं और आकांक्षाओं और शारीरिक तथा मानसिक रचना में मौलिक समानतायें हैं। श्री अरविन्द के शब्दों में, "सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा का लक्ष्य औश्र सिद्धान्त निश्चय ही आधुनिक सत्य और ज्ञान की अवहेलना करना नहीं, बल्कि हमारी नीव को हमारे अपने विश्वास, हमारे अपने मस्तिष्क, हमारी अपनी आत्मा पर आधारित करना है।"[25] अन्य समकालीन भारतीय दार्शनिकों–गांधी, टैगोर, विवेकानन्द और राधाकृष्णन् ने भी शिक्षा में इस सिद्धांत का समर्थन किया है।

सांख्य शिक्षा का मनोवैज्ञानिक आधार

श्री अरविन्द के शब्दों में, "मस्तिष्क को ऐसा कुछ भी नहीं सिखाया जा सकता जो कि जीव की आत्मा के अनावरण से सुप्त ज्ञान के रूप में पहले से ही गुप्त न हो।"[26] शिक्षा का लक्ष्य नये सिरे से कुछ निर्माण करना नहीं है, उसे तो मनुष्य में पहले से ही सुप्त शक्तियों का अनावरण और उनका विकास करना है। वाटसन जैसा कोई भी परिवेशवादी भले ही शिक्षा में परिवेश के महत्व के विषय में कुछ भी कहे, किन्तु परिवेशवाद शिक्षा के लिये कभी भी ठोस आधार भूमिं नहीं हो

सकता। शिक्षा सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित होने चाहिये। परिवेशवादियों की यह भूल है कि वे मानव–प्राणी को मिटटी का माधो मात्र समझते हैं जिसकों कोई भी रूप दिया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययनों से परिवेशवाद के इस दावे को खण्डित किया जा चुका है और यह स्थापित हो चुका है कि परिवेश के प्रभाव से नैसर्गिक मानव–प्रकृति को के वल एक सीमा तक ही परिवर्तित किया जा सकता है। मनुष्य संसार में कुछ विशिष्ट ढांचों, योग्यताओं और सामर्थ्यों को लेकर आता है और यद्यपि उनके विकास की सम्भावनायं अनन्त हैं, किन्तु यथार्थ रूप में कुछ विशिष्ट सीमाओं में ही इनको परिवर्तित किया जा सकता है। अस्तु, मानव की शिक्षा उसकी मनोवैज्ञानिक प्रकृति के अनुरूप होनी चाहिये।

सांख्य शिक्षा मनोविज्ञान

सांख्य दार्शनिक व्यक्तित्व की आध्यात्मिक परिभाषा देते हैं, "व्यक्तित्व अथवा पुरूष को प्रकृति से भिन्न आत्मा में समझा जा सकता है।[27] शरीर, प्राण, मन एवं बुद्धि के माध्यम से साधना करके ही मनुष्य आध्यात्मिक व्यक्तित्व की प्राप्ति करता है। साधना के परिणामस्वरूप मनुष्य दैहिक रूप से तेजोमय हो जाता है। यह तेजोमय पुरूष ही आध्यात्मिक व्यक्तित्व है। ऐसा होने से वह अन्य सामान्य मनुष्यों से भिन्न दिखाई पड़ता है। सांख्यानुसार व्यक्तित्व की परिभाषा करते हुये श्री निवासचारी कहते हैं, "व्यक्तित्व को सांख्य के प्रकाश में पंचतत्वों, पंचप्राण, एकादशा ज्ञानेन्द्रियों, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार और मूल प्रकृति आदि पदार्थों से भिन्न, विशेष रूप से बुद्धि, विज्ञान अथवा पुरुष के रूप में परिभाषित कर सकते हैं।[28]

स्वामी शिवानन्द के अनुसार मनुष्य के व्यक्तित्व का आकलन शारीरिक लक्षणों या विशेषताओं के आधार पर नहीं किया जा सकता। उनके अपने शब्दों में, "व्यक्तितव के अन्तर्गत मनुष्य का चरित्र, बुद्धिमत्ता, सद्गुण, नैतिक आचार, बौद्धिक उपलब्धियों, कतिपय प्रभावी शक्तियों, विशेष गुणों अथवा विशेषताओं, सहिष्णुता, संयम एवं वाणी आदि का समावेश होता है। मनुष्य का इन गुणों से युक्त व्यक्तित्व ही उसे दूसरे मनुष्य से पृथक करता है। विभिन्न गुणों का सम्पूर्ण योग ही व्यक्ति या मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करता है। मात्र शारीरिक विशेषतायें ही व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर सकती हैं।'[29] इस एक ही परिभाषा से सांख्य मनोविज्ञान में व्यक्तित्व काा सम्पूर्ण अर्थ प्रकट हो जाता है।

इस में मानव व्यक्तित्व को शरीर, मन, इन्द्रियों और आत्मा से युक्त माना गया है। इनमें प्रमुख तत्व आत्मा है। आत्मतत्व से ही मानव के समस्त कार्य–व्यापार सम्पन्न होते हैं। वस्तुतः मानव–व्यक्तित्व बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रिय, प्राण, शरीर आदि का आध्यात्मीकरण है। अतएव भारतीय मनोविज्ञान मानव व्यक्तित्व को आध्यात्मिक रूप से स्वीकार करता है।

वैयक्तिकता और व्यक्तित्व

आधुनिक मनोविज्ञान वैयक्तिकता एवं व्यक्तित्व के महत्व को स्पष्टतया स्वीकार करता है। मानव व्यक्तित्व के विकास एवं संगठन हेतु इन दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है। दोनों में भेद और समानता दोनों ही विद्यमान है। व्यक्तिकता में 'अहं' प्रधान होता है। यह मानव के व्यक्तिगत अस्तित्व पर आधारित रहता है। मानव का व्यक्तिगत अस्तित्व मात्र कल्पना ही नहीं है, अपितु व्यवहार में भी एक सत्य है। व्यक्तिगत अस्तित्व पर ही वैथक्तिकता को स्थित किया जा सकता है। अतः वैयक्तिकता एक संयोगता घटना नहीं है और न ही असंगति है। बल्कि यह मनुष्यों के लिए दुर्बोध तथ्य है वैयक्तिकता हमारे अस्तित्व की एकता नहीं बल्कि प्राण मात्र का संगठन है व्यक्तित्व मनुष्य के व्यक्तिगत अंह का द्योतक नहीं है अपितु सम्पूर्ण चेतना का केन्द्र बिन्दु है। वैयक्तिकता के माध्यम से ही व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो सकता है। अतः वैयक्तिकता में व्यक्तित्व निहित है किन्तु व्यक्तित्व में वैयक्तिकता समाविष्ट नहीं है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार वैयक्तिकता, मनुष्य के मानसिक जीवन और व्यवहार का अध्ययन है। इसके विपरीत सांख्य मनोविज्ञान के अनुसार वैयक्तिकता मनुष्य के सम्पूर्ण मानसिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक क्रियाओं का अध्ययन है। पाश्चात्य मनोविज्ञान वैयक्तिक मनोविज्ञान को सामान्यीकृत मनोविज्ञान के रूप में स्वीकार करता है। वैयक्तिक मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य उस संवेदनशील जैव–पिण्ड के सदृश है जो अपने चारों ओर से प्राप्त होने वाली उददीपन के प्रति क्रिया और अनुक्रियाशील होता है। वैयक्तिकता की व्यक्तित्व–विकास में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आलपोर्ट ने व्यक्तित्व–विज्ञान के विकास के निमित्त वैयक्तिकता को मानव स्वभाव की प्रमुख विशेषता के रूप में स्वीकार किया है।

सांख्य मनोविज्ञान व्यक्तित्व की अपेक्षा वैयक्तिकता को अधिक महत्व देता है। वैयक्तिकता के माध्यम से ही व्यक्तित्व को समझा जा सकता है। इसके अनुसार

वैयक्तिकता और व्यक्तित्व अविद्या का कल्पित रूप है। व्यक्तित्व का मूल तत्व 'आत्मा', वैयक्तिकता तथा व्यक्तित्व से परे 'अति–वैयक्तिक' है। आत्मा सभी मनुष्य के शरीरों में व्याप्त है। अविद्यावश मनुष्य स्वयं को 'जीव' उपाधि से युक्त समझने लगता है। जीव उपाधि से युक्त आत्मा में ही वैयक्तिकता एवं व्यक्तित्व का भेद पाया जाता है। लेकिन पुरूष स्थिति में कोई भेद नहीं होता। पुरूष में वैयक्तिकता एवं व्यक्तित्व का कोई स्थान नहीं है।

सांख्य योग मनोविज्ञान में व्यक्तित्व के अध्ययन का अत्यधिक महत्व है। यद्यपि उसका अध्ययन प्राचीनकाल से ही होता आ रहा है फिर भी वर्तमान काल में उसके अध्ययन का मूल्य कम नहीं हुआ है। आज व्यक्ति सांसारिक ऐषणाओं से अत्यन्त घिरा हुआ है और इनकी पूर्ति न होने से वह मानसिक रूप से अत्यन्त संतृप्त और विक्षिप्त है। परिणामतः उसका व्यक्तित्व विघटित हो रहा है। भौतिक सुखों से उसके व्यक्तित्व का एकांगी विकास होगा जो कि व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास नहीं है। ऐसी संकटापन्न अवस्था से निवृत्ति पाने के लिये सांख्य योग मनोविज्ञान की आवश्यकता है। इसमें बताये गये साधनों से व्यक्ति आज भी अपने व्यक्तित्व को संगठित एवं समायोजित कर सकता है तथा मानसिक तनावों से मुक्त हो सकता है। यह सब व्यक्तित्व के अध्ययन से ही हो सकता है। व्यक्तित्व के अध्ययन से तात्पर्य कोरे अध्ययन से नहीं अपितु अध्ययन के साथ ही उसका श्रवण, मनन और निदिध्यासन भी आवश्यक है।

वर्तमान समय में व्यक्तित्व के अध्ययन का मूल्य और अधिक बढ़ गया है चूंकि मानव व्यक्तित्व का विघटन द्रुत गति से हो रहा है। व्यक्ति अपनी ही जाति का सर्वनाश करने पर तुला हुआ है। सर्वत्र अशान्ति का वातावरण छाया हुआ है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के भावात्मक गुणों को तथा नैतिक पुरूषार्थ को ताक पर रखकर स्वयं को भौतिकता की चकाचौंध में निरन्तर झोंक रहा है। वह वैज्ञानिक सुख–संसाधनों से प्राप्त सुख को ही स्थायी सुख समझ रहा है। परिणामतः वह स्वयं को अनेक मानसिक व्याधियों से ग्रस्त कर कुंठित बना रहा है। वह अपने स्थायी सुख (आत्मानन्द) को विस्मृत करने की चेष्टा में लगा हुआ है। इस कारण वह स्वयं के अस्तित्व में भी संदेह करने लगा है। इन सब का निदान सांख्य योग मनोविज्ञान में है।

सांख्ययोग मनोविज्ञान के मतानुसार मानव व्यक्तित्व 'पुरूष' तत्व है। आत्म तत्व या पुरूष ही वास्तविक व्यक्तित्व है। 'पुरूष' रूप मानव व्यक्तित्व प्रकृति आदि 24

तत्वों का अधिष्ठाता, नियन्ता, भोक्ता, कर्ता और दृष्टा है। यह प्रकृति से भिन्न 'आत्मवत्' है। प्रकृति आदि तत्वों का निषेध नहीं किया जा सकता। ये तत्व ही मानव व्यक्तित्व के निर्माण हेतु साधन या यन्त्र हैं। पुरूष को अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्रकृति द्वारा प्राप्त होता है। अविवेक के कारण ही पुरूष स्वयं को प्रकृति के बन्धन से युक्त समझता है। वह भौतिक जीवन को ही अपना वास्तविक स्वरूप समझने लगता है। यह मात्र 'पुरूष' की मिथ्या भ्रान्ति है। अतः प्रकृति 'पुरूष' तत्व के आवरण (बन्धन) की भांति है। प्रकृति रूप यह आवरण या बन्धन पुरूष के 'विवेक–ज्ञान' होने पर स्वमेव हट जाता है। जिस प्रकार रंगमंच पर अभिनेता मुखौटा लगाकर अभिनय करता है, उसी प्रकार पुरूष भी प्रकृति रूपी आवरण से युक्त स्वरूप को अपना वास्तविक स्वरूप समझने लगता है जबकि यह व्यक्ति का वास्तविक रूप नहीं है। इसी कारण वह दुःखादि मनोदैहिक भावों को अपना भाव समझकर कष्ट अनुभव करता है। इसी भाव के कारण वह मानसिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है। इसके विपरीत पुरूष का वास्तविक स्वरूप शुद्ध, नित्य, चैतन्य स्वरूप है। प्रकृति ही नटी–रूप धारण कर पुरूष को विवेक ज्ञान कराती है। अतः प्रकृति पुरूष का साधन मात्र है, साध्य नहीं।

योग के अनुसार मानव व्यक्तित्व मन, शरीर नहीं बल्कि उन तत्वों का संचालक या नियन्त्रक आत्मा या पुरूष है। मानव व्यक्तित्व आत्मा और पदार्थ, पुरूष और प्रकृति, द्रष्टा और दृश्य अथवा आत्मा और अनात्मा का संयोगतः स्वरूप है। प्रकृति और पुरूष की परस्पर क्रिया ही महत् को उत्पन्न करती है और महत् से ही अहंकार आदि तत्वों की भी उत्पत्ति होती है। सांख्य के इन्द्रिय, मनस्, अहंकार और बुद्धि को ही योग में चित्त कहते हैं। मानव व्यक्तित्व को स्पष्ट करने में चित्त की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः व्यक्तित्व, पुरूष, चित्त और स्थूल भौतिक शरीर का अन्तर्भूत या सम्मिलित रूप है।

सांख्य मनोविज्ञान का सांख्य दर्शन से अभिन्न सम्बन्ध है। सांख्य दर्शन से पृथक् करके सांख्य मनोविज्ञान के मूल तत्व देह, इन्द्रिय और मन की पूर्ण व्याख्या असम्भव है, क्योंकि सांख्य मनीषियों ने देह, इन्द्रिय और मन को व्यक्ति या जीव के बन्ध और मोक्ष का साधन माना है। जीव का ही बन्ध और मोक्ष होता है, जिसमें मन की सक्रिय भूमिका होती है। मन में विद्यमान 'अहं' तत्व ही आत्मा या चेतना को जागतिक प्रपंचों से बांधता है। 'अहं' तत्व के निराकरण से ही पुरूष मुक्ति की ओर अग्रसर होता है। सांख्य मनोविज्ञान पुरूष तत्व को ही 'व्यक्तित्व' के रूप में

ग्रहण करता है। इसके व्यवहारिक और आध्यात्मिक दो पहलू हैं। व्यावहारिक पहलू में पुरूष भौतिकता से बंधा रहता है अर्थात् वह देह, इन्द्रिय और मन के परिवेश से बद्ध होता है। विषय—वासनाओं में उसकी प्रवृत्ति अधिक होती है। इस रूप में मानव व्यक्तित्व को कितना भी स्वरूथ कहा जाय फिर भी वह भौतिक दुःखों से किसी न किसी रूप में पीडित होता ही है। इच्छायें (कामनायें) अनन्त रूप से सक्रिय रहती हैं जिनकी पूर्ति असम्भव है। इच्छाओं की पूर्ति न होने से वह विविध मनोदैहिक विकारों से दुःखी रहता है। इच्छा का ही दूसरा रूप 'तृष्णा' है। 'तृष्णा' का आत्यन्तिक विनाश ही जागतिक दुःखों से मुक्ति दिलाने मे सक्षम है। मानव का तृष्णायुक्त व्यक्तित्व संगठित नहीं कहा जा सकता। सांख्य मनोविज्ञान ऐसे व्यक्तित्व को स्वस्थ और समायोजित करने के लिये आध्यात्म की ओर उन्मुख होता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का आध्यात्मीकरण ही उसको स्वस्थ व्यक्तित्व प्रदान कर सकता है। आध्यात्म, प्रत्येक व्यक्ति में निहित चेतना या आत्मा को ही मानव व्यक्तित्व का केन्द्रीय तत्व स्वीकार करता है। सांख्य मानव व्यक्तित्व में आत्म तत्व को स्वीकार करता है। मानव व्यक्तित्व में आत्म तत्व को स्वीकार कर लेने से सांख्य मनोविज्ञान में व्यक्तित्व की अवधारणा का वैशिष्टय स्वतः स्पष्ट हो जाता है। व्यक्तित्व के आध्यात्मिक पहलू में व्यक्ति के यथार्थ व्यक्तित्व 'आत्मा' के स्वरूप के ज्ञान पर विशेष बल दिया जाता है। जब व्यक्ति देह, इन्द्रिय और मन को सम्यक् रूप से उचित साधनों द्वारा संकलित और समायोजित कर लेता है तो उसको देहादि की नश्वरता और आत्मा की नित्यता आदि का ज्ञान स्पष्ट होने लगता है। 'आत्मा' में 'अहं' प्रत्यय का अस्तित्व नहीं होता जिससे व्यक्ति स्वयं को मानसिक तनावों, शारीरिक कष्टों से मुक्त समझता है। स्पष्ट है कि भारतीय मनोविज्ञान में व्यक्तित्व को आत्म केन्द्रित माना गया है। व्यक्तित्व का आत्म केन्द्रित रूप से ही उसका आध्यात्मिक व्यक्तित्व है। आध्यातित्मक व्यक्तित्व एक उच्च जीवन दर्शन है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में ऐसे जीवन दर्शन का अभाव है । ये मानव व्यक्ति में विद्यमान मानसिक तनावों को आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों से दूर करने का प्रयास करते हैं जबकि सांख्य मनोविज्ञान में व्यक्तित्व को इन समस्याओं को आध्यात्मिक विधियों (ज्ञान, और अष्टांग योग) द्वारा दूर करने का प्रयास किया जाता है। इन साधनों के सम्यक् अभ्यास से व्यक्ति पूर्णतया तनाव मुक्त हो सकता है। उसकी व्यावहारिक तृष्णाओं का भी क्षय हो जाता है।

महामुनि पतांजलि ने जनसाधारण का योग में प्रवेश कराने के लिये योगदर्शन

का दूसरा पाद क्रिया–योग के वर्णन से प्रारम्भ किया है। इसी पाद में अष्टांग–योग का वर्णन आता है। यम–नियम जहां योग की आधारशिला है, वहां से सार्वभौम–धर्म भी है, इन्हें जीवन में चरितार्थ किये बिना न तो सांसारिक अभ्युदय का दर्शन हो सकता है और न मोक्ष–साधक आत्मदर्शन ही। इसी करण यम–नियमों का समादर प्रत्येक स्थान में, प्रत्येक सम्प्रदाय में, समान रूप से किया जाता है। साधन–चतुष्टय तथा षट्–सम्पत्ति इनके अन्तर्गत आ जाती है। इन अंगों के जीवन में चरितार्थ हुये बिना अनेक महापुरूष आध्यात्मिक पथ से भ्रष्ट होकर पुनः सांसारिक विषयी जीवन के गर्त में जा गिरे, ऐसा इतिहास पुराण तथा दन्त–कथाओं से ज्ञात होता है।

पाँच यम और पाँच नियमों को जीवन में पूर्णतया चरितार्थ कर लेने पर, इनसे प्राप्त होने वाली विभूतियों का वर्णन भी इसी पाद में है। योग के ये आठ अंग आठ श्रेणियों या सीढियों के समान है। यम–नियमों का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के साथ सम्बन्ध है, 'आसन' का सीधा सम्बन्ध सभी अंगों के साथ है। आसन के दृढ़भूमि हुये बिना योग (समाधियों) की सिद्ध नहीं हो सकती। समाधियों की सिद्धि के लिये स्वस्तिक, सिद्ध, पदमादि आसनों में से किसी एक आसन को सिद्ध कर लेना पर्याप्त है। परन्तु धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष की सिद्ध का मुख्य साध्न आरोग्यता है। उस आरोग्यता तथा दीघार्यु और बल, पौरूष, स्फूर्ति आदि की प्राप्ति एवं संरक्षण के लिये आसनों के दैनिक अभ्यास से देह बलिष्ट, कान्तियुक्त, तेजस्वी, समाधि में बैठने की सामर्थ्य से युक्त बना रहकर, व्याधि आदि की बाधाओं को सहन करने में सशक्त, पाचनशक्तियुक्त, बुढ़ापे के चिन्ह–पीठ झुकने, झुर्रियां पड़ने आदि अनेक कष्टों से मुक्त रह सकता है।

जैसे आसन धारण, ध्यान समाधियों के लिये उपयोगी है, वैसे ही हठयोग के षटकर्म तथा मुद्राएं भी आसन तथा प्राणायाम–सिद्धि में अत्यन्त उपयोगी है। इन क्रियाओं के द्वारा देह, प्राण, इन्द्रियों की विशेष शुद्धि होती है, जिसका प्रभाव मन–बुद्धि पर भी पड़ता है, और धारणा–ध्यानादि में प्रगति शीघ्रता से होने लगती है।

प्राणायाम, प्रकाश पर पडे तक के आवरण को नष्ट करके, मन की एकाग्रता सम्पादन करने में अति सहायक होता है। इसका प्रभाव इन्द्रियवशित्व पर पडता है।

पांचवाँ अंग प्रत्याहार है। प्रत्याहार का सम्बन्ध विशेष रूप से इन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयों से है। जितना–जितना अधिकार इन्द्रियों पर होता जाता है, मन

और बुद्धि पर भी इसका प्रभाव पडता है। फलतः इन्द्रियगण पर वशित्व प्राप्त साधक समाधि का अधिकारी बन जाता है। स्थूल–सूक्ष्म इन्द्रियों के दिव्यादिव्य भोगों पर पूर्ण विजय इस प्रत्याहार की सिद्धि से प्राप्त होती है । परिणामतः मन भी बिना प्रयोजन स्थूल–सूक्ष्म विषयों की ओर न स्वयं जाता है, न इन्द्रियों को उधर प्रवृत्त करता है–प्रत्याहार का यही स्वरूप है। अतः योगी का कर्तव्य है कि वह इन्द्रियों के विषयों पर विजय प्राप्त करके आवागमन के नाशक आत्मज्ञान को प्राप्त करे। तदनन्तर, वह स्वतः ही ब्रहमाज्ञान का अधिकारी बनकर निर्वाण को प्राप्त कर लेगा।

धारणा और ध्यान शिक्षा प्रणालियों में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यद्यपि योग में ये समाधि की ओर को जाने वाली सीढ़ियां हैं। समाधि से आत्म ज्ञान प्राप्त होता है और आत्म ज्ञान से कैवल्य मिलता है।

वास्तव में शिक्षकों के प्रशिक्षण में भी योग अनिवार्य रूप से सम्मिलित किया जाना चाहिये क्योंकि शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास में योग का महत्व पूर्व और पश्चिम में सब कहीं स्वीकार किया गया है।

मनुष्य की प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य उसका विकास है और शिक्षा का लक्ष्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास है। यह लक्ष्य केवल विद्यालयों में शिक्षा से प्राप्त नहीं किया जा सकता। शैक्षिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये योग आवश्यक है। योग मानव–विकास का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और सर्वाधिक शक्तिशाली साधन है। इसके बिना पूर्ण विकास असम्भव है। यम, नियम, आसन और प्राणायाम विद्यार्थियों को ध्यान केन्द्रित करने में सहायता दे सकते हैं। केवल शारीरिक और मानसिक प्रशिक्षण ही शिक्षा का लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य व्यक्ति और समाज को सर्वांग पूर्णता की ओर ले जाना है। इस प्रक्रिया में जब ऐसी स्थिति आ जाती है कि विद्यालय की शिक्षा पर्याप्त नहीं होती तो वहां पर योग की सहायता ली जानी चाहिये।

6.3.0 समालोचनात्मक विश्लेषण :–

हमारा समाज आज एक संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। परिवर्तन की इस तीव्र आंधी ने जहाँ जीवन के बहुतेरे मूल्यों, आस्थाओं एवं प्रतीकों पर प्रहार किया एवं आधुनिकता, जड़ता और गतिमयता के द्वन्द्व में भटकने को छोड़ दिया है। जिससे पुरानी मान्यताएँ सामने आ रही है। इन नयी मान्यताओं में भौतिक मूल्यों और अर्थ की प्रधानता है। नैतिक एवं अध्यात्मिक मूल्यों से ही चल नहीं सकता।

इसलिये ऐसे मार्गो को खोजना आवश्यक है जिन पर चलकर मनुष्य वास्तविक शान्ति प्राप्त कर सकें।

मानव जीवन में सदा से ही शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जिसके माध्यम से मानव का विकास रहा है। प्रारम्भ से ही मानव मस्तिष्क में शिक्षा के शाश्वत मूल्यों एवं आदर्शो के प्रति प्रश्न उभरते आये है। शिक्षा के उददेश्यों एवं उददेश्यों की प्राप्ति में कौन सी पद्धति होनी चाहिये, इन सब सवालों को लेकर प्राचीन काल से अब तक दार्शनिकों, विचारकों एवं शिक्षा विदों ने अपने–अपने अनुरूप उद्देश्यों को बताया है। किसी ने विद्या की प्राप्ति, किसी ने ज्ञान तथा आनन्द की प्राप्ति, तो किसी ने बौद्धिक विकास तथा सांस्कृतिक स्तरों को ऊँचा उठाने को शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित किया है। इन विभिन्न उद्देश्यों को देखते हुये आज हमारे सामने शिक्षा के चिर सत्य एवं लक्ष्य को पहचानना होगा, जिसकी नींव पर शिक्षा की नींव खड़ी है। यद्यपि शिक्षा का सम्बन्ध मानव के पूर्ण जीवन से है परन्तु उसका प्रारम्भ तो मनुष्य के बाल्यावस्था में होता है। शिक्षा ही वह उपर्युक्त साधन है जिससे व्यक्तित्व का निर्माण होता है, जो चलकर सम्पूर्ण मानवता को खड़ा करता है।

सांख्य–दर्शन अधिकांश भारतीय विज्ञानों का आधार है। वह चिकित्सा–शास्त्र का तो आधार है ही, इसके अतिरिक्त वह नीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र तथा मोक्ष शास्त्र का भी आधार है। उसका त्रैगुण्यवाद प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में स्वीकृत है और यही भारतीय नीतिशास्त्र तथा चिकित्साशास्त्र का आधार है। सांख्य ने पुरूष को मूलतः दृश्टा और भोक्ता माना है। इससे ज्ञान मूलक भोगवाद का सूत्रपात हुआ जिसका विकास सौन्दर्य शास्त्र में हुआ है। सौन्दर्य–शास्त्री भट्टनायक सांख्य दार्शनिक थे और उन्होंने सांख्य शास्त्र के अनुसार सौन्दर्य तथा रस की व्याख्या की है। सांख्य का ज्ञान मार्ग तथा कैवल्यवाद भी प्रायः सभी दर्शनों में किसी न किसी रूप में ग्राह्य है। सांख्य मूलतः ज्ञान मार्ग है। वेदान्त और बौद्ध दर्शन के ज्ञान मार्ग उसी के विकास है।

शंकराचार्य ने सांख्य की आलोचना करते समय कहा है कि सांख्य गति तत्व की व्याख्या नहीं कर सकता है। गति तत्व की व्याख्या सांख्य चार दृष्टातों के आध ार पर जो अश्मवत्, पयोवत्, अम्बुवत् और अन्ध–पंगुवत् युक्तियां हैं। जैसे चुम्बक पत्थर लोहा खींचता है (अश्सवत्), जैसे गाय के स्तन में घास से दूध पैदा होता है। (पयोवत्), जैसे पानी बहता है (अम्बुवत्) और जैसे लंगड़े तथा अंधे एक दूसरे के सहयोग से चलते हैं (अन्ध–पंगुवत) वैसे प्रकृति और पुरूष के संयोग से अपने

आप गति उत्पन्न होती है। इन दृष्टान्तों के आधार की गयी गति व्याख्या को शंकराचार्य ने सिद्ध, साधन–दोष से ग्रसित दिखलाया है। क्योंकि ये व्याख्याऐं मानती है कि विश्व में पहले से ही गति है और उस गति के फलस्वरूप अश्य, दुग्ध, पानी तथा शरीर उत्पन्न होते हैं तथा भू–रचना होती है।

ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया को आचार्य कहा जाता था। आदर्श जीवन का आचरण करते हुये विद्यार्थियों से तदनुरूप उसका आचरण करवा लेने वाला ही आचार्य होता था। वह आचार्य ही गुरू, शिक्षक, अध्यापक कहलाता है जो अपने शिष्यों में सदाचार, नैतिकता अनुशासन आदि की भावना जागृत करता है। जीवनपयोगी विविध विषयों का बोध कराता है आज हमारे देश और समज के विकास का श्रेय आचार्यो की गुरूकुल परम्परा है जिनकी शिक्षा पद्धति न केवल आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति कराती रही है। बल्कि व्यक्ति में हंसी शक्ति और प्रतिभा प्रदान करती है जिससे व्यक्ति अपने एवं समाज को सुव्यवस्थित एवं स्थिर कर सके।

प्राचीन समय की शिक्षा में शिक्षक को स्वयं सांसारिक सुख–दुःख से विरक्त तथा सबसे प्रेम करने वाला बताया गया है क्योंकि तभी वह अपने शिष्यों को जीवन्मुक्ति अर्थात कर्म से विरक्त हुये बिना मुक्ति प्राप्त करने का उपदेश दे सकता था तथा आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति के लिये वह अपने छात्रों को यह बताता था कि "विदेहमुक्ति" अर्थात शरीर के नाश होने पर ही वास्तविक मुक्ति की प्राप्ति होती है।

परन्तु समय और परिस्थितियों ने प्राचीन शिक्षक परम्परा से दी जाने वाली शिक्षा को छिन्न–भिन्न कर दिया है। परिणाम स्वरूप आज अध्यापकों का उत्तरदायित्व सीमित हो गया है, अध्यापक के लिये अध्यापन कार्य एक पेशा बन गया है। जब छात्रों के जीवन से उनका कोई सम्पर्क नहीं है तो आत्मीयता के भाव की बात से कैसे सम्पर्क हो सकता है। प्रायः शिक्षक और शिक्षार्थी में सामान्य परिचर भी नहीं रहता, चाहे इसके मूल यथार्थवादी कारक है।

प्राचीन काल में शिक्षा प्रारम्भ करने से पहले उपनयन संस्कार होता था। उपनयन संस्कार के बाद शिष्य, गुरू के सनिध्य में ही रहकर सदाचार दर्शन अनेकात्मवाद में विश्वास करता था और उसका मानना था कि प्रत्येक प्राणी में अलग–अलग आत्मा होती है। अतः इस दृष्टि से प्रत्येक बालक को शारीरिक

मानसिक दृष्टि से भिन्न मानता था और बालक की क्षमता के अनुसार उसके विकास पर बल देता था साथ ही सांख्य दर्शन उन छात्रों के लिये जो दुःखों से मुक्ति पा सकता था।

किन्तु आधुनिक प्रसंग में उपर्युक्त कसौटिया व्यर्थ हो गई है, कारण यह है कि आज का छात्र समुदाय संतोष एवं धैर्य से कोसों दूर चला गया है शिक्षा जगत में, छात्रों में बढ़ता असंतोष राष्ट्र एवं समाज दोनों के लिये एक चुनौती बन गया है। यह बढ़ता हुआ असंतोष ही छात्रों में अनैतिकता, चारित्रिक पतन, गुरूओं के प्रति अनादर की भावना, चोरी, भ्रष्टाचार, नशाखोरी इत्यादि भावनाओं को जन्म दे रहा है। इसका मूल कारण ''उददेश्यहीन शिक्षा'' है। जब तक दिशा प्रधान एवं उददेश्यपूर्ण शिक्षा का अभाव रहेगा तब तक छात्रों में उपरोक्त कमी को समाप्त नहीं किया जा सकता है।

सांख्य शिक्षा दर्शन में शिक्षण विधि के तीन महत्वपूर्ण अंग थे। प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द। विषयों के प्रति इन्द्रियों के सम्पर्क में जो ज्ञान आता था, प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान प्राप्ति कहा जाता था। प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान प्राप्त साक्षात् तथा यथार्थ होता था। वैसे किसी व्यक्ति को आँखों के सामने इतना निकट से देखकर यह ज्ञान प्राप्त करना कि यह मनुष्य है प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता था। प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा आत्मा चारों क्रियाशील रहते थे। अनुमान वह विधि थी जिसमें ज्ञात विषय के आधार पर किसी अज्ञात विषय का किसी कार्य हेतु के माध्यम से अनुमान लगाया जाता था। जैसे वहाँ पशु चर रहे हैं। अतः वहाँ घास होनी चाहिये। जिस विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान द्वारा प्राप्त करना सम्भव नहीं था उसके लिये शब्द विधि का प्रयोग किया जाता था। शब्द वह संकेत है जो किसी वस्तु अथवा क्रिया के लिये प्रयुक्त होता था। वाक्य बोध के लिये शब्द बोध आवश्यक था। शब्द विधि के अन्तर्गत वह सब मौखिक था तथा लिखित वाणी आती थी जो किसी आप्ट पुरूष द्वारा प्रयुक्त हो। आप्ट पुरूष विश्वास पात्र व्यक्ति होता था, उसे अपने विषय का ज्ञान होता था तथा उसका पर्याप्त अनुभव होता था, अतः उसकी वाणी अथवा आदरणीय कही जाती थी तथा उसे विश्वास योग्य समझा जाता था।

परन्तु आधुनिक शिक्षण प्रणाली पर दृष्टिपात करने पर इसमें अधूरापन तथा अव्यावहारिकता का समावेश दिखाई पड़ता था। वर्तमान शिक्षा प्रणाली छात्रों को

डाक्टर, इंजीनियर तथा अधिवक्ता बनाने में सक्षम है, परन्तु सही मायने में इन्सान बनाने में अक्षम है। अध्यापक छात्र के बीच बढ़ती दूरी, उनमें उदासीनता और उपेक्षा की भावना जोर पकड़ती जा रही है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली ने छात्रों को किताबी कीड़ा तो अवश्य बना दिया है, किन्तु पूर्व ज्ञाता या मर्मज्ञ बनाने में अक्षम है। प्राचीन सांख्य शिक्षाा में जहाँ व्यक्ति को आध्यात्मिक मुक्ति पाने पर बल दिया जाता है, वहीं आधुनिक शिक्षा में नैतिकता, चरित्र निर्माण, सहनशीलता, अनुशासन, त्याग, आज्ञापालन, कर्तव्यपालन, विनम्रता आदि गुणों का सर्वथा अभाव होता जा रहा है। आज छात्र उपाधियां प्राप्त करने में जी जान लगा दे रहे हैं क्योंकि उसे शिक्षा और ज्ञान से ज्यादा रोटी की समस्या अधिक हो गयी है। आज की शिक्षा व्यवस्था में आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की आवश्यकताओं का कोई स्थान नहीं, जबकि अब तक के शिक्षा आयोगों ने अपनी अनुशसाओं में आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों की आवश्यकताओं को प्रतिपादित किया है।

आज समाज, राष्ट्र, अभिभावक, अध्यापक सबके सामने यह समस्या खड़ी है कि देश के लिये किस तरह की शिक्षा व्यवस्था की जाए। हालांकि शिक्षा सुधार के सम्बन्ध में राधाकृष्णन के नेतृत्व में विश्वविद्यालय कमीशन, मुदालियर कमीशन, शैक्षणिक पंचवर्षीय कार्यक्रम, स्त्री शिक्षा के लिये बालिका विद्यालय एवं नयी शिक्षा नीति के तहत नवोदय विद्यालय की स्थापना आदि अनेक प्रयास किये गये हैं। फिर भी हम निश्चित तथा अध्यात्मिकता से हीन वर्तमान शिक्षा प्रत्येक स्तर पर अस्थिरता एवं अशान्ति का प्रतीक बन गयी है। समाज के उच्च वर्ग एवं मध्यम वर्ग को पाश्चात्य ढ़ंग से स्कूलों में पढ़ाने की ललक व प्रतियोगिता सवार हो गयी है। यद्यपि ऐसे स्कूलों से निकलें बालक औपचारिक सौजन्य एवं बाह्य शिष्टाचार में तो निश्चित ही आगे होते हैं किन्तु वे किसी अध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यवादी जीवन दृष्टि से सम्पन्न होते हैं या नहीं यह कहना कठिन है। वर्तमान उदण्डता, अनुशासनहीनता, अनैतिकता, चारित्रिक अद्यः पतन, माता–पिता तथा गुरू के प्रति श्रद्धा का अभाव, राष्ट्रभावना की कमी, स्वार्थ परता आदि दोष इसलिये आ गये है कि वे अपनी मौलिक भूमिका को छोड़कर पराई विधि विधानों को अपनानें का प्रयास कर रहे हैं जिनका कि हमारे संस्कृति से तालमेल नहीं बैठता।

शिक्षण विधि के सम्बन्ध में यदि सांख्य शिक्षा की विधि (प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द)का मूल्यांकन किया जाये तो आज की शिक्षा के लिये अधिक प्रासंगिक प्रतीत

होता है। इस विधि की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता है। बढ़ती हुई आबादी के लिये शिक्षा का उचित प्रबन्ध करना हमारे लिये एक चुनौती बन गया है, सबके लिये शिक्षण संस्थाओं की व्यवस्था करना असम्भव सा लगता है। अधिकाश जनसंख्या अशिक्षित है। अशिक्षा के कारण आज भी उसमें वैज्ञानिक सोच स्पष्ट चिन्तन का अभाव पड़ा है। जब तक हमारा शिक्षित युवा वर्ग इनके लिये प्रयास नहीं करेगा तब तक देश की अशिक्षा की समस्या से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। अतः तत्कालीन सांख्य शिक्षा विधियों का उपयोग करने में सफल हो गये तो आज की अशिक्षा रूपी अंधकार को दूर करने में सफल हो सकते हैं।

सदियों की गुलामी की जंजीर से छुटकारा पाने के बाद हमारा देश आजादी का पचपनवाँ वर्ष पूरा करने के लिये पग आगे बढ़ा चुका है।

फिर भी हमारे देश की शिक्षा की समस्या अभी तक अपेक्षित दिशा में प्रगति नहीं कर सकी है। पाश्चात्य देश के स्वतन्त्रता समानता के आदर्शों को अपनाने की व्यवस्था हमारे संविधान का मूल उददेश्य समाजवादी समााज की स्थापना, धर्म निरपेक्षता स्वतंत्रता, समानता तथा न्याय के आधार पर समाज को प्रतिष्ठित करने का है। सबको समान रूप से शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है किन्तु समाजवादी राष्ट्र की कल्पना मात्र संविधान तक ही सीमित दिखाई पड़ती है क्योंकि समाजवादी समाज का अर्थ होता है अमीर–गरीब के बीच की खाई को कम करना।

आज वर्तमान में शिक्षा नीतियों के तहत जो आरक्षण व्यवस्था लागू किया गया है वह सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक माँग का प्रतीक अवश्यक है, किन्तु उसका व्यवहारिक एवं साकार रूप आगामी भविष्य में द्वेष व कलह जाति–पाति, भाई–भतीजावाद व संकीर्ण व्यवस्था को जन्म देगा, जिसका परिणाम भयंकर होगा। यदि हम आरक्षण के तहत सुविधा पाये, लोगों का सर्वेक्षण करें तो वे समाज में एक अलग रूप में देखे जाते हैं। जिससे आपस की दूरी बढ़ती है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा का मौलिक अधिकार सबको मिलना चाहिये तथा हमारी शिक्षा व्यवस्था में जो असमानता है उसे समानता के साथ जोड़ना चाहिये इस प्रयास में हमारे समाज को आगे आना चाहिये। शिक्षा से वंचित लोगों को भी पर्याप्त सुविधा देकर समाज की अगली पंक्ति में खड़ा करने का प्रयास, हमारा उत्तरदायित्व है, तभी हमारा समाज और राष्ट्र आगे बढ़ सकता है। शिक्षा विदों बुद्धिजीवी वर्गों व राजनीतिज्ञों को भी इस दिशा में स्पष्ट चिन्तन करना

चाहिये। तभी हमें अपने संविधान में स्पष्ट चिन्तन करना चाहिये। तभी हम अपने संविधान के समाजवादी समाज की स्थापना, धर्म निरपेक्षता, समानता, न्याय, स्वतन्त्रता के राष्ट्रीय लक्ष्य को पूरा करने में सफल हो सकेंगे और विकास के उन्नत शिखर पर अपने को प्रतिष्ठित कर सकेंगे।

6.4.0 निष्कर्ष

आधुनिक भारतीय सन्दर्भ में सांख्य शिक्षा दर्शन का यह निष्कर्ष है कि हमारी आधुनिक शिक्षा प्रणाली को पुर्नजीवन प्रदान करने में सांख्य–दर्शन महत्वपूर्ण योगदान कर सकता है। भारतीय दर्शनों पर प्रायः यह आक्षेप लगाया जाता है कि इनमें आत्मज्ञान पर इतना अधिक आग्रह है कि शरीर की अवहेलना की जाती है। वेदान्त तथा अन्य भारतीय दर्शनों में इस सृष्टि और शरीर को माया का उत्पादय माना जाता है, फलतः शरीर की अपेक्षा की जाती है, तथा अध्यात्मिक विकास पर बल दिया जाता है । परिणाम यह होता है कि अन्य दर्शन व्यवहारिक शिक्षा के लिये कुछ भी योगदान करने में अशक्त रहते हैं। विद्यालयी शिक्षा के प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं, तथा दर्शन एवं धर्म के बीच कोई भेद नहीं रह जाता। दूसरी ओर आदर्शवाद से इतर अन्य भारतीय दर्शन शरीर, इन्द्रिय, मन आदि को इतना महत्व दे देतें है कि आत्मा की उपेक्षा हो जाती है। सांख्य–दर्शन मध्यम मार्ग प्रस्तुत करता है। वह बालक के शरीर, प्राकृतिक परिवेश तथा उसमें निहित आत्मा दोनों को उचित स्थान प्रदान करता है। सांख्य–दर्शन में शरीर और आत्मा तथा सृष्टि और परमात्मा को एक दूसरे का पूरक मानता है। बिना आत्मा के शरीर निर्जीव, प्रकाश रहित, तथा जड़ है, तो बिना शरीर के आत्मा पंगु है। शरीर की सहायता के बिना आत्मा अपने आप को अभिव्यक्त नहीं कर सकती।

वर्तमान समय आधुनिकता की दौड़ में व्यस्त है। लोक निरन्तर विकास की सोच में तल्लीन है। हमारे समाज में बालकों की शिक्षा का उत्तरदायित्व अभिभावक, शिक्षक और समाज का है। इन तीनों के अपने–अपने उत्तरदायित्व हैं। आज का अभिभावक अपने विकास में इतना तल्लीन है कि अपने बालकों को यशेष्ट समय नहीं दे पाता तथा उसका अधिकांश समय होटलो, क्लबों, पार्टियों एवं यात्राओं में व्यतीत होता है। इसका मूल कारण भौतिकवादी संस्कृति को अपनाना एवं उनके लिये उपभोग की सामग्री इकट्ठा करना, बालकों को सदाचार के नियम कर्तव्य निष्ठता, सच्चरित्रता के अभाव के फलस्वरूप ही असंतोष का उदय होता है। आज अध्यापक भी अपने कर्तव्यों को भूल चुका है। अध्यापन उसका पेशा मात्र बनकर रह गया है, जिससे छात्रों में उसके प्रति सम्मान की भावना प्रायः समाप्त सी हो गयी

है। सामाजिक वातावरण इतना दूषित हो चुका है कि अश्लीलता और अनैतिकता ही सर्वत्र विराजमान हो गयी है। इस दूषित वातावरण में छात्रों में नैतिक गुणों का विकास नहीं हो पा रहा है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि छात्र अध्यापक और समाज अपने-अपने उत्तरदायित्वों का पालन करें। सभी मिलकर एक समाज के निर्माण के लिये आगे बढ़े। प्राचीन मूल्यों आदर्शों को कायम रखें तथा उसे व्यवहारिक रूप देकर साकार करें।

सांख्य द्वारा प्रस्तुत बाल-विकास का विवेचन बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक है तथा बाल-विकास की दृष्टि से अध्यापक को एक नई अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है। इसमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, बुद्धि आदि विभिन्न ज्ञानात्मक अंगों के विकास का अवस्थवार विवेचन मिलता है।

अधिकांश भारतीय दर्शन एकात्मवादी दर्शन है, जिनमें व्यक्ति को समष्टि का अंग माना जाता है। दूसरे शब्दों में जीव को बह्म का अंश माना जाता है। व्यक्ति का उद्गम भी बह्म से तथा समाहार भी बह्म में माना जाता है। इस प्रकार की विचार धारा सर्वहारा एकाधिकारवाद को जन्म दे सकती है। सांख्य विचार द्वारा आधुनिक लोकतांत्रिक-दर्शन से मेल खाती है।

सांख्य दर्शन में प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा पृथक है, तथा उसका व्यक्तित्व अद्वितीय है। प्रत्येक छात्र को अपनी क्षमता, योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार विकास करने का अधिकार है। उसका व्यक्तित्व उसका है, और वह अनुपम है, गरिमामय है। उसमें स्वतंत्र संकल्प शक्ति है। अपनी सृष्टि का निर्माण तथा नियमन के लिये वह स्वतन्त्र है। व्यक्तित्व का यह गरिमामय स्वरूप लोकतंत्र को जीवित रखने एवं अनुप्राणित करने के लिये आवश्यक है।

सांख्य द्वारा प्रतिपादित अवस्था क्रम के अनुसार पाठ्यक्रम सर्वथा मनोवैज्ञानिक आधारों पर बना हुआ है। उसमें आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक दोनों ही प्रकार की ज्ञान-शाखाओं को प्रतिनिधित्व मिला है।

ज्ञान प्राप्ति के जिन विधियों का उल्लेख सांख्य दर्शन में मिलता है, वे सभी किसी न किसी रूप में आधुनिक अध्यापन विधियों में प्रतिबिम्बित होती हैं। सांख्य-मध्यम मार्ग अपनाता है। सांख्य-मत में एक और यदि प्रत्यक्ष-विधि पर आग्रह है, तो दूसरी ओर शब्द विधि का महत्व कम नहीं आँका गया है।

आधुनिक भारतीय ढाँचे को देखते हुये शिक्षा का जो समन्वयकारी विवेचन सांख्य-दर्शन में मिलता है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है।

संदर्भ अनुक्रम

1. पी.डी. पाठक, भारतीय शिक्षा और उनकी समस्याएं, पृ. – 404
2. हुमायुँ कबीर, स्वतंत्र भारत में शिक्षा, पृ.–135
3. वही, पृ.– 135।
4. जौहरी व पाठक, भारतीय शिक्षा का इतिहास, पृ. – 361
5. वही।
6. राधाकृष्णन्, एस., स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, भाग – 1, पृ. – 102
7. राधाकृष्णन्, द फिलॉसफी ऑफ रवीन्द्रनाथ टैगोर, पृ. – 126
8. डा. राधाकृष्णन्, पर्सनैलिटी, पृ. – 36
9. वही, पृ. – 36
10. डा. राधाकृष्णन्, द कन्सेप्ट ऑफ मैन, पृ. – 246
11. फ्रेन्केना, डब्लू. के, (सम्पा), फिलासफी आफ एजूकेशन, पृ. – 51
12. डा. राधाकृष्णन्, स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, खण्ड – 2, पृ. – 26
13. वही पृ. – 254
14. विवेकानन्द, कलैक्टेड वर्क्स, भाग – 2, पृ. – 25
15. डा. राधाकृष्णन्, स्पेचेज एण्ड राइटिंग्स, खण्ड – 2, पृ. – 104 – 105
16. वही, पृ. – 202
17. वही, पृ. – 204
18. विवेकानन्द, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड – 2 अद्वैत आश्रम, पृ. – 26
19. वही, खण्ड – 7, पृ. – 45
20. श्री अरविन्द, एसेज आन द गीता, आर्य पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता (1946) पृ. – 313
21. श्री अरविन्द, द सिस्टम आफ नेशनल एजूकेशन, आर्य पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, 1948 पृ. – 1
22. दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश, पृ. – 171
23. वही, पृ. – 581
24. श्री अरविन्द, द हयूमन साइकिल पृ. – 35
25. श्री अरविन्द, इन्टीग्रल एजूकेशन, श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, पांडिचेरी (1932), पृ. – 4
26. श्री अरविन्द, द सिन्थेसिस आफ योग, श्री अरविन्द लाईब्रेरी इन्क, न्यूयार्क (1950) पृ. – 2
27. श्री निवासचारी, आइडिया आफ पर्सनैलिटी, अदयार लाईब्रेरी पृ. – 11
28. वही, पृ. – 9
29. स्वामी शिवानन्द, साइन्स ऑफ योग, पृ. – 91 – 92, डिवाइन लाइफ सोसाइटी।

अध्याय सप्तम्

निष्कर्ष, सीमाएं एवं सुझाव

7.00 परिचय

पिछले अध्यायों में सांख्य दर्शन पर आधारित शिक्षा के संबंध में विस्तार से विचार किया गया। इस अध्याय में अध्ययन के निष्कर्षो पर चर्चा की जायेगी। इसके साथ ही अध्ययन की सीमाऐं एवं आगामी अध्ययन हेतु सुझाव भी दिये जायेंगे।

7.1.0 निष्कर्ष

चूंकि वर्तमान अध्ययन की विधि दार्शनिक विधि है अतः परिकल्पना आदि का प्रश्न ही नहीं उठता। अतएव निष्कर्ष वैचारिक आधार पर ही दिये जा सकते हैं। जैसे कि अध्याय पांच में स्पष्ट हो चुका है कि शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है अतः निष्कर्ष जानने हेतु इसकी सीमाऐं निर्धारित करना अति आवश्यक है। वैचारिक आधार पर जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उन्हें मुख्यः चार भागों में बांटकर लिखा गया है – उद्देश्य, विषयवस्तु, विधियां, एवं मूल्यांकन।

7.1.1. सांख्य दर्शन पर आधारित शैक्षिक उद्देश्य

उद्देश्य पाठ्यचर्या का सर्वप्रमुख अंग है। उद्देश्य के आधार पर ही पाठ्यवस्तु, शिक्षण विधि, मूल्यांकन आदि का निर्धारण होता है।

सांख्य दर्शन के शैक्षिक उद्देश्य जानने हेतु 9 प्रमुख बिन्दुओं को लिया गया है वे हैं – प्रकृति, पुरूष, महत, अंहकार, मन, ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां, पंच तन्मात्रा और पंच महाभूत, सत्कार्यवाद और कैवल्य।

7.1.1.1 प्रकृति

सांख्य दर्शन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व प्रधान या मूल प्रकृति है। प्रकृति को विश्व का आधार माना है। अतः प्रकृति से संबंधित शैक्षिक उद्देश्य निम्नानुसार हो सकते है –

(i) प्रकृति सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है यह बताना।

(ii) प्रकृति के गुण व विशेषताओं की जानकारी देना।

(iii) संसार की विभिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति का कारण क्या है? इसे जानने की उत्सुकता पैदा करना।

(iv) संसार की समस्त वस्तुओं का ज्ञान प्रदान करना।

(v) संसार का वह ऋणी कैसे है? इसका ज्ञान प्रदान करना। बदले में उसके क्या कर्तव्य हैं? इसके लिये तैयार करना।

(vi) प्राकृतिक संसाधनों के प्रति संचेतना एवं रख रखाव के प्रति जागरूकता पैदा करना।

(vii) कर्तव्य पालन एवं स्वावलम्बन आदि भावनाओं का विकास करना।

(viii) सत्व, रज, तम इन तीन गुणों का महत्व एवं जीवन में उपयोग बताना।

(ix) हर एक वस्तु त्रिगुणात्मक है पर हर एक वस्तु में कोई एक गुण प्रधान होता है और दूसरे गौण, इसका ज्ञान प्रदान करना।

7.1.1.2 पुरूष

सांख्य के तत्वों में दूसरा प्रमुख तत्व 'ज्ञ' है। इसे 'पुमान्' अर्थात् पुरूष भी कहते हैं। जिस सत्ता को अधिकांशतः भारतीय दार्शनिकों ने आत्मा कहा है उसी सत्ता को सांख्य ने पुरूष की संज्ञा से विभूषित किया है। सांख्य का यह तत्व शिक्षा की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है अतः निम्नलिखित शैक्षिक उद्देश्य बतलाये जा सकते हैं –

1. संसार में कोई न कोई अन्तिम सत्ता होती है वह ही चरम सत्ता है इसका ज्ञान प्रदान करना।
2. संसार का भोक्ता कौन है? इसे जानने की उत्सुकता पैदा करना।
3. आत्मा के गुण एवं विशेषताओं से परिचित कराना।
4. अनेकात्मवाद के सिद्धांत से परिचित कराना।

7.1.1.3. महत

सृष्टि का उदय प्रकृति और पुरूष दोनों के संयोग का फल है। प्रकृति में क्षोभ होकर जो पहले पहल तत्व उत्पन्न होता है उसका नाम महत–तत्व है। यह तत्व हमारे देह में बुद्धि रूप में स्थित हैं। ज्ञान प्रदान करके में बुद्धि की भूमिका प्रमुख होती है अतः बुद्धि के शैक्षिक उद्देश्यों हेतु निहितार्थ निम्नानुसार है –

1. महत का अर्थ एवं उत्पत्ति का कारण बताना।
2. महत का महत्व स्पष्ट करना ।

3. बुद्धि का प्रमुख कार्य क्या है? इसे बताना।
4. बुद्धि के गुणों व उसके परिणामों के बारे में बताना।
5. मस्तिष्क की शक्ति से परिचित कराना।
6. बौद्धिक क्षमताओं का विकास करना यथा– विचार करना, निश्चित करना, चिन्तन करना आदि।
7. तार्किक विकास करना।
8. अनुसंधान हेतु प्रवृत्त करना।
9. सावधानी व सर्तकता से निर्णय लेने की क्षमता का विकास करना।
10. धर्म के अर्थ से परिचित कराना एवं उचित धार्मिक भाव पैदा करना, धार्मिक संस्कार पैदा करना।
11. सुखी, सम्पन्न एवं ऐश्वर्य शाली बनने में सहयोग प्रदान करना एवं उनके सही अर्थो से परिचित कराना।
12. अन्ततः - वैराग्य की ओर प्रवृत्त करना।
13. स्मरणशक्ति का विकास करना।
14. किसी भी वस्तु के वास्तविक स्वरूप जानने की ओर प्रेरित करना।
15. अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचने में सहायता करना।

7.1.1.4 अहंकार

प्रकृति का दूसरा विकास अहंकार है। अहंकार का कारण बुद्धि है। देह में उसका काम अभिमान है शैक्षिक दृष्टि से यह तत्व भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बालक को निराभिमानी बनाना व व्यक्तित्व का सही विकास शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। इस दृष्टि से अहंकार तत्व का शैक्षिक उद्देश्यों हेतु निहितार्थ निम्नानुसार हैं –

1. अहंकार की उत्पत्ति के विषय में ज्ञान प्रदान करना।
2. अहंकार अभिमान का पर्याय है इस तथ्य से अवगत कराते हुए निराभिमानी बनने की ओर प्रेरित करना।
3. अहंकार के प्रतिफल बताना।
4. क्योंकि जीव को जगत से जोड़ने वाली कड़ी अहंकार है और इच्छा मात्र से

कर्म है अतः शुद्ध कर्मो की प्रेरणा देना एवं उनकी ही इच्छा करना।

5. बालक के संपूर्ण व्यक्तित्व का सही विकास करना।
6. क्रियाशील बनाना।
7. तामसिक गुणों से सात्विक गुणों की ओर बढ़ने में सहायता करना।
8. उत्तरोत्तर सत्कर्म करने के लिए प्रेरित करना।

7.1.1.5 मन

वैकारिक तथा सात्विक अहंकार 'मनस' उत्पन्न करता है। मन का सहयोग ज्ञान व कर्म दोनों के लिये आवश्यक है। अतः 'मन' का शैक्षिक क्रियाकलाप में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इससे संबंधित उद्देश्य निम्नांकित हो सकते हैं–

1. मन की उत्पत्ति का कारण बताना।
2. मन की विशेषतायें तथा कार्य बताना। जैसे –
   (अ) मन सम्यक् कल्पना का माध्यम है।
   (ब) मन में ही विभिन्न प्रकार की अनभूति होती है।
   (स) मन ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को प्रेरणा प्रदान करता है।
3. उपर्युक्त सभी भावनाओं व कार्यो हेतु उचित मार्गदर्शन प्रदान करना।
4. मन को इस तरह तैयार करना कि वह ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को शुभ कार्यो की ओर प्रेरित कर सकें।
5. भावात्मक विकास करना।
6. सद्इच्छा, सत्संकल्प व सद्ज्ञान हेतु प्रेरित करना, तैयार करना।
7. चिन्तन, मनन, विश्लेषण, संश्लेषण एवं चयन की शक्ति विकसित करना।
8. अवधान केन्द्रित करने की शक्ति पैदा करना।
9. सृष्टि के विभिन्न तत्वों एवं पदार्थो का ज्ञान प्रदान करना।

7.1.1.6 ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ

सात्विक अहंकार से मन के अतिरिक्त और जो नये तत्व उत्पन्न होते हैं वह है – पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और पांच कर्मेन्द्रियाँ। आध्यात्मिक, नैतिक, मानसिक एवं

व्यवसायिक विकास का साधन शरीर अर्थात् प्रत्यक्षतः ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां ही हैं। अतः इस तत्व के शैक्षिक उद्देश्यों हेतु निहितार्थ निम्नलिखित हैं –

1. शरीर के अंगों का ज्ञान कराना।
2. शरीर को हुष्ट–पुष्ट, सुन्दर, सुडौल बनाना एवं उसकी क्षमताओं का विकास करना।
3. शरीर के सभी अंगों एवं संस्थानों की क्रिया में सर्वांगपूर्ण, प्रणाली बद्ध और सामंजस्यपूर्ण विकास करना।
4. पूर्ण निरोगी रहने के लिये आवश्यक जानकारियाँ देना।
5. यदि शरीर में कोई दोष या विकृति हो तो उसे सुधारने संबंधी जानकारियाँ प्रदान करना।
6. समस्त इन्द्रियों को विशेष तौर पर आंख, नाक, कान आदि को निरोग एवं क्षमतावान बनाना।

7.1.1.7. पंचतन्मात्रा एवं पंच महाभूत

तामस् से पंचतन्मात्राओं का विकास होता है। पंच–तन्मात्र से पंच महाभूतों का प्रादुर्भाव होता है। पंच–तन्मात्रा सूक्ष्म है जबकि पंच महाभूत स्थूल हैं। इस तत्व से शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य पूर्ण होंगे।

1. पंचतन्मात्राओं और पंचमहाभूत की उत्पत्ति तथा विकास की जानकारी देना।
2. तन्मात्रायें पांच है – रंग, स्वाद, गंध, स्पर्श एवं ध्वनि आदि का ज्ञान एवं प्रशिक्षण प्रदान करना।
3. तन्मात्रायें सूक्ष्म हैं विशेष साधना द्वारा देखा जा सकता है इसका ज्ञान देना।
4. तन्मात्राओं की भूमिका एवं उपयोग की जानकारी देना।
5. मानव शरीर पंचतत्व से निर्मित है इसका ज्ञान देना।
6. पृथ्वी जल, वायु, अग्नि एवं आकाश इन पंच तत्वों का ज्ञान प्रदान करना।
7. पंच महाभूतों के गुण, महत्व एवं लाभ से परिचित कराना।
8. प्राकृतिक पर्यावरण का ज्ञान प्रदान करना।

9. पर्यावरण के प्रति चेतना का विकास करना।
10. प्राकृतिक संसाधनों के समुचित उपयोग एवं सुरक्षा के भाव पैदा करना।
11. दूषित पर्यावरण की जानकारी देते हुए पर्यावरण प्रदूषण के परिणामों के प्रति सचेत करना।
12. व्यक्तित्व विकास में योगदान देना।

7.1.1.8 सत्कार्यवाद

कार्य–कारण के विषय में सांख्य दर्शन का अपना एक विशिष्ट मत है जो सत्कार्यवाद के नाम से विख्यात है। शिक्षा की दृष्टि से यह सिद्धांत अत्यन्त महत्वपूर्ण है एवं इस सिद्धांत का शैक्षिक उद्देश्यों हेतु निहितार्थ निम्नानुसार है।

1. सत् कारण से सत्कार्य की उत्पत्ति होती है इसकी समझ उत्पन्न करना।
2. कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता है इसकी समझ विकसित करना।
3. कार्य तथा कारण एक ही तत्व की बाहय तथा अन्तर दशायें हैं यह ज्ञान देना।
4. जो असद् है उससे सत् का निर्माण असम्भव है यह ज्ञान देना।
5. सभी से सब कुछ उत्पन्न नहीं होता इसका ज्ञान देना।
6. विकासवाद के सिद्धांत को स्पष्ट करना।
7. विश्व का अन्तिम कारण प्रकृति है इस तथ्य को समझाना।
8. किसी विशेष के लिये विशेष उपादान या सामग्री को ग्रहण करना पड़ता है इसका ज्ञान कराना।
9. जो स्वभाव कारण का होता है कार्य भी उसी स्वभाव वाला होता है इसका ज्ञान करना।
10. कार्य–कारण सिद्धांत का ज्ञान कराना।
11. सद्–कार्य करने की और प्रेरित करना।

7.1.1.9. कैवल्य

सांख्य के अनुसार सुख, दुःख सापेक्षिक शब्द है। दुःख के अभाव होने पर सुख की भी सत्ता सिद्ध नहीं होती। दुःखत्रय की आत्यन्तिकी निवृत्ति ही मोक्ष है।

जिसको पाने का मार्ग है – 'विवेक ख्याति' अर्थात 'विवेक ज्ञान'। 'व्यक्त','अव्यक्त' और 'ज्ञ' के तत्व ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति या कैवल्य संभव है। इससे संबंधित उद्‌देश्य इस प्रकार हैं –

1. दुःखत्रय का ज्ञान देना।
2. दुःखत्रय से मुक्ति का मार्ग बताना।
3. दुःख के कारणों का ज्ञान कराना।
4. विवेक – ज्ञान जागृत करना ।
5. पूर्णता की ओर ले जाना।

7.1.2 – सांख्य दर्शन में निहित विषयवस्तु

विषयवस्तु की दृष्टि से सांख्य दर्शन अत्यन्त विषद और समृद्ध है। इसके विचार और सिद्धांत जिज्ञासाओं को शांत करने का प्रमुख माध्यम है। यह अनेक गूढ़ और गंभीर प्रश्नों के उत्तर, तर्कपूर्ण एवं वैज्ञानिक तरीके से देने में सक्षम है। सांख्य दर्शन में निहित विषय वस्तु इस प्रकार है –

7.1.2.1. प्रकृति

1. सत, रज, तम – इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है।
2. यह संसार की समस्त वस्तुओं को उत्पन्न करती है, परंतु स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती है। प्रकृति जगत का मूल कारण अथवा अन्तिम कारण है। परन्तु स्वंय अकारण है। प्रकृति को प्रधान भी कहा जाता है क्योंकि यह विश्व का प्रथम कारण है।
3. यह इन्द्रियातीत हैं। अतः यह अव्यक्त भी कहलाती है।

- इसे माया भी कहते हैं क्योंकि यह विश्व की समस्त वस्तुओं को सीमित करती है।
- प्रकृति को जड़ कहा जाता है क्योंकि वह मूलतः भौतिक पदार्थ है। अचेतन है फिर भी सक्रिय है।
- प्रकृति को शक्ति कहा जाता है क्योंकि उसमें निरन्तर गति विद्यमान रहती है।

– जगत की वस्तुऐं यद्यपि भिन्न–भिन्न है परन्तु उनमें भी समानता दृष्टिगत होती है।

– प्रकृति नित्य है व्यापक है और स्वतंत्र है। प्रकृति अपने भीतर से समस्त वस्तुओं को उत्पन्न करती है और प्रलय दशा में फिर उसे उनके भीतर निविष्ट कर लेती है।

4. सत्व, रज और तम ये तीनों गुण जगत के प्रत्येक पदार्थ में सदा विद्यमान रहते हैं तीनों गुणों की अपनी–अपनी विशेषतायें हैं ये सतत परिणाम शाली होते हैं। ये समय परिवर्तन, परिणाम या विकार उत्पन्न करते रहते हैं। संसार में जो भेद पाये पाये हैं ये इन तीनों गुणों की भिन्न–भिन्न मात्रा के कारण हैं। हर मानव में तीनों गुण अलग–अलग मात्रा में उपस्थित होते हैं प्रायः एक दूसरे की पुष्टि करते हैं व एक दूसरे से मिले जुले रहते हैं। इन तीनों गुणों का परिचारिक संबंध उसी प्रकार का है जैसे दीपशिखा, तेल व दीपक की बाती का है।

7.1.2.2 पुरूष

संसार का कोई न कोई अधिष्ठाता होता है और वह है पुरूष जिसे कि दूसरे शब्दों में आत्मा कह सकते हैं।

1. अन्तिम सत्ता किसी ने किसी के पास होती है।
2. पुरूष स्वंय सिद्ध है तथा अभौतिक अर्थात् आध्यात्मिक है।
3. आत्मा का न जन्म होता है न मृत्यु होती है वह परिवर्तनशील है। वह त्रिगुणातीत होती है। वह सुःख–दुःख, पाप–पुण्य आदि से रहित है।
4. मोक्ष अथवा कैवल्य आत्मा का ही होता है।
5. पुरूष की संख्या अनेक हैं। जितने जीव हैं उतनी ही आत्मायें हैं।
6. इस संसार का कोई भोक्ता होना चाहिये वह भोक्ता पुरूष ही है। वह संसार चक्र का अधिष्ठाता है। समग्र संसार के प्राणियों की प्रकृति मोक्ष के लिये है। यह शास्त्र वचन है। अतः शास्त्र वचनों के अनुसार परम शांति तथा दुःखाति का अभाव जिसमें हो वह प्रकृति से भिन्न तत्व होना चाहिये, अर्थात् ऋषियों

की प्रवृत्ति और शास्त्र की प्रेरणा कैवल्य के लिये होने के कारण बुद्धि आदि तत्वों से पुरूष भिन्न हैं।

7.1.2.3 महत्

1. पुरूष तथा प्रकृति के संयोग से अविर्भाव आने वाला पहला पदार्थ है – महत् या महत्त तत्व। इसे बुद्धि भी कहा जाता है।
2. जगत् की उत्पत्ति का बीजरूप होने से बड़ा महत्व रखता है।
3. बुद्धि जड़ है। परन्तु पुरूष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब उसके ऊपर पड़ता है। जिससे चेतन के समान प्रतीत होती है।
4. बुद्धि का प्रमुख कार्य है – निश्चय (अव्यवसाय)। बुद्धि की सहायता से किसी विषय में निर्णय किया जाता है अन्य कामों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है – ज्ञाता और ज्ञेय में भेद स्पष्ट करती है। स्मृतियों का आधार बुद्धि है। बुद्धि का कार्य है किसी बात को ग्रहण करना, उसको समझना। उसके आधार तत्व या सिद्धांत को देख लेना ढूंढ लेना, और ज्ञान और अनुभव के आधार पर प्रत्येक समस्या के समाधान पर शीघ्र पहुंच जाना। इस सभी क्षमताओं का विकास मुख्यतः शक्तियों पर आधारित है जो जन्मजात प्रत्येक मानव को मिली हुई है। ये शक्तियां हैं – विश्लेषण – शक्ति, विवेक–शक्ति, स्मरण–शक्ति, इन शक्तियों के विकास के लिये साधना और अभ्यास करना होता है।
5. बुद्धि की सहायता से पुरूष अपने व प्रकृति के भेद को समझता है तथा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है।
6. बुद्धि में तत्व की प्रधानता अधिक होती है। बुद्धि में सत्वगुण की प्रबलता होती है तो ज्ञान, धर्म, वैराग्य जैसे गुणों का विकास होता है और जब तमोगुण की प्रधानता होती है तो अज्ञान, अधर्म व आसक्ति जैसे प्रतिकूल गुणों का प्रादुर्भाव होता है ।

7.1.2.4 अहंकार

1. प्रकृति का दूसरा विकार अहंकार है। अहंकार का कारण बुद्धि है।
2. किसी वस्तु के संबंध में, मैं या मेरा भाव रखना अहंकार है ।

– अहंकार के कारण ही मनुष्य में व्यक्तितत्व तथा स्वार्थ की भावना का विकास होता है।

- अहंकार के कारण पुरूष मिथ्या भ्रम में पड़ जाता है।

3. अहंकार त्रिगुणात्मक है – 1. वैकारिक अथवा सात्विक 2. भूतादि अथवा तामस 3. तेजस अथवा राजस। सात्विक अहंकार से मन, पांच ज्ञानेन्द्रियों व पांच कर्मेन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है। तामस अहंकार से पंच तन्मात्राओं का प्रादुर्भाव होता है।

4. पुरूष को जगत से जोड़ने वाली कड़ी है अहंकार – कर्मो की इच्छा व करने की प्रेरणा प्रदान करना अहंकार का ही कार्य है।

7.1.2.5 मन

मन एक मुख्य इन्द्रिय है। परन्तु उसका इन्द्रियत्व दोनों प्रकार का है। यह कर्मेन्द्रिय भी है और ज्ञानेन्द्रिय भी है। दूसरे शब्दों में मन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के संचालन में सहायता प्रदान करता है।

1. मन सूक्ष्म है, यद्यपि वह सावयव है। इसी कारण वह विभिन्न इन्द्रियों के साथ एक ही साथ एक ही समय संयुक्त हो सकता है।

2. मन का अपना रूप है – संकल्पनात्मक। संकल्प का अर्थ है सद् सम्यक कल्प–कल्पना करना। अर्थात् मन बतलाना है कि कोई सामान्य वस्तु सामान्य न होकर विशिष्ट होती है। मन में ज्ञान, इच्छा आदि संकल्प की अनुभूति एक ही क्षण में हो सकती है।

3. मन ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का अध्यक्ष है। व्यक्ति जो कुछ सुनता है, देखता है, खाता है, पीता है, सूंघता है इन सबका प्रभाव मन पर पड़ता है। जब मन अशुद्ध (विषयासक्त) होता है तो मानव सांसारिक बंधनों में बंधता है। मन ही शुद्ध (विषयाविरक्त) होकर मानव को मुक्त करता है।

4. शुद्ध मन में शिव संकल्प उठते हैं, जो आत्मा को अनन्त शक्ति धारण कराता है और मानव आत्मावान हो जाता है। यह श्रेष्ठस्थिति है। मन और इन्द्रिय आत्मा से दिव्य स्पर्श, दिव्य शब्द, दिव्य रूप, दिव्य रस और दिव्य गंध प्राप्त कर सकते हैं।

5. मन की स्वाभाविक गति जल की भांति नीचे जाने की है, जिसको रोकना ही इसका सदुपयोग है। मन को रोकने के लिये ध्यान आवश्यक है। मन अभ्यास तथा वैराग्य से शुद्ध होता है।

6. मन, बुद्धि के निर्णयों के पालन में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करता है।

7.1.2.6 ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां

1. सात्विक अहंकार से पांच ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों का विकास होता है।

2. पांच ज्ञानेन्द्रियां है – चक्षु, श्रवणेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय। इन पांच इन्द्रियों से क्रमशः रूप, शब्द, गंध, स्वाद और स्पर्श का ज्ञान होता है।

3. पांच कर्मेन्द्रियां हैं – मुख, हाथ, पैर, मलद्वार एवं जननेन्द्रिय। इनके कार्य क्रमशः बोलना, पकड़ना, ग्रहण करना, चलना, फिरना, मल बाहर करना, संतान उत्पन्न करना है।

4. ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान–प्राप्ति का प्राथमिक साधन हैं। ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से प्रदत्तों को एकत्र किया जाता है।

5. कर्मेन्द्रियां का सक्षम और क्रियाशील होना आवश्यक है। सही शारीरिक विकास आवश्यक है। आलस्य प्रमाद से दूर रहना आवश्यक है।

6. बालक का शरीर ज्ञानेन्द्रियों 'कर्मेन्द्रियों', तन्मात्राओं की बनी हुई संरचना है। जीवन में किसी भी कार्य को करने के पूर्व प्रथम आवश्यकता है – स्वस्थ्य शरीर। अतः स्वस्थ शरीर एवं सही शारीरिक विकास के लिये अन्य कुछ बातें का होना आवश्यक है उनमें से प्रमुख है –

(a) **भोजन** – शारीरिक स्वास्थ्य के लिये भोजन संतुलित एंव नियमित होना आवश्यक है।

(b) **स्वच्छता** – शारीरिक स्वच्छता, वस्त्र एवं स्थान आदि की स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये।

(c) **विश्राम** – शरीर को समुचित विश्राम करना चाहिये। विश्राम की अवधि, स्थान आदि के तरीके का ज्ञान कराया जाना चाहिये।

(d) **व्यायाम** – शरीर के विकास के लिये प्रतिदिन व्यायाम आवश्यक है – खेलकूद एवं योगासनों का अभ्यास इस दृष्टि से उपयोगी है।

(e) **सद्विचार एवं नियमितता** – इस तरह की अनेक आदतों एवं अच्छी भावनाओं का विकास छोटी आयु से ही कराया जाये।

7.1.2.7 पंचतन्मात्रा और पंचमहाभूत

1. तामस् अहंकार से तन्मात्राओं का विकास होता है। तन्मात्र बहुत ही सूक्ष्य होते हैं। योगी को ही उनका प्रत्यक्ष होता है साधारण जनों को नहीं। तन्मात्रायें पांच प्रकार की होती है – शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। इन्हीं तन्मात्राओं का अधिक विकास होने पर भूत या महाभूत का उदय होता है।

   (a) शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है। जिसका गुण–'शब्द' हैं।

   (b) शब्द तन्मात्रा + स्पर्श तन्मात्रा से वायु का विकास होता है। वायु का गुण शब्द तथा स्पर्श दोनों हैं।

   (c) शब्द तन्मात्रा+स्पर्श तन्मात्रा+रूप तन्मात्रा से तेज गुण का विकास होता है। अग्नि के गुण शब्द, स्पर्श तथा रूप तीनों हैं।

   (d) शब्द तन्मात्रा+स्पर्श तन्मात्रा + रूप तन्मात्रा + रस तन्मात्रा से जल का अविर्भाव होता है। जिसके गुण हैं – स्वाद, रूप, स्पर्श तथा शब्द।

   (e) शब्द तन्मात्रा + स्पर्श तन्मात्रा + रूप तन्मात्रा + रस तन्मात्रा से जल का अविर्भाव होता है। जिसके गुण हैं – स्वाद, रूप, स्पर्श तथा शब्द।

   (f) शब्द तन्मात्रा + स्पर्श तन्मात्रा + रूप तन्मात्रा + रस तन्मात्रा + गंध तन्मात्रा से पृथ्वी का विकास होता है। जिसके गुण हैं – गंध, स्वाद, रूप, स्पर्श और शब्द।

2. पंच 'तन्मात्रा' सूक्ष्म हैं जबकि पंच महाभूत स्थूल हैं।

3. तन्मात्राओं व महाभूतों का सदुपयोग – ज्ञानेन्द्रियों द्वारा इस प्रकार किया जा सकता है –

आकाश– कर्तव्य पालन, शुद्ध कर्मो में कानों और वाणी का उपयोग। सद्गुणों को कहना और सुनना, प्रिय वचन बोलना, विचार कर बोलना।

वायु – निमित्त कर्तव्य करना, शुद्ध कर्म करना, जैसे – सेवा करना, दान देना आदि।

अग्नि – कर्तव्य पालन व अन्य शुद्ध कर्म करना, जैसे – सेवा करना, दान देना आदि।

जल – स्वास्थ्य रक्षा के लिये दोष रहित और गुणकारी भोजन पाना। शरीर से दूषित तत्वों का विसर्जन।

पृथ्वी – गंध, धूप और इत्र का सेवन।

7.1.2.8 सत्कार्यवाद

कार्य तथा कारण का अटूट संबंध है। क्योंकि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति कारण से ही संभव है। अतः कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य रहता है। सत् कारण से ही सत् कार्य की उत्पत्ति होती है। कार्य अपने कारण में पहले से ही अव्यक्त अवस्था में रहता है। जो व्यक्त होने पर कारण से भिन्न प्रतीत होने लगता है। वास्तव में कारण और कार्य में कोई अन्तर नहीं हैं कारण का परिणाम ही कार्य हैं। अतः वह सकते हैं कार्य और कारण एक तत्व की ब्राह्म और अन्तरदशायें हैं। किसी भी वस्तु की न तो उत्पत्ति होती है और न विनाशकर्ता के व्यवहार से वस्तु का अभिर्भाव मात्र होता है – अव्यक्त वस्तु व्यक्त रूप में प्रकट हो जाती है।

7.1.2.9. – कैवल्य

1. दुःख तीन प्रकार के होते हैं – आध्यात्मिक, अधिभौतिक एंव आधिदैविक। शरीर से संबंद्ध दुःख आध्यात्मिक कहलाते हैं जैसे – आधि (मानसिक चिंता, उद्वेग, क्रोध आदि) तथा व्याधि (जैसे – शारीरिक रोग, और आघात आदि)। आधिभौतिक दुःख बाहरी पदार्थो के कारण उत्पन्न होने हैं जैसे – सांप काटना आदि। आधिदैविक दुःख किसी ब्राह्म वाधा (जैसे भूत–प्रेत आदि) के कारण उत्पन्न क्लेशों का नाम है।

2. दुःख का कारण है अज्ञान। संसार की वस्तुओं के यथार्थ रूप को न जानने के कारण दुःख उत्पन्न होता है। और ज्यों–ज्यों हम उसके रूप को जानने लगते हैं त्यों–त्यों हमारे दुःख की निवृत्ति होती जाती है। दो मूल तत्व हैं – प्रकृति तथा पुरूष। पुरूष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है जो देश, काल और कारणों के बंधन से रहित होता है वह दृष्टा मार्ग है। गुण व क्रिया का संबंध प्रकृति में है। सुख तथा दुख वास्तव में बुद्धि या मन के होते हैं। परन्तु अज्ञान के कारण पुरूष बुद्धि या मन से पृथक नहीं समझता, व्यवहार जगत में पुरूष अपने को प्रकृति से भिन्न नहीं मानता है तथा उसके दुःखों से अपने को

दुःखी मानता है। इन आरोपों का जब अन्त होता है तभी पुरूष, दुःखों से अपने को दुःखी मानता है। इन आरोपों का जब अन्त होता है तभी पुरूष, दुःखों से मुक्ति पाता है।

3. इन दुःखों से मुक्ति पाने का नाम है – विवेक ख्याति अर्थात् विवेक ज्ञान, प्रकृति से पुरूष को अलग समझने का ज्ञान। दुःख से मोक्ष पाने का यही मार्ग है। तत्वाभ्यास के परिणाम से पुरूष में कैवल्य ज्ञान का उदय होता है। ऐसा ज्ञान प्रत्येक मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

4. मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है – जीवमुक्ति तथा विदेहमुक्ति। विवेक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य इसी जन्म में जिस मुक्ति का अनुभव करता है उसे जीवमुक्ति कहते हैं। जीवन मुक्त व्यक्ति कर्म व्यापार से विरत नहीं होता है वह प्रारब्ध कर्मों का सम्पादन करता रहता है। शरीर का नाश हो जाने पर पुरूष एकांतिक (आवश्यम्भावी) तथा आत्यन्तिक (अविनाशी) दुःख त्रय के विनाश को प्राप्त कर लेता है यह विदेहमुक्ति है।

7.1.3 शिक्षण विधियाँ

शिक्षण की प्रक्रिया में तीन कारक निहित रहते हैं – प्रथम – बालक जो इस प्रक्रिया का आधार बिंदु है। द्वितीय विषयवस्तु जो उसे सीखनी है और तृतीय – शिक्षण जो सीखने में सहायता प्रदान करता है। शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि व्यवस्थित शिक्षाक्रम तथा मनोवैज्ञानिक शिक्षण–सिद्धांतों पर आधारित उपयुक्त शिक्षण–पद्धति अपनाई जाये। यदि पद्धति उपयुक्त नहीं है तो समस्त सिद्धांत एवं आदर्श कोरे सिद्धांत और आदर्श बने रहे जाते हैं। अतः यह आवश्यक है कि सांख्य के शैक्षिक सिद्धांतों, आदर्शो एवं शैक्षिक उद्देश्यों को साकार रूप देने वाली शिक्षण पद्धति अपनाये। शिक्षण–विधि, पाठ्यवस्तु की प्रकृति विद्यार्थी के स्तर पर निर्भर है। अतएवं सांख्य दर्शन की पाठ्यवस्तु हेतु निहितार्थो के लिये कौन सी शिक्षण पद्धतियाँ अपनाई जाये इस संबंध में आगामी पंक्तियों में विचार किया जायेगा।

सर्वप्रथम सांख्य दर्शन द्वारा जो तीन प्रमाण (ज्ञान जानने के तरीके) बताये हैं उन पर चर्चा की है तदुपरान्त बिन्दुवार विषय वस्तु के अनुरूप शिक्षण विधियों पर विचार किया गया है। चूंकि प्रकृति, बुद्धि, मन; पंचतन्मात्रायें एवं पंचज्ञानेन्द्रियों आदि

की विषय वस्तु भिन्न–भिन्न है। अतः स्वाभाविक है कि शिक्षण के तरीके भी भिन्न होंगें अतः किस विषय वस्तु के अध्यापन के लिये कौन सी विधि उपयुक्त होगी इसे दृष्टिगत रखते हुये ही शिक्षण विधियों के संबंध में विचार किया गया है। सांख्य मत के अनुसार ज्ञान को प्राप्त करने में तीन तत्वों का प्रयोग होता है–

प्रथम – **प्रमाता** अर्थात् ज्ञाता को आत्मा अथवा पुरूष है तथा चैतन्य स्वरूप है।

द्वितीय – **प्रमेय** अर्थात् ज्ञेय विषय।

तृतीय – **प्रमाण** अर्थात् वह विधि जिसके द्वारा महत् का रूपांतरण होता है तथा प्रमाता, प्रेमय का जानता है।

सांख्य में तीन प्रकार के प्रमाणों अथवा ज्ञान प्राप्त करने की विधियों का उल्लेख किया गया है।

प्रथम – प्रत्यक्ष विधि

द्वितीय – अनुमान विधि तथा

तृतीय – शब्द विधि

ज्ञान प्राप्ति की प्रत्यक्ष विधि –

विषयों के प्रति इन्द्रियों के संपर्क से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान प्राप्ति कहा जाता है। प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान यथार्थ तथा साक्षात् होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिया, मन, बुद्धि तथा आत्मा चारों क्रियाशील रहते हैं यह पूर्वानुमानों पर आधारित नहीं होता, किसी वस्तु का साक्षात्कार होने पर ही उसका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों संबंधी समस्त ज्ञान प्रत्यक्ष विधि द्वारा दिया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप जो ज्ञान भाषा के आधार पर प्राप्त किया जाता है उसके लिये जिन संज्ञाओं, क्रियाओं विशेषणों आदि का प्रयोग किया जाता है वे सब आरंभ में प्रत्यक्ष विधि द्वारा निर्मित होते हैं।

वस्तु का ज्ञान इन्द्रिय संपर्क से होता है और उसका किसी शब्द के साथ तादात्म्य स्थापित कर दिया जाता है। इस प्रकार भाषा का विकास होता चलता है। जब पर्याप्त शब्द भण्डार प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा हो जाता है तो उसके बाद नये शब्दों का ग्रहण तथा निर्माण भी पूर्व ज्ञान के आधार पर हो सकता हैं हाथ, पैर, आंख, नाक, त्वचा आदि समस्त इन्द्रिय ज्ञान एवं इनसे जुड़े हुये अन्य ज्ञान प्रत्यक्ष विधि द्वारा ही दिये जा सकते हैं। इन अंगों का उचित विकास एवं किसी विशेष लक्ष्य हेतु प्रशिक्षण प्रत्यक्ष विधि द्वारा ही दिया जाना संभव है। उदाहरण स्वरूप शारीरिक

संरचना की जानकारी इसी विधि द्वारा दी जाती है।

सृष्टि के विकास क्रम का ज्ञान प्रत्यक्ष विधि द्वारा दिया जा सकता है। सृष्टि विकास क्रम के फलस्वरूप अनेक भौतिक पदार्थ अस्तित्व में आये हैं, इन सबका ज्ञान प्रत्यक्ष विधि द्वारा दिया जा सकता है। प्रकृति एवं इसकी गोद में फैली हुई अन्य वस्तुएं जैसे – नदी, पर्वत, वृक्ष, खनिज पदार्थ, सागर और फल, फूल आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष विधि द्वारा दिया जा सकता है। विशाल सृष्टि का अध्ययन करने हेतु शिक्षा शास्त्रियों ने अनेक विषयों में उसका विभाजन किया है जैसे – सामाजिक अध्ययन, विज्ञान, गणित भूगोल और इतिहास आदि। इन सब विषयों की विषय सामग्री प्रत्यक्ष ज्ञान विधि द्वारा दी जा सकती है। उदाहरण स्वरूप – सौर मण्डल के सूर्य, चन्द्र गृह, तारा मण्डल प्रत्यक्ष ज्ञान विधि द्वारा दी जा सकती है। उदाहरण स्वरूप – सौर मण्डल के सूर्य, चन्द्र ग्रह, तारा मण्डल आदि का ज्ञान प्रत्यक्ष विधि द्वारा दिया जा सकता है। इसी प्रकार इतिहास की घटनाओं की जानकारी में प्रत्यक्ष विधि उपयोगी है। इसी प्रकार प्रशासन संसद, चिकित्सालय, संचार व्यवस्था, यातायात व्यवस्था आदि का ज्ञान देने में यही विधि उपयोगी है। विज्ञान के विभिन्न प्रयोग इसी विधि द्वारा करवाये जाते हैं। प्रकृति – विज्ञान, भौतिक विज्ञान, जीवन विज्ञान, रसायन विज्ञान, चिकित्साशास्त्र आदि का ज्ञान प्रदान करने में यह विधि अत्यन्त उपयोगी है। कला उद्योग आदि विषय सर्वथा प्रत्यक्ष ज्ञान है और इनके लिये प्रत्यक्ष विधि का प्रयोग करना ही उचित है।

वर्तमान शिक्षा प्रक्रिया में यह मांग की जाती रही है कि विषय वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप में दिया जाना चाहिये। प्रायोगिक–कार्य अधिक करवाये जाने चाहिये इत्यादि। इन दोषों को दूर करने में यह विधि उपयुक्त है। खास तौर से छोटे बच्चों के शिक्षण में जबकि उनका परिचय पर्यावरण से कराया जाता है। तो इसी विधि का प्रयोग किया जाना उपयुक्त है। पंचभूतों का ज्ञान इसी विधि द्वारा दिया जा सकता है। शारीरिक अंगों के विकास में यही विधि उपयोगी है। शिक्षा के नैतिक व चारित्रिक विकास के उद्देश्य की पूर्ति भी इस विधि द्वारा की जा सकती है। शारीरिक शिक्षा एवं योग की शिक्षा में तो यह विधि अत्यन्त सफल है। इसलिये

ज्ञान प्राप्ति की अनुमान विधि –

प्रत्यक्ष के धरातल से ही अनुमान का प्रयोग किया जाता है। अनुमान वह विधि है, जिसमें ज्ञात विषय के आधार पर किसी अज्ञात विषय का किसी हेतु के

माध्यम द्वारा अनुमान लगाया जाता हैं। अनुमान शब्द का समास विग्रह अनु+मान होगा, अर्थात् जो ज्ञान के पश्चात् आए। अतः अनुमान उस ज्ञान को कहते हैं जो पूर्ण ज्ञान के पश्चात् आता है, उदाहरणार्थ "वहां पशु चर रहे हैं, अतः वहां घास होनी चाहिये।" इस उदाहरण में पशु का घास के मैदान में चरना पूर्वानुभूत है। परन्तु इस समय केवल पशुओं को देखा गया है और इसके आधार पर घास का मैदान होना अनुमानित कर लिया है। सृष्टि का बहुत–सा ज्ञान जैसे मौसम विज्ञान की जानकारियाँ अनुमान के आधार पर ही दी जाती हैं। वैज्ञानिक व विषयों का अध्ययन व नवीनतम प्रयोग का आधार अनुमान विधि हो सकती है। भाषा का ज्ञान कराने में जैसे संदर्भ व अर्थ निगमित करना नवीन शब्दों का ज्ञान प्रदान करना, कला के भाव को समझना, लाक्षणिक अर्थों की प्रतीति करना, व्याकरण ज्ञान आदि कार्य इस विधि द्वारा सम्पन्न होते हैं।

गणित पढ़ाने के सबसे अधिक प्रचलित विधि जिसे संश्लेषण–विश्लेषण विधि कहा जाता है इसी अनुमान विधि का दूसरा रूप है। 'प्रमेय' समझने में इसी विधि का प्रयोग होता है। सामाजिक विषयों के अध्यापन में यह विधि प्रयुक्त होती रही है। कार्य–कारण सिद्धांत की जानकारी प्रदान करने में इस विधि का उपयोग किया जा सकता है। सांख्या की इसी विधि पर आधारित अनेक आधुनिक विधियों का विकास हुआ है जैसे – हर्बर्ट की पंचपदी, वैज्ञानिक विधि के पंच सोपान आदि।

ज्ञान प्राप्ति की शब्द विधि –

जिस विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुमान द्वारा प्राप्त करना संभव नहीं है, उसके लिये शब्द–प्रमाण का सहारा लेना पड़ता है। दूसरे शब्दों में मौखिक तथा लिखित वाणी शब्द–प्रमाण के अन्तर्गत आती है। जो किसी आप्त पुरूष द्वारा प्रयुक्त होती है। सांख्य दर्शन के सभी तत्वों का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा देना असंभव है अतः अनेक गूढ़ एंव गंभीर विषयों के ज्ञान हेतु शब्द–प्रमाण विधि उपयुक्त है। उदाहरणार्थ – प्रकृति व पुरूष तत्व की जो विवेचना की गई है उसके ज्ञान में यह विधि सहायक होगी। इसी तरह से प्रकृति के अनेक रहस्यों के उत्तर इसी विधि द्वारा ही दिये जा सकते हैं। प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है, सृष्टि क्रम प्रकृति और पुरूष का संयोग है, 'पच्चीस तत्वों के नाम एवं वर्गीकरण, प्रमाण की जानकारी, द्वैतवाद की जानकारी, अनेकांतवाद का ज्ञान, सूक्ष्म एंव स्थूल शरीर की अवधारणा, मोक्ष प्राप्ति के तरीके का ज्ञान इस विधि द्वारा ही दिया जाना संभव है।

आज शिक्षा शास्त्री भी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि समस्त ज्ञान प्रत्यक्षानुभव द्वारा दिया जाना संभव नहीं हैं। अतः उपलब्धियों एवं संचित ज्ञान के अध्यापन की एक मात्र सरलतम विधि शब्द विधि है। प्रश्नोत्तर चर्चा, विचार, व्याख्या, पुस्तक अध्ययन, कक्षा अध्यापन आदि विधियां शब्द विधि के अन्तर्गत आती है। संवाद विधि का प्रयोग इस विधि के अन्तर्गत आता है। वर्तमान शिक्षा–प्रणाली का दोष यह है कि इसमें ज्यादातर शाब्दिक विधि का प्रयोग किया जाता है तथा प्रत्यक्ष एवं अनुमान विधियों की उपेक्षा की जाती है। चूंकि सांख्य दर्शन आधारित शिक्षा व्यवस्था में सांख्य की शिक्षण विधियों की प्रमुखता होगी अतः बालक प्रत्यक्ष व अनुमान विधि का प्रयोग कर वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। ये शिक्षण विधियां करके सीखने पर स्वयं सीखने पर बल देती है एवं शिक्षार्थी को जिज्ञासु बनाती है। सर्जनात्मक क्षमताओं को बढ़ाने में ये शिक्षण विधियां उपयुक्त हैं। सरल से सरल व गूढ़ से गूढ़ विषयों का ज्ञान इन विधियों द्वारा दिया जा सकता है।

7.1.3.1 प्रकृति

'प्रकृति' सांख्य दर्शन का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व हैं। इस तत्व का ज्ञान देने में शिक्षार्थी का स्तर एवं उम्र महत्वपूर्ण स्थान रखती है अतः इस तत्व के लिये शिक्षण विधियों हेतु निहितार्थ निम्नलिखित हो सकते हैं। 'प्रकृति' का महत्व स्पष्ट करने के लिये चर्चा, उदाहरण एवं स्वध्याय विधि का सहारा लिया जा सकता है। प्रकृति के गुण एवं विशेषताओं की जानकारी देने के लिये चर्चा, दृष्टान्त एंव व्याख्यान विधि का प्रयोग करना होगा। 'प्रकृति विश्व का मूल कारण है परन्तु स्वयं कारण हीन है। यह तथ्य चर्चा द्वारा ही समझा जा सकता है। प्रकृति अदृश्य है, प्रकृति अव्यक्त है, प्रकृति अचेतन है आदि तथ्यों को भी इसी विधि द्वारा ही समझा जा सकता है।

प्रकृति के विभिन्न नामों के बारे में जानकारी प्रश्नोत्तर एवं तर्क–वितर्क विधि द्वारा दी जा सकती है। संसार की समस्त वस्तुओं का कारण प्रकृति है अतः इसका ज्ञान देने के लिये विषय के अनुसार शिक्षण विधि का चुनाव करना पड़ेगा। उदाहणार्थ – सामाजिक विज्ञान विषय के लिये कथन, प्रश्नोत्तर व्याख्यन विधि की मदद ली जा सकती है। विज्ञान विषयों के लिये प्रयोगशाला विधि उपयुक्त हो सकती है। भाषा संबंधी विषयों के लिये सुनो और बोलो विधि हो सकती है। गणित के लिये विश्लेषण संश्लेषण विधि हो सकती है। प्रकृति विज्ञान के लिये प्रत्यक्ष विधि

एवं भ्रमण विधि उपयुक्त है।

छोटे बच्चों को छूकर देखकर, चखकर आदि का प्रयोग करते हुए विषयवस्तु का ज्ञान दिया जा सकता है। संसार का ऋणि कैसे हैं ? यह स्पष्ट करने के लिये उदाहरण एवं प्रयोग द्वारा स्पष्ट किया सकता है। उत्तरदायित्व एवं स्वावलंबन का भाव पैदा करने के लिये कहानी विधि का प्रयोग किया जा सकता है। त्रिगुणात्मक रूप को स्पष्ट करने के लिये एवं सत्व, रज एंव तम गुणों को स्पष्ट करने के लिये उदाहरण स्वाध्याय एवं व्याख्यान का सहारा लिया जा सकता है।

7.1.3.2. पुरूष तत्व

संसार की अन्तिम सत्ता कौन सी है ? मृत्यु के पश्चात् क्या होता है? आदि जिज्ञासाऐं स्वाभाविक हैं। इन जिज्ञासाओं को शांत करने के लिए जिस शिक्षण विधि का प्रयोग किया जा सकता है, वह है– शाब्दिक विधि, कथन, व्याख्यान एवं शास्त्रार्थ विधि (वर्तमान में जिसे सेमिनार विधि कहा जाता है) आदि। जब 'मोक्ष' के संबंध में चर्चा की जाती है तो पुनः प्रश्न खड़े हो उठते हैं – मोक्ष क्या है? किसे कहते हैं ? कैसे प्राप्त होता है? इसका समाधान स्वाध्याय विधि से किया जाता है।

7.1.3.3 महत् तत्व

महत् तत्व का अर्थ एवं महत्व स्पष्ट करने हेतु अनेक प्रकार की शिक्षण विधि यों का प्रयोग किया जा सकता है। विश्लेषण एवं संश्लेषणात्मक विधि का प्रयोग करते हुये बुद्धि के कार्य बताये जा सकते हैं। उदाहरण एवं तर्क विधि का सहारा लेकर मस्तिष्क की शक्ति से परिचित कराया जा सकता हे। बौद्धिक क्षमता के विकास के लिये दोहराव विधि का प्रयोग किया जाना उपयुक्त है बुद्धितत्व के लिये प्रश्नोत्तर विधि का प्रयोग किया जा सकता है। बार–बार प्रश्न के उत्तर देने में शिक्षक के संकोच नहीं करना चाहिये न ही नाराज होना चाहिये। सुनकर समझना, पढ़कर समझना, चिंतन द्वारा समझना, अनुभव से समझना आदि तरीकों का प्रयोग करते हुये मस्तिष्क एवं बुद्धि का विकास किया जा सकता है। शिक्षण विधि ऐसी हो कि शिक्षार्थी की रूचि एवं उत्साह को बढ़ाये।

इस तत्व के विकास के लिये आवश्यक है एवं शिक्षार्थी को अनुसंधान एवं शोध की ओर प्रवृत्त करना। अतः गतिविधि आधारित शिक्षण विधियों का प्रयोग

किया जा सकता है। अतः जोड़ी जमाना वर्गीकरण करना, सारणी बनवाना, भेद करना, परिणाम निकालना आदि तरीकों का प्रयोग किया जा सकता है। अनेक प्रकार के टेस्ट आयटम तैयार करके बुद्धि का परीक्षण किया जा सकता है। निदानात्मक परीक्षण एवं उपचारात्मक शिक्षण की इस संबंध में प्रमुख भूमिका होगी। उपलब्धियों के परीक्षण पर उचित मार्गदर्शन दिया जा सकता है। आईक्यू परीक्षण एवं उसके आधार पर शिक्षण कार्य किया जाना उचित है।

7.1.3.4 अहंकार

अहंकार की प्रवृत्ति का नाश करने एवं सद्वृत्तियों के विकास के लिये ऐसी शिक्षण विधियों को अपनाना उपर्युक्त होगा जिससे कि शिक्षार्थी सद् प्रवृत्तियों की ओर प्रेरित हो। इस हेतु निश्चित–दिनचर्या बनाना आवश्यक है। दिनचर्या का प्रमुख अंग पूजा, ध्यान, अर्चन, प्रार्थना भी होना चाहिये। उचित दृष्टान्त के द्वारा सद्वृत्तियों का विकास किया जा सकता है। छोटी उम्र के शिक्षार्थियों के लिये कहानी विधि उपयुक्त है। महापुरूषों एवं संतों के संस्मरण एवं कहानियों द्वारा अहंकार का नाश करने का संदेश दिया जा सकता है। आलोचना के स्थान पर प्रोत्साहन दिया जाना ज्यादा उचित है। समय–समय पर शिक्षार्थियों की प्रशंसा किया जाना आवश्यक है इससे बालक सद्कार्य करने की ओर प्रोत्साहित होगा। शिक्षक को शिक्षार्थियों से दूरियां समाप्त कर स्नेह व प्रेम पूर्वक व्यवहार करना चाहिये तथा स्नेह व शांतिपूर्ण तरीके से शिक्षार्थी को सद्कार्य करने की ओर प्रेरित किया जा सकता है। बच्चा अनुकरण द्वारा बहुत कुछ सीखता है। उनके समक्ष आदर्शवादी व्यवहार प्रस्तुत किया जाना चाहिये। 'बालक' पर शिक्षक के कर्म, वचन और विचारों के संस्कार बनाने पड़ते हैं, उसके सहपाठियों के कर्म, विचार और वचन वातावरण बनाने हैं। अतः विद्यालय के वातावरण से यह प्रमाणित होता है कि विद्यालय का अच्छा वातावरण एंव अच्छे संस्कार शिक्षार्थी के अच्छा बनने में सहायक होंगे। सामूहिक शपथ ग्रहण समारोह विभिन्न विचार व भाव पैदा करने में सहायक हैं।

7.1.3.5 मन

मन ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का नियंत्रक एवं संवाहक है अतः मन की विशेषता व कार्य की जानकारी देते हुए उचित भावात्मक विकास आवश्यक है। अतः ऐसी शिक्षण विधियां अपनाने की आवश्कयता है जो कि बालक के मनोभावों का सही

तरीके से विकार करें। कहानी विधि एवं अभिनय विधि द्वारा मनोभावों को प्रभावित एवं विकसित किया जा सकता है। शिक्षक का व्यक्तित्व, उसकी वाणी एवं विचार बालक को प्रभावित करते हैं अतः शिक्षक स्वयं अच्छे व्यक्तित्व का स्वामी बनकर शिक्षार्थियों को प्रेरित करें। बालक की अनुसरण करने की प्रवृत्ति का लाभ लिया जा सकता है। 'श्रवण' मनन चिंतन की प्रवृत्ति विकसित की जाय। सद् वाक्य एवं सत्‌विचार बालक का मार्ग प्रशस्त करेंगे। महापुरूषों की जयन्तियां एवं पुण्यतिथि मनाना आवश्यक है।

विभिन्न प्रकार की साहित्यिक प्रतिस्पर्धाएं आयोजित की जायें। जैसे – वाद विवाद प्रतियोगिता, निबंध प्रतियोगिता, भाषण प्रतियोगिता एवं तत्कालीन भाषण प्रतियोगिता आदि। इसमे शिक्षार्थी को भाग लेने हेतु प्रोत्साहित किया जाये। सद्कार्य करने हेतु बढ़ावा देना चाहिये। प्रशंसा करना भी आवश्यक है। इससे बालक के व्यक्तित्व का उचित विकास होगा। पुस्तकालय विधि का प्रयोग करते हुए प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करने हेतु प्रोत्साहित किया जाये। उनकी विवेचना करना, तुलना करना एवं सह संबंध बताने को प्रोत्साहित किया जाये ताकि तर्क, चिन्तन व निर्णय क्षमता का विकास हो। सामूहिक प्रार्थना, देश भक्ति के गीत, भजन, दोहे आदि का सस्वर वाचन, तरीके अपनाकर उचित मनोभावों का विकास किया जा सकता है। आसन, प्राणायाम आदि तरीके मन को नियंत्रित करेंगे। सामुहिक पी.टी. और विभिन्न योगाभ्यास भी करवाये जा सकते हैं।

7.1.3.6 ज्ञानेन्द्रिया एवं कर्मेन्द्रियां

इसके सही विकास के लिये विभिनन प्रकार की गतिविधियां करवाई जाना आवश्यक है अतः शिक्षक कथन विधि, दृष्टान्त विधि, प्रश्नोत्तर विधि आदि का प्रयोग करते हुये शारीरिक अंगों की जानकारी दी जा सकती है। शारीरिक स्वच्छता एवं रोगों एवं बीमारियों का ज्ञान, स्वच्छता एवं बीमारियों के बीच संबंध स्थापित करने के लिये व्याख्यान विधि, चर्चा विधि आदि का सहारा लिया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के क्रियाकलाप किये जाना आवश्यक है उदाहरण स्वरूप –

– सामूहिक एवं व्यक्तिगत व्यायाम करवाना।

– विभिन्न प्रकार के आसनों में अवगत कराना।

– हस्त कौशल संबंधी कार्य करना जैसे मिटटी का सामान बनाना, कागज से सामग्री निर्मित करना, बांस के उपयोग बताना आदि।

- 'चित्रकला' / स्वतंत्र चित्रण को प्रोत्साहन देना।
- वर्तमान समय में प्रचलित स्काउट गाइड जैसे गतिविधियां करवाना।
- विभिन्न प्रकार के खेल खिलाना। खेल कक्षा के अन्दर खेले जाने वाले भी हो सकते हैं। खेल साधन सहित भी हो सकते हैं और साधन रहित भी हो सकते हैं।
- रेंगना, फिसलना, चलना, दौड़ना, कूदना, सरकना, फूंकना उछलना, घूमना, रोकना आदि शारीरिक क्रियायें व अभ्यास कराये जा सकते हैं।
- तैरना, नाव खेना आदि गतिविधियां करवाना।
- नृत्य, अभिनय, संगीत आदि क्रियाकलाप कराना।

इस प्रकार इन सब गतिविधियों के द्वारा बालक के अंग प्रत्यंगों का पूर्ण विकास होगा तथा बालक इन्द्रियों का समुचित व सही प्रयोग करने में सक्षम होगा। प्रत्यक्ष विधि का प्रयोग भी किया जाना उचित होगा।

7.1.3.7 पंचतन्मात्रा एवं पंचमहाभूत

इनका ज्ञान प्रदान करने के लिये जिन विधियों का प्रयोग किया जा सकता है ये हैं – भ्रमण विधि, प्रेक्षण विधि एंव निरीक्षण विधि आदि। तन्मात्रायें चूंकि सूक्ष्म हैं अतः उनका ज्ञान दृष्टान्तों की शाब्दिक विधियों का ही प्रयोग करके दिया जा सकता है परन्तु पंच महाभूत स्थूल है अतः इनका ज्ञान प्रत्यक्षतः दिया जा सकता है। अतः प्रत्यक्ष विधि का प्रयोग करना उचित है। छूकर, चखकर, सूंघकर इनके विषय में जानकारी प्राप्त करने को कहा जाय। जल, पृथ्वी, अग्नि आदि का ज्ञान एवं उनके उपयोग बताने हेतु दृष्टान्त विधि का प्रयोग करना होगा। 'वायु' तत्व बताने में अनुमान विधि का प्रयोग किया जा सकता है। पंच महाभूत स्पष्ट करने के लिये प्रयोग विधि, करके देखना आदि विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। सूक्ष्य निरीक्षण, अवलोकन आदि विधियों द्वारा बहुत से तथ्य स्पष्ट किये जा सकते हैं। वर्णन करना, परिभाषित करना, पहचानना आदि तरीकों द्वारा भी ज्ञान दिया जा सकता है।

7.1.3.8 सत्कार्यवाद

कार्य–कारण सिद्धांत का ज्ञान कराने में दो प्रमुख विधियां हैं – एक तो सूक्ष्म अवलोकन एवं दूसरा प्रयोग द्वारा सिद्ध करना। सत्कार्यवाद सिद्ध करने के लिये

दृष्टांत एवं आप्त वचनों का सहारा लिया जा सकता है। खोजने, अनुसंधान करने, शोध करने आदि विधियों का प्रयोग किया जा सकता है। योजना विधि का भी प्रयोग किया जा सकता है।

7.1.3.9 कैवल्य

भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार मानव की मूल प्रकृति आध्यात्मिक हैं।[1] इस आध्यात्मिक प्रकृति के कारण मनुष्य ने विज्ञान, साहित्य, संस्कृति, कला, सदाचार एवं धर्म के रूप में अपने को अभिव्यक्त किया हैं। अध्यात्म का संबंध आत्मा से है। इसे मुक्ति दिलाना शिक्षा का एक उद्देश्य भी है। यही कैवल्य या मोक्ष हैं यहां तक पहुचने के लिये निम्नलिखित शिक्षण विधियां उपयोगी हो सकती हैं –

परमतत्व के प्रति आस्था एवं भक्तिभाव पैदा करना इसमें प्रार्थना, पूजा आदि तरीके सहयोग देंगें। मौन, ध्यान, भजन, संगीत आदि से भी बालक अंतर्मुखी होता है। धर्माचरण, दूसरों के प्रति सेवा भाव, उच्च नैतिक एवं चारित्रिक गुणों का विकास आवश्यक है। प्रेम, करूणा, निर्भयता, स्वतंत्रता, प्रसन्नता एंव विनयशीलता आदि भाव जगाना भी आवश्यक है। इसे विकसित करने के लिए कविता, कहानी, आप्त वचन आदि का प्रयोग किया जा सकता है। अष्टांग योग के आठो अंगों का प्रयोग करते हुए इस अवस्था तक बालक को पहुंचाया जा सकता है।

7.1.4 मूल्यांकन

सांख्य दर्शन पर आधारित शिक्षा प्राप्त करने उपरान्त शिक्षार्थी में कौन–कौन सी योग्यताओं क्षमताओं एवं दक्षताओं का विकास होगा यह आगामी पंक्तियों में बताने का प्रयास किया गया है। शिक्षार्थी में कौन–कौन से गुण एवं कौशल होंगें ? वह क्या–क्या जानेगा किन–किन बातों का ज्ञान होगा यह बताया गया है। शिक्षार्थी का ज्ञानात्मक पक्ष भावात्मक पक्ष एंव कौशलात्मक पक्ष कौन–कौन सी विशेषताओं से युक्त होगा यह बताया गया है। इसके साथ ही मूल्यांकन के अर्न्तगत लिखी गई सामग्री यह मापदण्ड है जिसके आधार पर यह जांचा जा सकता है कि शिक्षार्थी तदनुरूप है या नही? उसमे निर्धारित योग्यतायें कुशलतायें एवं गुणादि हैं या नही ? यदि है तो किस सीमा तक हैं ? कितने हैं ? जो नहीं हैं वह कौन–कौन से हैं ? आदि।

सांख्य दर्शन पर आधारित शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् निम्नलिखित योग्यतायओं एवं गुण विकसित होगें। यही मूल्यांकन के बिंदु भी हैं –

1. सृष्टि का जन्म एवं विकास तथा मनुष्य के जन्म एवं विकास की स्थितियां समरूप हैं यह जानता है। प्रत्येक मनुष्य अपने आप में सृष्टि है तथा सृष्टि विकास की सभी स्थितियों से अपने जीवन काल में भी गुजरता है इस तथ्य से परिचित है।
2. मेरा स्वतंत्र अस्तित्व है और मेरी आत्मा पृथक है वह अनुपम और गरिमायम है, उसमें स्वतंत्र संकल्प शक्ति है। अपनी सृष्टि का निर्माण तथा निगमन करने के लिये वह सवतंत्र है यह जानता है। वैयाक्तिक – विभिन्नता को स्वीकारता है तदनुरूप विकास की ओर अग्रसर होता हैं।
3. अविवेक या अज्ञान ही समस्त दुःखों का मूल कारण है, दुःखों से छुटकारा पाने के लिये मुझे ज्ञान प्राप्त करना होगा यह समझता है।
4. संसार सौद्देश्य बना है। उद्देश्ययुक्त जीवन की ही सार्थकता है यह समझता है।
5. विकार सहित प्रवृत्ति और पुरूष तत्व का ज्ञान है। जन्म जीवन तथा मृत्यु इन तीनों स्थितियों में ज्ञान पूर्वक जीने का प्रयास करता है।
6. प्रकृति, पुरूष, महदादि इन पच्चीस तत्वों का यथार्थ ज्ञान है।
7. कार्य –कारण सिद्धांत से परिचित है।

7.1.4.1 पुरूष

1. संसार का रचियिता कौन है ? इसे जानता है।
2. आंतरिक शक्तियों को विकसित करने का प्रयास करता है।
3. मैं पंच तत्वों से निर्मित स्थूल देह इन्द्रिय, अहंकार बुद्धियुक्त प्राणीमात्र ही नहीं हूँ वरन् मुझमें चैतन्य का वास है। आत्मा का निवास है इसे जानता है। मुझमें असीम शक्यता है और इस विश्वास से वह उच्चतम शक्यताओं को प्राप्त करने के लिये प्रतिबद्ध है।

4. इस तथ्य से अवगत हो कि वह भौतिक सत्ता मात्र नहीं है वरन् मूल सत्ता है जो अनाशवान है।

5. सुख बाधा उत्पादन में नहीं है वह तो आंतरिक है और उसे आत्मज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

6. अनुभव करता है कि आत्मा, शरीर, इन्द्रिय मन और बुद्धि से भिन्न है।

7.1.4.2 प्रकृति

1. प्रकृति के नियमों का ज्ञान है तथा उन्हें मान्यता प्रदान करता है।

2. प्रकृति का विकास इसकी तीन शक्तियों अथवा गुणों से होता है ये गुण हैं – सत्व रज और तम। मनोवैज्ञानिक अर्थ में 'सत्व' ज्ञान अथवा प्रकाश का, रज प्रवृत्ति अथवा गति एवं 'तम्' मोह एवं जड़ता का प्रतीक है इसे जानता है। सृष्टि अथवा उसका लघुरूप यह शरीर तीन तत्वों से बना है। जिन्हें सत्व, रजस एंव तमस कहा गया है ये तीनों तत्व क्रमशः सुख दुःख व उदासीनता का प्रतिनिधित्व करते हैं इसे अनुभव करता है। यह भी जानता है कि भिन्न–भिन्न गुणों की प्रधानता के कारण व्यक्ति में भेद पाये जाते हैं इनका तीनों का व्यक्तित्व विकास में अत्यन्त महत्व है। इस तथ्य को जानता है। कि जब सत्य की प्रधानता होती है तो शुभ कार्य की ओर प्रेरित होते हैं, रजस का प्राधान्य अशुभ कर्म की ओर ले जाता है जब तमों गुण की प्रधानता होती है तो ऐसे कर्म करते हैं जिसे अच्छा कह सकते हैं न बुरा। उसका यह ज्ञान अनुभवात्मक है।

3. प्रकृति – पुरूष (जड़–चेतन) के सहकार से जगत की उत्पत्ति होती है इसे जानता है।

4. सहृदय एवं भावपूर्ण है क्योंकि वह इस तथ्य को जान जाता है। कि जागतिक अनुभव न तो पूर्णतः सुखः कारक है न पूर्णतः दुःखकारक। सुखः–दुःख का निरपेक्ष होता है प्रत्येक में तीनों तत्वों का सम्मिश्रण होता है।

5. प्रकृति की विशेषताओं से परिचित है।

6. प्रकृति की समस्त वस्तुओं के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है एवं उनका समयानुसार सदुपयोग करता है।

7.1.4.3 महत्

1. स्वतंत्र निर्णय लेने में सक्षम है। क्या करणीय है क्या अकरणीय है इसका निर्णय कर लेता है।

2. अपनी इच्छा–शक्ति वश में रखते हुए वह शरीर इन्द्रिय मन अथवा अहंकार का दास नहीं है। बल्कि इनका स्वामी है।

3. नियमों का पालन करता है व नियमों के अंतर्गत ही इच्छित परन्तु प्राप्त करने का प्रयास करता है।

4. उसकी बुद्धि तामस व राजस रूप न लेते हुये सात्विक रूप प्रधान है परिणाम स्वरूप कर्तव्य–पालन् करता है। ज्ञान–सम्पादन करते हुए देवीय शक्तियां प्राप्त करता है।

5. विवेक जागृत धर्माचरण और योगादि से ज्ञान प्राप्त करता है। योग–पद्धतियों का प्रयोग करते हुए विवेकमय ज्ञान प्राप्त करता है।

6. भावना प्रधान उत्तेजनाओं और इच्छाओं को वश में रखते हुए बौद्धिक क्रियाओं पर नियंत्रण रखता है। वह विवेक ज्ञान प्राप्ति की ओर अग्रसर हो रहा है। (नियम पूर्वक कार्य सम्पादन तथा मन की शक्ति बुद्धि पारदर्शी बनाती है और उसमें पुरूष का प्रकाश प्रतिबिंम्बित होता है अतः बालक के व्यक्तित्व के व्यवहार से स्पष्ट परिलक्षित होता है)

7. जीवन का अंन्तिम लक्ष्य मोक्ष है इसे जानता है तथा मुक्ति हेतु प्रयास करता है।

7.1.4.4 अहंकार

1. जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित करता है।

2. क्रियाशील, जिज्ञासु और व्यावहारिक है।

3. सुसंस्कृत सामाजिक और सहयोगी, सहकारी है।

4. मैं या मेरा, भाव अत्यन्त अल्प मात्रा में है। आलस्य, प्रमादी एवं उदासीन न होकर सत्कर्मो की ओर प्रवृत्त है।

5. उत्तरदायित्व का बोध है एवं परिवार, समाज, राष्ट्र विश्व के प्रति कर्तव्य बद्ध है।

7.1.4.5 मन

1. वैचारिक शक्ति प्रबल होती है। स्मरण शक्ति तीव्र है।
2. विषय को पहचानना, परस्पर आकलन करने की मानसिक क्रियाओं को सम्पन्न करने की क्षमता रखता है।
3. अवधान, (सोचने, विचारने, चिन्तन) विश्लेषण संश्लेषण चयन, एवं निरसन की शक्ति प्रबल है।
4. एकाग्रता की शक्ति जाग्रत है। योग निष्ठा तथा यम, नियम, आसन, प्राणायम आदि का महत्व है।
5. अनिष्ट विचारों का त्याग कर रहा है एवं श्रेष्ठ विचार विकसित हो रहे हैं, विचारों में संयम रख सकता है।
6. तर्क शक्ति प्रबल है। कल्पना शक्ति विकसित है।
7. ज्ञान, भावना, इच्छा आवेग आदि को संतुलित व संयमित व उचित रूप में ग्रहण करता है।
8. अच्छी मनोवृत्ति है मानसिक शक्तियां विकसित हैं। तनाव मुक्त है।
9. प्रवृत्तियां सहज संवेगों से युक्त (जिसमें सुख तथा दुःखात्मक अनूभूति का प्राधान्य होगा) किसी भी ज्ञान, भावनाओं, संवेगों, आदेश, निर्देश, नियम आदि को आत्मसात कर सकता है।

7.1.4.6 ज्ञानेन्द्रियां एवं कर्मेन्द्रियां

1. सबल एवं स्वस्थ्य शरीर है ।
2. समस्त अंग संतुलित एवं समुचित रूप से विकसित है।
3. इन्द्रिय ज्ञान पूर्ण रूपेण सही है।
4. सही व उचित शारीरिक क्रियायें करने योग्य है। एवं समस्त अंगों और अवयवों

के अनुसार क्रियाओं को सुसमन्जित करता है।

5. शारीरिक दोषों को दूर करने का प्रयास करता है।
6. कर्मेन्दियां सक्षम एवं क्रियाशील है।
7. कठोर परिश्रम कर सकता है एवं नियमित रूप से अभ्यास करता है।
8. खेल, व्यायाम, योगासन, आदि में सिद्धहस्तता प्राप्त है।
9. हस्तकला कौशल के रूप में विकसित है।
10. सर्वांगीण विकसित एवं सतुलित व्यक्तित्व है।

7.1.4.7 पंचतन्मात्रा और पंच महाभूत

1. ध्वनि, उच्चारण स्पष्ट व साफ है। वाचन दोष मुक्त है आवश्यकतानुसार वाणी प्रयोग कर सकता है। शब्द भण्डार बहुत समृद्ध है।
2. वस्तुओं के रूप, आकृति, आकार की पहचान स्पष्ट है।
3. विभिन्न स्वादों को पहिचानता है, अनुभव कर सकता है एवं पदार्थो के गुणों को जानता है।
4. घ्राण शक्ति तीव्र है।
5. चिकना, खुरदुरा, भारी हल्का आदि अवधारणायें स्पष्ट व साफ हैं।
6. मिटटी, पानी, प्रकाश हवा एवं आकाश से पूर्ण तथा परिचित है।
7. प्रकृति की सभी वस्तुओ से पूर्ण एवं सही रूप से परिचित है।
8. प्राकृतिक वस्तुयें संपदा का उपयोग भली प्रकार करता है इनका लाभ ले सकता है।
9. इन सभी वस्तुओं के प्रति सचले हैं एवं विनष्ट होने से बचाने का प्रयास करता है।
10. आसपास के परिवेश एंव पर्यावरण से परिचित है विस्तृत ज्ञान प्राप्त करता है।
11. सीखता है – किस प्रकार जियें ? किस प्रकार अधिक से अधिक जियें तथा किस प्रकार जिये कि कम से कम कष्ट हो एवं अधिकाधिक आनंद की उपलब्धि हो।

12. समाज के नियमों को जानता है तथा समाज का उपयोगी अंग है।

7.1.4.8 सत्कार्यवाद (कार्यकारण सिद्धांत)

1. प्रत्येक कार्य का कारण जानने का प्रयास करना है।
2. जगत् का आदि कारण जानता है।
3. शोध एवं खोज की प्रवृत्ति है।
4. अध्ययनशील है, प्रयोग करता है एवं निष्कर्ष निकालता है।
5. सद्कर्म करने की ओर प्रवृत्त होता है।

7.1.4.9 कैवल्य

1. दु:खत्रय का ज्ञान है।
2. दु:खत्रय का कारण जानता है ?
3. दु:खत्रय से मुक्ति का मार्ग जानता है।
4. विवेक–ज्ञान जागृत है।
5. कैवल्य प्राप्त करने का प्रयास करता है।
6. दु:खों से मुक्ति पाने के लिये प्रयास करता है।

7.1.5 अन्य पक्ष

पाठयक्रम का सीधा संबंध जिस दो ध्रुवों से रहता है वह है शिक्षक एवं शिक्षार्थी। इसके साथ ही पाठ्यक्रम को सफल बनाने में कुछ भौतिक पदार्थ भी सहायक होते हैं जैसे विद्यालय भवन, पुस्तकालय, कक्षा व्यवस्था एवं सहायक सामग्री आदि अतः इन बिन्दुओं पर भी चर्चा की जाना अपेक्षित है।

7.1.5.1 शिक्षक

शिक्षण प्रक्रिया में शिक्षक का स्थान महत्वपूर्ण एवं सर्वोपरि है। शिक्षण, पद्धति, पाठयक्रम, भवन आदि साधन सामग्री की व्यवस्था कितनी भी उत्तम क्यों न हो

परन्तु शिक्षक पद पर आसीन व्यक्ति चरित्रवान एवं योग्य नहीं है तो उक्त संपूर्ण व्यवस्थाएं निरर्थक हो जाती हैं।

सांख्य योग का शिक्षक एक व्यक्ति नहीं वरन् पद एवं संस्था है। अतः शिक्षक अपने विषय का पूर्ण ज्ञानी, चरित्रवान तथा योग्य होंगें। शिक्षक अपने विषय का विशेषज्ञ होगा उदाहरणार्थ – कोई शिक्षक 'प्रकृति' इस विषय में विशेषज्ञ होगा तो कोई यम का प्रशिक्षण देने में। शिक्षक, शिक्षार्थी को हित चिंतक, पथ प्रदर्शक एवं मित्र होगा। शिक्षक केवल विषय का ज्ञाता ही नहीं होगा बल्कि शिक्षार्थी को समझाने की एवं पढ़ाने की दक्षता में कुशल एवं निपुण होगा।

7.1.5.2 शिक्षार्थी

सांख्य की दृष्टि में विद्यार्थी पंच तत्वों से निर्मित स्थूल देह इन्द्रिय, अहंकार, बुद्धि युक्त प्राणी मात्र नहीं है। वरन् उसमें चैतन्य का वास है, आत्मा का निवास है। उसमें कार्य करने की असीम सम्भावनाएं हैं अतः वह ऊँचे से ऊँचे पथ की ओर अग्रसर हो सकता है। सांख्य योग के अनुसार बालक का व्यक्तित्व त्रिगुणात्मक है। सत्व, रजस और तमस उसके व्यक्तित्व के सार्वभूत तत्व हैं तथा व्यक्तित्व में पाये जाने वाले भेद भी भिन्न–भिन्न गुणों की प्रधानता के कारण हैं। अभ्यास एवं सतत् प्रयास से बालक तम से रज, रज से सत की दिशा की ओर उत्क्रमण कर सकता है। सांख्य योग की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक का सर्वांगीण विकास करना है। बालक को त्रिगुणातीत और गुंणातीत मानव बनाना हैं। अतः सांख्य योग दर्शन पर आधारित शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् शिक्षार्थी अनेक गुणों एवं क्षमताओं से युक्त होगा। कुछ प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार बताई जा सकती हैं –

1. शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ्य एवं सुगठित है उसका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से विकसित हैं।
2. निश्चत करना, संकल्प करना, विश्लेषण करना, मनन एवं चिंतन करना आदि शक्तियां विकसित हैं।
3. सृष्टि की उत्पत्ति एवं विकास क्रम को समझता है एवं उद्देश्यों की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।
4. अनेक प्रकार के उच्च नैतिक एवं चारित्रिक गुणों से युक्त हैं। जैसे – सत्य का पालन करने वाला अहिंसावादी इत्यादि।

5. परिवार एवं समाज में समन्वय स्थापित करते हुए उत्तरदायित्वों का पालन करता है।

6. स्वाभिमानी, स्वावलंबी एवं आत्मनिर्भर है।

7. अनेक प्रकार के योगासनों में पारंगत है एवं एकाग्रचित्त है।

8. उसकी नियमित दिनचर्या हैं एवं नियमित रूप से प्रार्थना, ध्यान आदि करता है।

9. प्रेम, दया, करूणा, सहयोग, सहानुभूति एवं भातृत्व, सामाजिक आदि भावों से युक्त है।

10. सतोगुणी एवं जिज्ञासु है। अंतिम सत्य को जानने एवं प्राप्त करने का प्रयास करता है।

7.1.5.3 विद्यालय

विद्यालय का स्वरूप प्राचीन गुरूकुल आश्रमों की भांति हो सकता है। चूंकि विद्यालय ज्ञान, कला, विज्ञान एवं संस्कृति के गतिशील केन्द्र होते हैं। यह एक प्रकार की साधना स्थली है जहां शील एवं चरित्र का निर्माण एवं विकास होता है अतः विद्यालय सरलता, पवित्रता, स्वच्छता एवं सुन्दरता से युक्त होना चाहिये। यहां शिक्षण हेतु पर्याप्त स्थान एवं पर्याप्त साधन सामग्री होना चाहिये। यहां का वातावरण शैक्षिक होना चाहिये शिक्षार्थी को विद्यालय अपना घर जैसा लगना चाहिये।

7.1.5.4 कक्षा–व्यवस्था

शिक्षण कार्य को सफल बनाने में कक्षा व्यवस्था महत्वपूर्ण स्थान रखती है। अतः सर्वप्रथम उचित बैठक व्यवस्था होना आवश्यक है। भारतीय पद्धति के अनुसार नीचे बैठकर शिक्षण दिया जाना ज्यादा उचित हे। कक्षा का वातावरण भय रहित होंना चाहिये जहां प्रत्येक शिक्षार्थी को झिझक या संकोच न हो, शिक्षार्थी को अपनापन लगे एंव संख्या की दृष्टि से कक्षा इतनी बड़ी हो कि शिक्षक व शिक्षार्थी के मध्य उचित सामंजस्य स्थापित हो सके।

7.1.5.5 अधिगम सामग्री

प्रत्येक शिक्षार्थी का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है इस दृष्टिकोण से स्वअधिगम सामग्री आवश्यक है। किसी तरह से प्रयोग करने हेतु उचित साधन सामग्री होना चाहिये शिक्षण की आवश्यकतानुरूप उचित शिक्षण सामग्री होनी चाहिये। स्वाध्याय हेतु पुस्तकालय एवं उसमें विभिनन प्रकार की पुस्तकें रहेंगी व्यवहारिक विषय के अध्ययन के लिये भी उचित सहायक सामग्री रहेगी।

7.1.5.6 नियमित दिनचर्या

सांख्य दर्शन के शैक्षिक निहितार्थ के संबंध में एवं उस पर आधारित शिक्षा ग्रहण करने वाला शिक्षार्थी की नियमित दिनचर्या होगी। जिसका पालन करना सभी विद्यार्थियों के लिये अनिवार्य होगा।

7.2.0 वर्तमान अध्ययन की सीमायें

भारतीय दर्शनकाल की परम्परा में सांख्य योग दर्शन प्राचीनतम दर्शन है एवं सांख्य शिक्षा पर विचार करना बहुत विस्तृत एवं गहन चिन्तन का विषय है अतः वर्तमान अध्ययन में कुछ कमियां रह जाना नितांत संभव है। संक्षेप में निम्नलिखित कमियां बताई जा सकती हैं।

1. सांख्य दर्शन के अध्ययन हेतु "सांख्य कारिका" की सहायता ली गई है अन्य ग्रंथ उपलब्ध नहीं हो पाए हैं।
2. इस अध्ययन में शिक्षाविदों, दार्शनिकों एवं चिंतकों का मत लिया जा सकता था। परंतु अध्ययन की विधि सर्वेक्षण विधि न होने के कारण यह प्रक्रिया नहीं अपनाई गई।
3. पाठ्यक्रम का प्रयोगिक अध्ययन कर निष्कर्ष दिये जा सकते थे। परंतु अध्ययन की विधि दार्शनिक विधि थी अतः उसमें यह संभव नहीं था।
4. भारतीय दर्शन पर आधारित वर्तमान में चल रही शिक्षण संस्थाओं का अवलोकन कर तुलनात्मक तथ्य दिये जा सकते थे परन्तु मुख्यतः यह अध्ययन सांख्य दर्शन पर आधारित था। चल रही शिक्षण संस्थायें पूर्ण रूप से सांख्य दर्शन पर आधारित नहीं हैं।

7.3.0 आगामी अध्ययन हेतु सुझाव

कारण भावाच्य सत्कार्यम् – किसी भी कार्य पदार्थ की उत्पत्ति अपने कारण पदार्थ से होती है, अर्थात् कार्य कारणात्मक होता है। जैसा कारण होगा, वैसा ही कार्य उत्पन्न होगा। वर्तमान अध्ययन का कार्य निश्चय ही किसी न किसी कारण के परिणाम स्वरूप हुआ है। अध्ययन हेतु पिछले शोधों एवं साहित्यिक, दार्शनिक एवं शैक्षिक ग्रंथों ने प्रेरणा प्रदान की है। जैसा कि वर्तमान अध्ययन की सीमाओं में कहा जा चुका है कि इस अध्ययन में कुछ कमियां रहीं हैं। निश्चित ही वर्तमान अध्ययन के आधार पर कुछ आगामी शोध तथा अध्ययन संभव है अतएव इस संबंध में सुझाव इस प्रकार है –

1. 'भारतीय दर्शन' वैचारिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है, इसमें विभिन्न विचारधाराओं पर आधारित 'दर्शन' विकसित हुए हैं। वर्तमान अध्ययन का आधार सांख्य दर्शन है, इसी तरह से अन्य दर्शनों को आधार बनाकर अध्ययन किया जा सकता है।
2. शालीय पाठ्यक्रम स्वंय में कुछ स्तरों में बंटा है – प्राथमिक स्तर, उच्च प्राथमिक स्तर, पूर्व माध्यमिक स्तर, माध्यमिक स्तर आदि। इन स्तरों पर भी सांख्य दर्शन पर आधारित पाठ्यक्रम कक्षावार बनाया जा सकता है। जैसे – कुछ उदाहरण हैं – सांख्य दर्शन पर आधारित प्राथमिक शिक्षा।" "सांख्य दर्शन पर आधारित माध्यमिक शिक्षा।" "सांख्य योग दर्शन एवं कक्षा सात।"
3. जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सांख्य दर्शन के प्रभाव का अध्ययन किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप – भारतीय चिकित्सा पद्धति भी सांख्य पर आधारित है अतः एक शीर्षक यह हो सकता है – आयुर्वेद एवं सांख्य अथवा आयुर्वेद में सांख्य दर्शन के सिद्धांतों की उपयोगिता।
4. सांख्य योग दर्शन के व्यवहारिक पक्षा पर भी शोध किया जा सकता है तथा – यम, नियम, आसन एवं प्राणायाम आदि कोई भी अंग लेकर उसकी उपयोगिता पर अध्ययन किया जा सकता है।
5. प्राचीन भारतीय दर्शन एवं शिक्षा पद्धिति को आधार बनाकर कुछ शिक्षण संस्थायें शिक्षा देने का कार्य कर रही है। उन सब की कार्यप्रणाली एवं पाठ्यक्रम पर तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

संदर्भ ग्रंथ सूची

दर्शन

अ. क्र.	पुस्तक का नाम	लेखक / संपादक	प्रकाशन	प्रकाशन का वर्ष
1.	आसन प्राणायाम	डॉ. देवव्रत आचार्य	गुरूकुल झज्जर रोहतक हरियाणा ।	1994 ई.
2.	अब भारत को उठना होगा	मिलाप कोठारी	राजस्थान पत्रिका लि. जयपुर ।	स. 2050
3.	भारतीय दर्शन	डॉ. राधाकृष्णन्	रामलाल एण्ड सन्स.कश्मीरी गेट,दिल्ली	अनुपलब्ध
4.	भारतीय दर्शन	डॉ. नन्द किशोर देवराज	विनोदचन्द्र पाण्डेय, उ.प्र. हिन्दी संस्थान लखनऊ	1992 ई.
5.	भारतीय दर्शन	आचार्य बलदेव उपाध्याय	शारदा मंदिर वाराणसी ।	1991 ई.
6.	भारतीय दर्शन	म.म. डॉ. उमेश मिश्र	हिन्दी साहित्य समिति, सूचना विभाग, लखनऊ ।	1970 ई.
7.	भारतीय दर्शन की रूपरेखा	एम. हिरयन्ना	राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. नई दिल्ली ।	1997 ई.
8.	भारतीय दर्शन की रूपरेखा	आचार्य बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा औरियन्टलिया वाराणसी ।	1979 ई.
9.	भारतीय दर्शन के मूल तत्व	डॉ. रामनाथ शर्मा	अनुपलब्ध	अनुपलब्ध
10.	भारतीय दर्शनिक इतिहास	दास, गुप्ता	हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ।	1962 ई.
11.	चरक संहिता (प्रथम भाग)	पं. काशीनाथ शास्त्री, डॉ. गोरखनाथ चतुर्वेदी	चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी ।	सं. 2048.
12.	चित्त और मन	आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)	1996 ई.
13.	धर्म दर्शन	डॉ. रामनारायण लाल	म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल ।	1972 ई.
14.	धर्म, दर्शन, मनन और मूल्यांकन	श्री देवन्द्र मुनी शास्त्री	श्री तारक गुरू, जैन ग्रंथालय, उदयपुर ।	1985 ई.
15.	धर्म शास्त्र का इतिहास	डॉ. पाण्डुरंग बामन काणे	निदेशक, उ. प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ	1980 ई.
16.	घेरण्य संहिता	पं. राजगुरू श्री 1008 श्री स्वामी जी महाराज	श्री पीताम्बरा पीठ संस्कृत परिषद, दतिया ।	सं. 2045.
17.	हमारी सांस्कृतिक विरासत	गुरूदत्त	हिन्दी साहित्य सदन कनाट सर्कस नई दिल्ली	1995 ई.
18.	जीवन विज्ञान की रूपरेखा	अणुव्रत,अनुशास्ता तुलसी,आचार्य महाप्रज्ञ	जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूं । (राज.)	1996 ई.
19.	कल्याण योगांक विशेषांक	—	कल्याण कार्यालय गीताप्रेस गोरखपुर	सं. 2054

20	मनोनुशासनम्	आचार्य तुलसी	कमलेश चतुर्वेदी, आचार्य साहित्य संघ चुरु,(राज.)	1996 ई.
21.	महाभारत (पंचम खण्ड, शांति पर्व)	श्री मन्महर्षि, वेद व्यास प्रणीत	गीता प्रेस गोरखपुर	सं. 2044
22.	नव दर्शन परिचय	पं. राजाराम शास्त्री	शाश्वत संस्कृत परिषद् नई दिल्ली ।	1997 ई.
23.	ओमानन्द योग साधना	स्वामी ओमानन्द सरस्वती	ब्रह्मकुल , ओमानन्द योगाश्रम खंडवा ।	1988 ई.
24.	प्रवीण योग शिक्षा	अरूणा आनन्द	प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली ।	1989 ई.
25.	पातंजल योग दर्शनम्	डॉ. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव	चौखम्बा भारती प्रकाशन, वाराणसी ।	1993 ई.
26.	पातंजल योग दर्शन	हरिकृष्णदास गोयन्दका	गीता प्रेस गोरखपुर	अनुपलब्ध
27.	पातंजल योग दर्शन	श्रीमद् हरिहरानन्द अरण्य,	लखनऊ वि. वि.	अनुपलब्ध
28.	पातंजल योग प्रदीप	स्वामी सियाराम महाराज	गीता प्रेस गोरखपुर	2056 ई.
29.	प्राचीन भारत का जैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास	रति भानुसिंह नाहर	के. एम. ऐजेन्सी, प्रा, लि, नई दिल्ली	1990 ई.
30.	ऋग्वेद सुक्तिसुधा	स्वामी जगदीशवरानन्द सरस्वती,	गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली	1989 ई.
31	श्रीमद भगवद्गीता यथारूप	स्वामी प्रभुपाद	भक्तिवेदान्त ट्रस्ट, बम्बई ।	1992 ई.
32.	श्रीमद् भागवत् महापुराण (प्रथममाग)	—	गीता प्रेस गोरखपुर	सं. 2056.
34.	श्रीमद् भागवत् महापुराण (द्वितीय भाग)	—	गीता प्रेस गोरखपुर	सं. 2056.
35.	सांख्य कारिका	डॉ. राजकिशोर सिंह	रेल्वे क्रांसिंग, सीतापुर रोड़ लखनऊ	सं. 2043
36.	सांख्य कारिका	ब्रज मोहन चतुर्वेदी,	नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली,	1969 ई.
37.	सांख्य कारिका	डॉ रामकृष्ण आचार्य	सहित्य भंडार सुभाष बाजार मेरठ	अनुपलब्ध
38.	सांख्य दर्शन का इतिहास	विद्या भास्कर वेदरत्न,	अनुपलब्ध	अनुपलब्ध
39.	सांख्य सूत्रम	रमाशंकर भट्टाचार	अनुपलब्ध	अनुपलब्ध
40.	सांख्य तत्व कौमुदी प्रभा	डॉ आद्याप्रसाद मिश्र	अक्षय वट प्रकाशन इलाहबाद	1994 ई.
41.	सांख्य तत्व कौमुदी	डॉ. गजानन्द शास्त्री मूसलगाँवकर	चैखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी	सं. 2041.
42.	यूनिफाइड इतिहास	ए. के. मित्तल	साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा	1996 ई.
43.	योग सार संग्रह	डॉ. पवन कुमारी	ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली	1981 ई.
44.	योग साधना और समाधि	—	श्री श्री माता आनन्दमयी पीठ, इन्दौर	—

45.	योग शिक्षा	डॉ. एस. के मंगल, डॉ. उमा मंगल, सतीश कुमार 'माना'	आर्य बुक डिपो नई दिल्ली	1988 ई.
46.	योग की विधि और सिद्धि	–	प्रजापिता ब्रह्माकुमारी, ईश्वरीय वि.वि.,माउन्टआबू	–

शिक्षा

47.	आज की शिक्षा कल के सवाल	शिवरतन थानवी	धरती प्रकाशन, बीकानेर	1983 ई.
48.	आदि और मध्ययुगीन भारत	डॉ. सरयु प्रसाद चौबे	विनोद पुस्तक मंदिर आगरा	सं. 2031
49.	आधुनिक भारत में शैक्षिक चिन्तन	अनुपलब्ध	परमेश्वरी प्रकाशन	अनुपलब्ध
50.	आधुनिक भारतीय शिक्षा और उसकी समस्यायें	सुरेश भटनागर	इन्टर नेशनल पब्लिकेशन हाऊस, मेरठ	1984 ई.
51	आधुनिक भारतीय शिक्षा और उसकी समस्यायें	जे.एन. अरोड़ा	प्रकाश ब्रदर्स, लुधियाना	1978 ई.
52.	आधुनिक भारतीय शिक्षा और उसकी समस्यायें	के. के. भाटिया	शारदा ब्रदर्स, लुधियाना	1973 ई.
53.	आधुनिक भारत में शिक्षा	प्रो. हेतसिंह बघेला	राजस्थान प्रकाशन जयपुर	1989 ई.
54.	अनुसंधान परिचय	पारसनाथ राय एवं चाँद भटनागर	लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा	1973 ई.
55.	भारतीय शिक्षा की समस्यायें	पी. डी. जौहरी एवं पी. डी. पाठक	विनोद पुस्तक मंदिर आगरा	1970 ई.
56.	भारतीय शिक्षा की प्रमुख समस्यायें	उपेन्द्रनाथ दीक्षित एवं दिनेशचन्द्र जोशी	राजस्थान बुक स्टोर्स उदयपुर	अनुपलब्ध
57.	भारतीय शिक्षा की समस्यायें	रामशुक्ल पाण्डेय	लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा	1970 ई.
58.	भारतीय शिक्षा की आधुनिक समस्यायें	दिनेशचन्द्र भारद्वाज	विनोद पुस्तक मंदिर आगरा	1973 ई.
59.	भारतीय शिक्षा की समस्यायें और प्रवृत्तियाँ	विद्यावती मलैया	मेकमिलन, दिल्ली	1974 ई.
.60.	भारतीय शिक्षाका इतिहास एवं समस्यायें	रामपाल सिंह	लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा	1981 ई.
61.	भारतीय शिक्षा दर्शन के मूलतत्व	रामनाथ शर्मा	केदारनाथ रामनाथ मेरठ	1985 ई.
62.	भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्यायें	रघुनाथ सफाया	धनपत राय एण्ड संस जालन्धर	1968 ई.
63.	भारतीय शिक्षा की समस्यायें	श्री प्रकाश	मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ नई दिल्ली	अनुपलब्ध
64.	भारतीय शिक्षा के मूलतत्व	लज्जाराम तोमर	सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली	1987 ई.
65.	भारतीय शिक्षा का इतिहास	कपूरचन्द जैन	विनोद पुस्तक मंदिर आगरा	1961 ई.

66.	भारत में शिक्षा दर्शन और शैक्षिक समस्यायें	पी.डी. पाठ़क और त्यागी	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1984–85 ई.
67.	भारतीय शिक्षा का इतिहास	बी.पी. जौहरी और पी.डी. पाठ़क	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1988–89 ई.
68.	हमारी शिक्षा समस्यायें	डॉ. सरयू प्रसाद चौबे	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1983 ई.
69.	हिन्दी अध्यापन	डॉ. कृष्ण नन्दन प्रसाद अभिलाषी	बिहार हिन्दी ग्रंथ, अकादमी पटना	1984 ई.
70.	मूल्य परक शिक्षा	डॉ. नत्थूलाल गुप्त	कृष्णा ब्रदर्स अजमेर	1987 ई.
71.	महान शिक्षकों के शिक्षा सिद्धांत	अनुपलब्ध	म. प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी	अनुपलब्ध
72.	मुदालियर कमीशन	सुरेश भटनागर	ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली	1981 ई.
73.	महान शिक्षा शास्त्री	निगम, अहलूवालिया	जबलपुर प्रकाशन गृह, जबलपुर	1961 ई.
74.	नई शिक्षा नीति क्रियान्वयन एवं सतत मूल्यांकन	उम्मेदराम काबरा	कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर	1987 ई.
75.	पाठ्यचर्या आधार एवं सिद्धान्त	डॉ. हंसराज पाल	स्कालर्स पब्लिशिंग हाऊस, इन्दौर	1998 ई.
76.	राष्ट्रीय शिक्षा	डॉ. रामशकल पाण्डेय	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1987 ई.
77.	राष्ट्रीय शिक्षा नीति	जे.सी. अग्रवाल	दोआब हाऊस नई सड़क, दिल्ली	1987 ई.
78.	शिक्षा के सिद्धान्त	सुबोध अदावल, अग्रवाल	कन्हैयालाल ब्रदर्स	1978 ई.
79.	शिक्षा के दार्शनिक एवं समाज शास्त्रीय सिद्धान्त	एस. के अग्रवाल	मॉडर्न पब्लिशर्स मेरठ	1979–80
80.	शिक्षा दर्शन	लक्ष्मी नारायण गुप्त	कैलाश प्रकाशन, इलाहबाद	1972 ई.
81.	शिक्षा दर्शन	राम शुक्ल पाण्डेय	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1979 ई.
82.	शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त	पी. डी. पाठक एवं जी. एस. डी. त्यागी	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1977 ई.
83.	शिक्षा मनोविज्ञान	एस. एस. माथुर	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1969 ई.
84.	शिक्षा सिद्धान्त	एस. एस. माथुर	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1986 ई.
85.	शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्त	रमन बिहारी लाल	रस्तोगी पब्लिकेशन मेरठ	1974 ई.
86.	शिक्षा के सिद्धान्त और प्रयोग	सफाया और शोदा	धनपत राय एण्ड सन्स जालन्धर	1969 ई.
87	शिक्षा सिद्धान्त	के. क्षत्रीय एवं विमला अरोरा	लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा	1971 ई.
88.	शिक्षा के सिद्धान्त	पाठक एवं त्यागी	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1988 ई.

89.	शिक्षा के आधार	डॉ. कुसुम चतुर्वेदी	हर प्रसाद भार्गव, आगरा	1987 ई.
90.	शैक्षिक एवं विद्यालय प्रशासन	भाई योगेन्द्र जीत	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1984 ई.
91.	शैक्षिक अनुसंधान के मूलतत्व	एस. पी. सुखिया	विनोदा पुस्तक मंदिर, आगरा	1990–91
92.	समकालीन भारतीय शिक्षा का स्वरूप एवं उसकी समस्यायें	श्रीमती मणि शर्मा	हर प्रसाद भार्गव, कचहरी घाट, आगरा ।	1988 ई.
93.	शिक्षा में नवाचार एवं आधुनिक प्रवृत्तियाँ	शंकर चरण श्रीवास्तव	हर प्रसाद भार्गव, कचहरी घाट, आगरा ।	अनुपलब्ध
94.	शिक्षा के नूतन आयाम	डॉ. लक्ष्मीलाल	राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर	अनुपलब्ध
95.	शिक्षा की दार्शानिक प्रणालियाँ सांस्कृतिक परिपेक्ष्य में	थिडोडोर, ब्रेमेल्ड	राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर	1975 ई.
96.	शिक्षा के दार्शनिक आधार	आर. आर. रस्क	राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर	1982 ई.
97.	शिक्षा और उसकी पुनर्रचना	श्रीमाली, शैलाभ	मैत्री प्रकाशन, उज्जैन, भोपाल	1987 ई.
98.	साहित्य परिचय(नई शिक्षा नीति आधार एवं क्रियान्वयन)	डॉ. रामशकल पांडे, डॉ. सरयु प्रसाद चौबे, विनोद कुमार अग्रवाल,	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1988 ई.
99.	शिक्षा के सिद्धान्त एवं तकनीक	जे. सी अग्रवाल	आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली	1985 ई.
100.	स्वतंत्र भारत में शिक्षा का विकास	जे. सी. अग्रवाल	आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली	1989 ई.
101.	शाला संगठन	हेतसिंह बघेला, हरीशचन्द्र व्यास	गाडोदिया पुस्तक भंडार, बीकानेर	1986 ई.
102.	शाला संगठन शिक्षा समस्यायें	हेतसिंह बघेला, हरीशचन्द्र व्यास	गाडोदिया पुस्तक भंडार, बीकानेर	1986,87 ई.
103	सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास	शिवदयाल	सस्ता साहित्य मण्डल	1998 ई.
104.	शिक्षण कला, शिक्षण तकनीक एवं नवीन पद्धतियाँ	डॉ. एस. एस. माथुर	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1986 ई.
105	शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठ भूमि	डा. लक्ष्मी लाल के ओड़	राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर	1987 ई.
106	शिक्षा शास्त्र	वैद्यनाथ प्रसाद वर्मा	बिहार हिन्दी ग्रंथअकादमी	1974 ई.
107	शिक्षा के सिद्धांत	रामबाबू गुप्त	विवेक प्रकाशन, दिल्ली	1989 ई.
108	शोध प्रबंध लेखन	आर. ए. शर्मा	इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाऊस मेरठ	1984 ई.
109	शिक्षा सिद्धांत	प्रेम दत्त शर्मा	विनोद पुस्तक मंदिर आगरा	1987 ई.

110	शैक्षिक मूल्यांकन	रामपालसिंह वर्मा	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1984—1985
111	शिक्षा में मूल्यांकन के सिद्धांत और प्रविधियाँ	निर्मल भाग्या	राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर	1978 ई
112	शिक्षा मनोविज्ञान	सुरेश भटनागर	इन्टर नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, मेरठ	1989 ई
113	तुलनात्मक शिक्षा	सरयू प्रसाद चौबे	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1972 ई.
114	विश्व के श्रेष्ठ शिक्षा शास्त्री	डॉ, रामशकल पाण्डेय	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा	1986 ई.
115	विश्व के महान शिक्षा शास्त्री	वैघनाथ प्रसाद वर्मा	बिहार हिन्दी ग्रथ अकादमी पटना	1972 ई.
116	Developing the secondary school curriculum	J. Paul Leonasd	Holt Rinehart and Winston New York	Not available
117	Development Issues and Inrights	Donald E.Orlosky, B.Othanel smith	R and M.C. Nally collage publishing Co.	1978
118	Curriculum Principles and Foundations	Robert S. Zais	ThomanYorwell Company Inc.	1976
119	Curriculum Planning for modern School	J.Galen Saylor, Willam M.Alexander	Rinehart and Winston Inc.	1966
120	Developing a Curriculum a Practical Guide	Audreg Nicholls, S.Howard Nicholls	George Allen and unwin Ltd. London.	1978
121	Objectives Curriculum desing	Ivor K. Davies	Mc.Graw. Hill Book Company (U.K.) Limited.	1976
122	School Curriculum	Mohammad Sharif Khan	Ashish Publishing House. New Delhi.	1995
123	The Curriculum Theory and Practics	A.V. Kelly	Harper and Raw Publishers, London	1982
124	Evaluation and Curricualum	David Hamilton	Open Books Publishing Limited, London	1976
125	Curriculum Evaluation today.	Trends and Implications	David Tawney, Macmillum Eduacation LTD.	1976
126	Curriculum Develcpment and Educational Technology	Malla Reddy Maidi S. Ranishankar	Starling Publishers Private Ltd.	1989
127	Curriculum Innovations For 2000 A.d.	Dr.N.Venkataish	Ashish Publishing House New Delhi	1993

पत्रक / रिपोर्ट

क्र.	शीर्षक			वर्ष
1	माध्यमिक शिक्षा –आयोग प्रतिवेदन 1952–53	भारत सरकार, नई दिल्ली	-	
2.	कोठारी शिक्षा – आयोग प्रतिवेदन 1965–66	भारत सरकार, नई दिल्ली	-	
3.	National Policy of Education (Program of action) August 1986		Government of India M.H.R.D. Department of Ed.	1986
4.	राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 की समीक्षा समिति 1990 आचार्य राममूर्ति समीक्षा समिति	--	--	दिसंबर 1990
5.	केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड की नीति संबंधी रिपोर्ट 1992 (जनार्दन समिति रिपोर्ट)	–	–	1992 ई.
6.	प्राथमिक स्तर पर न्यूनतम अधिगम स्तर	भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय (शिक्षा विभाग) द्वारा समिति की रिपोर्ट	प्रकाशन विभाग राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली	1991 ई.
7.	Survey of In Education (II,III,IV,V Survey)	M.B. Buch	Not available	1982–92, 1978–83
8.	'भारत' – 1999	प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार		1999
9.	"ओशो टाइम्स" –"मनुष्य के चित्त पर संस्कारों की धूल"	ओशो	ताओ पब्लिशिंग प्रा. लि. पुणे	अगस्त 2000
10.	'आभास – विद्यालयी शिक्षा और परिवार"	–	एन.डी.यू.डी.पी.एस. ई.ई.एन.सी.ई. आर. टी. की त्रैमासिक पत्रिका	मार्च 2000
11.	"चुनौति" – "बालकेन्द्रित अन्योन्याक्रियापूर्ण क्रियाकलाप"	डॉ.एस. सी. जैन	डी.पी.ई.पी. ब्यूरो शिक्षा विभाग, मानव विकास मंत्रालय, नई दिल्ली	जन–मार्च 1999
12.	"नया शिक्षक"– 'अध्यापकीय क्षमता – एक अवधारणा' 'सोच तथा खोज के लिए शिक्षण'	राजकिशोर पाठक सी.बी. माथुर	नया शिक्षक, बीकानेर, राजस्थान	जन.मार्च 1995 " "
13.	'परिप्रेक्ष्य' – बुनियादी शिक्षा और मानव अधिकार	आर.वी. वैद्यनाथ अय्यर	राष्ट्रीय शैक्षिक योजना और प्रशासन संस्थान नई दिल्ली	अप्रेल – अगस्त 1999
14.	'प्रौढ़ शिक्षा' – शिक्षा का मूल अधिकार 'विभिन्न स्तरों पर बच्चों का विद्यालय से पलायन : कारण और निवारण'	ड़ॉ. रामायण प्रसाद इरफाना बेगम	भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ नई दिल्ली ——"——	अक्टोबर 1999 अगस्त 2000

15.	'पलाश' – 'शैक्षिक क्रिया को नया मोड़ : शिक्षा में संस्कृति, कला और मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में।'	अंतोष कुमार मित्तल	राज्य शिक्षक मण्डल द्वारा प्रकाशित	अप्रैल–मई 1989
	'आर्थिक प्रगति और पारंपरिक नैतिक मूल्य'	ओमप्रकाश रावल	——"——	फरवरी 1989
	'पाठ्यक्रम' : 'सिद्धान्त, प्रक्रिया और स्वरूप'	पदमा नलगुंडवार	——"——	फरवरी–मार्च 1993
	'21 वीं शताब्दी के मूल्यों का संस्कार'	एस.एस.गोयल	——"——	मार्च–अप्रैल 1996
	'भारत का शिक्षा शास्त्र'	विनोबा भावे	——"——	अक्टोबर 1995

अन्य

1.	जीवन विज्ञान भाग – 2,5,8,9,10	प्रवर्तक –श्री तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ	जीवन विज्ञान अकादमी, जैन विश्व भारती लाडनूं (राज.)	1997 ई.
2.	दीक्षा	शिक्षक प्रशिक्षण स्रोत सामग्री	म.प्र. राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, भोपाल	अनुपलब्ध
3.	साथी	कक्षा 4 एवं 5 के शिक्षकों के शिक्षण–प्रशिक्षण हेतु स्रोत सामग्री	——"——	1999 ई.
4.	दिशा – भाग 1,2,3,4,5	शिक्षक–प्रशिक्षण हेतु स्रोत सामग्री	——"——	अनुपलब्ध

शोध–प्रबन्ध

1.	'भारतीय शिक्षा में द्वन्द्वात्मकता एक अध्ययन', ' पीएच.डी. शोध, देवी अहिल्या विश्व विद्यालय, इन्दौर	कुमारी सुनीता शर्मा	–	1988 ई.
2.	'सृष्टि विषयक भारतीय चिन्तन की धारा में पंडित मधुसुदन ओझा का योगदान' पीएच.डी. शोध– प्रबंध देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर	कुमारी ज्योति उपाध्याय	–	1995 ई.
3.	'तमक श्वास पर विरेचन कर्म एवं शंख प्रक्षालन का समालोचनात्मक अध्ययन एवं वैज्ञानिक विश्लेषण', डॉक्टर ऑफ मेडिसिन उपाधि हेतु, रविशंकर विश्व विद्यालय, रायपुर	डॉ. राजेन्द्र कुमार साहू	–	1986 ई.

4. '10+2 प्रणाली के अंतर्गत कक्षा नवमीं के इतिहास विषय के पाठ्यक्रम का विश्लेषणात्मक अध्ययन', एम.एड. उपाधि हेतु, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन — कु. वन्दना शर्मा — – — 1985–86 ई.

5. 'विबन्ध में योग एवं आयुर्वेद' डॉक्टर ऑफ मेडिसिन उपाधि हेतु, रविशंकर विश्व विद्यालय, रायपुर — डॉ. त्रिलोकीनाथ पाण्डेय — – — 1988 ई.

कोश

1.	मानक हिन्दी– अंग्रेजी कोश	सत्यप्रकाश डी.एस.सी., बलभद्र प्रसाद मिश्र	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग	1983 ई.
2.	Nalanda Concise Dictionary (Eng- Hin.)	P.N. Agrawal	Aadiesh Book Depot, New Delhi	1988
3.	नालन्दा, विशाल शब्द सागर	श्री नवल जी	न्यू इंपीरियल बुक डिपो, नई सड़क देहली	अनुपलब्ध
4.	संस्कृत शब्दार्थ – कौस्तुभ	द्वारका प्रसाद शर्मा	रामनारायण लाल, इलाहाबाद	1957 ई.
5.	संस्कृत हिन्दी कोश	वामन शिर्वराम आप्टे	मोर्तीलाल बनारसीदास	1966 ई.
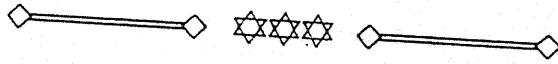
परिशिष्ट

सांख्यकारिका

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥ १ ॥

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात् ॥ २ ॥

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृति र्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं, प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥ ४ ॥

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥ ५ ॥

सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात् ।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात्सिद्धम् ॥ ६ ॥

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ ७ ॥

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः ।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च ॥ ८ ॥

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ ९ ॥

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ १० ॥

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ११ ॥

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ १२ ॥

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टं उपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥ १३ ॥

अविवेक्यादेः सिद्धिस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात् ।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम् ॥ १४ ॥

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागात् वैश्वरूप्यस्य ॥ १५ ॥

कारणमस्त्यव्यक्तं, प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च ।
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥ १६ ॥

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ १७ ॥

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ १८ ॥

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृ भावश्च ॥ १९ ॥

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥ २० ॥

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि ॥ २२ ॥

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ २३ ॥

अभिमानोऽहंकारः तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपंचकश्चैव ॥ २४ ॥

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥ २५ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥ २६ ॥

उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ॥ २७ ॥

रूपादिषु पंचानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः ।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पंचानाम् ॥ २८ ॥

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पंच ॥ २९ ॥

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा ।
दृष्टे तथाप्यदृष्टे त्रयस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ ३० ॥

स्वां स्वां प्रतिपद्यन्ते परस्पराकूतहेतुकां वृत्तिम् ।
पुरुषार्थ एव हेतुर्न केनचित् कार्यते करणम् ॥ ३१ ॥

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधाऽऽहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च ॥ ३२ ॥

अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ॥ ३३ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि तेषां पंच विशेषाविशेषविषयाणि ।
वाग् भवति शब्दविषया शेषाणि तु पंचविषयाणि ॥ ३४ ॥

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ ३५ ॥

एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥ ३६ ॥

सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पंच पंचभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥ ३८ ॥

सूक्ष्मा मातापितृजाः सह प्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः ।
सूक्ष्मास्तेषां नियता मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ ३९ ॥

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

चित्रं यथाऽऽश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथाच्छाया ।
तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ ४१ ॥

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसंगेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिंगम् ॥ ४२ ॥

सांसिद्धिकाश्च भावाः प्राकृतिका वैकृताश्च धर्माद्याः ।
दृष्टाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः ॥ ४३ ॥

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण ।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ ४४ ॥

वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद् रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः ॥ ४५ ॥

एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुणवैषम्यविमर्दात् तस्य च भेदास्तु पंचाशत् ॥ ४६ ॥

पंच विपर्ययभेदा भवन्त्यशक्तिश्च करणवैकल्यात् ।
अष्टाविंशतिभेदा तुष्टिर्नवधाऽष्टधा सिद्धिः ॥ ४७ ॥

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ ४८ ॥

एकादशेन्द्रियवधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम् ॥ ४९ ॥

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात् पंच च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ ५० ॥

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥ ५१ ॥

न विना भावैर्लिङ्गं न विना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः ।
लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ॥ ५२ ॥

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पंचधा भवति ।
मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ५३ ॥

ऊर्ध्वं सत्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ ५४ ॥

तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ।
लिङ्गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद् दुःखं स्वभावेन ॥ ५५ ॥

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थं आरम्भः ॥ ५६ ॥

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥

औत्सुक्यविनिवृत्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ ५८ ॥

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्यगुणस्य सतः तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥ ६० ॥

प्रकृतेः सुकुमारतरं न किंचिदस्तीति मे मतिर्भवति ।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ॥ ६१ ॥

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ ६२ ॥

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥ ६३ ॥

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ ६४ ॥

तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः ॥ ६५ ॥

दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ ६६ ॥

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥ ६७ ॥

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

पुरुषार्थज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणा समाख्यातम् ।
स्थित्युत्पत्तिप्रलयाश्चिन्त्यन्ते यत्र भूतानाम् ॥ ६९ ॥

एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पंचशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥ ७० ॥

शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ ७१ ॥

सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥ ७२ ॥

तत्त्वसमास सांख्यसूत्र

१-अथातस्तत्त्वसमासः
२-अष्टौ प्रकृतयः
३-षोडश विकाराः
४-पुरुषः
५-त्रैगुण्यम्
६-संचरः प्रतिसंचरः
७-अध्यात्ममधिभूतमधिदैवं च
८-पञ्चाभिबुद्धयः
९-पञ्च दृग्योनयः
१०-पञ्च वायवः
११-पञ्च कर्मात्मानः
१२-पञ्चपर्वा अविद्या
१३-अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः
१४-नवधा तुष्टिः
१५-अष्टधा सिद्धिः
१६-दश मौलिकार्थाः
१७-अनुग्रहः सर्गः
१८-चतुर्दशविधो भूतसर्गः
१९-त्रिविधो बन्धः
२०-त्रिविधो मोक्षः
२१-त्रिविधं प्रमाणम्
२२-एतत् सम्यग्ज्ञात्वा कृतकृत्यः स्यात्।
न पुनस्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूयते

पातञ्जलयोगसूत्र

अथ समाधिपादः—१

अथ योगानुशासनम्
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्
वृत्तिसारूप्यमितरत्र
वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः
प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः
प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि
विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्
शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः
अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा
११-अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः
१२-अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः
१३-तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः
१४-स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारा-
सेवितो दृढभूमिः
१५-दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार-
संज्ञा वैराग्यम्
१६-तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्
१७-वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्
सम्प्रज्ञातः
१८-विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः
१९-भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्
२०-श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक
इतरेषाम्
२१-तीव्रसंवेगानामासन्नः
२२-मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः
२३-ईश्वरप्रणिधानाद्वा
२४-क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः
पुरुषविशेष ईश्वरः
२५-तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्
२६-पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्
२७-तस्य वाचकः प्रणवः
२८-तज्जपस्तदर्थभावनम्
२९-ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च
३०-व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति-
दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि
चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः
३१-दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा
विक्षेपसहभुवः
३२-तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः
३३-मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्या-
पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्
३४-प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य
३५-विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः
स्थितिनिबन्धिनी
३६-विशोका वा ज्योतिष्मती
३७-वीतरागविषयं वा चित्तम्
३८-स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा
३९-यथाभिमतध्यानाद्वा
४०-परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः
४१-क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु
तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः
४२-तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा
सवितर्का समापत्तिः
४३-स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थ-
मात्रनिर्भासा निर्वितर्का
४४-एतयैव सविचारा निर्विचारा च
सूक्ष्मविषया व्याख्याता
४५-सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्
४६-ता एव सबीजः समाधिः
४७-निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः
४८-ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा
४९-श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया
विशेषार्थत्वात्
५०-तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी
५१-तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः
समाधिः

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे समाधिनिर्देशो नाम प्रथमः पादः॥ १ ॥

═══ ★ ═══

अथ साधनपादः—२

१-तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः
२-समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च
३-अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः
४-अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनु-
विच्छिन्नोदाराणाम्
५-अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि-
सुखात्मख्यातिरविद्या
६-दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता
७-सुखानुशयी रागः
८-दुःखानुशयी द्वेषः
९-स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढो-
ऽभिनिवेशः

१०-ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः

११-ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः

१२-क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्म-
वेदनीयः

१३-सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः

१४-ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्य-
हेतुत्वात्

१५-परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति-
विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः

१६-हेयं दुःखमनागतम्

१७-द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः

१८-प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं
भोगापवर्गार्थं दृश्यम्

१९-विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि
गुणपर्वाणि

२०-द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः

२१-तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा

२२-कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्य-
साधारणत्वात्

२३-स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धि-
हेतुः संयोगः

२४-तस्य हेतुरविद्या

२५-तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्
दृशेः कैवल्यम्

२६-विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः

२७-तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा

२८-योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञान-
दीप्तिराविवेकख्यातेः

२९-यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा-
ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि

३०-अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः

३१-जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः
सार्वभौमा महाव्रतम्

३२-शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वर-
प्रणिधानानि नियमाः

३३-वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्

३४-वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता
लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा
दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्

३५-अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः

३६-सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्

३७-अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्

३८-ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः

३९-अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः

४०-शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः

४१-सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रिय-
जयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च

४२-संतोषादनुत्तमसुखलाभः

४३-कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः

४४-स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः

४५-समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्

४६-स्थिरसुखमासनम्

४७-प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम्

४८-ततो द्वन्द्वानभिघातः

४९-तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः
प्राणायामः

५०-बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः
परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः

५१-बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः

५२-ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्

५३-धारणासु च योग्यता मनसः

५४-स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार
इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः

५५-ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे साधननिर्देशो
नाम द्वितीयः पादः॥२॥

═══ ~ ═══

अथ विभूतिपादः—३

१-देशबन्धश्चित्तस्य धारणा

२-तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्

३-तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्य-
मिव समाधिः

४-त्रयमेकत्र संयमः

५-तज्जयात्प्रज्ञालोकः

६-तस्य भूमिषु विनियोगः

७-त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः

८-तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य

९-व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः

१०-तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्

११-सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य
समाधिपरिणामः

१२-ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ
चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः

१३-एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा
व्याख्याताः

१४-शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी

१५-क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः

१६-परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्

१७-शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्र-
विभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्

१८-संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्

१९-प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्

२०-न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्

२१-कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे
चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्

२२-सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त
ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा

२३-मैत्र्यादिषु बलानि

२४-बलेषु हस्तिबलादीनि

२५-प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहित-
विप्रकृष्टज्ञानम्

२६-भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्

२७-चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्

२८-ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्

२९-नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्

३०-कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः

३१-कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्

३२-मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्

३३-प्रातिभाद्वा सर्वम्

३४-हृदये चित्तसंवित्

३५-सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्
३६-ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते
३७-ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः
३८-बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः
३९-उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च
४०-समानजयाज्ज्वलनम्
४१-श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्
४२-कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघु-तूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्
४३-बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः
४४-स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः
४५-ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः काय-सम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च
४६-रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्
४७-ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्व-संयमादिन्द्रियजयः
४८-ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च
४९-सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च
५०-तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्
५१-स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्
५२-क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्
५३-जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः
५४-तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्
५५-सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे विभूतिनिर्देशो नाम तृतीयः पादः॥३॥

अथ कैवल्यपादः—४

१-जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः
२-जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्
३-निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्
४-निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्
५-प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्
६-तत्र ध्यानजमनाशयम्
७-कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्
८-ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्
९-जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्
१०-तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्
११-हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः
१२-अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्
१३-ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः
१४-परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्
१५-वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः
१६-न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्
१७-तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्
१८-सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्
१९-न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्
२०-एकसमये चोभयानवधारणम्
२१-चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च
२२-चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्
२३-द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्
२४-तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्
२५-विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः
२६-तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्
२७-तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः
२८-हानमेषां क्लेशवदुक्तम्
२९-प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः
३०-ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः
३१-तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्
३२-ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्
३३-क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः
३४-पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे कैवल्यनिरूपणं नाम चतुर्थः पादः

॥ समाप्तं योगदर्शनम् ॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः

महदादि भिन्न-भिन्न तत्त्वोंकी उत्पत्तिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक्।
यद्विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ॥ १

ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्यात्मदर्शनम्।
यदाहुर्वर्णये तत्ते हृदयग्रन्थिभेदनम् ॥ २

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ॥ ३

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥ ४

गुणैर्विचित्राः सृजतीं स्वरूपाः प्रकृतिं प्रजाः।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ॥ ५

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान्।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥ ६

तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम्।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ॥ ७

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं[2] प्रकृतेः परम् ॥ ८

देवहूतिरुवाच

प्रकृतेः पुरुषस्यापि लक्षणं पुरुषोत्तम।
ब्रूहि कारणयोरस्य सदसच्च यदात्मकम् ॥ ९

श्रीभगवानुवाच

यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत् ॥ १०

पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा।
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः ॥ ११

महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः।
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे ॥ १२

इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृग्रसननासिकाः।
वाक्करौ चरणौ मेढ्रं पायुर्दशम उच्यते ॥ १३

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम्।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया ॥ १४

एतावानेव सङ्ख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः ॥ १५

प्रभावं[1] पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम्।
अहङ्कारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिमीयुषः ॥ १६

प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्युपलक्षितः ॥ १७

अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः।
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया ॥ १८

दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ॥ १९

विश्वमात्मगतं व्यञ्जन् कूटस्थो जगदङ्कुरः।
स्वतेजसापिबत्तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः ॥ २०

यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम्।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम् ॥ २१

स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः।
वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथापां प्रकृतिः परा ॥ २२

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यसम्भवात् ।
क्रियाशक्तिरहङ्कारस्त्रिविधः समपद्यत ॥ २३

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च यतो भवः ।
मनसश्चेन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि ॥ २४

सहस्रशिरसं साक्षाद्यमनन्तं प्रचक्षते[1] ।
सङ्कर्षणाख्यं पुरुषं भूतेन्द्रियमनोमयम् ॥ २५

कर्तृत्वं करणत्वं च कार्यत्वं चेति लक्षणम् ।
शान्तघोरविमूढत्वमिति[2] वा स्यादहंकृते ॥ २६

वैकारिकाद्विकुर्वाणान्मनस्तत्त्वमजायत ।
यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः[3] ॥ २७

यद्विदुर्ह्यनिरुद्धाख्यं हृषीकाणामधीश्वरम् ।
शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः ॥ २८

तैजसात्तु विकुर्वाणाद् बुद्धितत्त्वमभूत्सति ।
द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिन्द्रियाणामनुग्रहः ॥ २९

संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च ।
स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथक्[4] ॥ ३०

तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः ।
प्राणस्य हि क्रिया शक्तिर्बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता ॥ ३१

तामसाच्च विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात् ।
शब्दमात्रमभूत्तस्मान्नभः[5] श्रोत्रं तु शब्दगम् ॥ ३२

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिङ्गत्वमेव च ।
तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः ॥ ३३

भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च ।
प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम् ॥ ३४

नभसः शब्दतन्मात्रात्कालगत्या विकुर्वतः ।
स्पर्शोऽभवत्ततो वायुस्त्वक् स्पर्शस्य च संग्रहः ॥ ३५

मृदुत्वं कठिनत्वं च शैत्यमुष्णत्वमेव च ।
एतत्स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नभस्वतः ॥ ३६

चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः ।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम् ॥ ३७

वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद्रूपं दैवेरितादभूत् ।
समुत्थितं ततस्तेजश्चक्षू रूपोपलम्भनम् ॥ ३८

द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च ।
तेजस्त्वं तेजसः साध्वि रूपमात्रस्य वृत्तयः ॥ ३९

द्योतनं पचनं पानमदनं हिममर्दनम् ।
तेजसो वृत्तयस्त्वेताः शोषणं क्षुत्तृडेव च ॥ ४०

रूपमात्राद्विकुर्वाणात्तेजसो दैवचोदितात् ।
रसमात्रमभूत्तस्मादम्भो जिह्वा रसग्रहः ॥ ४१

कषायो मधुरस्तिक्तः कट्वम्ल इति नैकधा[1] ।
भौतिकानां विकारेण रस एको विभिद्यते ॥ ४२

क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोन्दनम् ।
तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः ॥ ४३

रसमात्राद्विकुर्वाणादम्भसो दैवचोदितात् ।
गन्धमात्रमभूत्तस्मात्पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः ॥ ४४

करम्भपूतिसौरभ्यशान्तोग्राम्लादिभिः[2] पृथक् ।
द्रव्यावयववैषम्याद्गन्ध एको विभिद्यते ॥ ४५

भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद्विशेषणम् ।
सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः पृथिवीवृत्तिलक्षणम् ॥ ४६

नभोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्छ्रोत्रमुच्यते।
वायोर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तत्स्पर्शनं विदुः ॥ ४७

तेजोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरुच्यते।
अम्भोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तद्रसनं विदुः।
भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य स घ्राण उच्यते ॥ ४८

परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात्।
अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते[१] ॥ ४९

एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै।
कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरुपाविशत् ॥ ५०

ततस्तेनानुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम्।
उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट् ॥ ५१

एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः।
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः[२]।
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः ॥ ५२

हिरण्मयादण्डकोशादुत्थाय सलिलेशयात्।
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम् ॥ ५३

निरभिद्यतास्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत्।
वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोऽतो घ्राण एतयोः ॥ ५४

घ्राणाद्वायुरभिद्येतामक्षिणी[३] चक्षुरेतयोः।
तस्मात्सूर्यो व्यभिद्येतां[४] कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः ॥ ५५

निर्बिभेद विराजस्त्वग्रोमश्मश्र्वादयस्ततः।
तत ओषधयश्चासन् शिश्नं निर्बिभिदे ततः ॥ ५६

रेतस्तस्मादाप आसन्निरभिद्यत वै गुदम्।
गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युर्लोकभयङ्करः ॥ ५७

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

अष्टाङ्गयोगकी विधि

श्रीभगवानुवाच

योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे।
मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्पथम् ॥ १

स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्।
दैवाल्लब्धेन सन्तोष आत्मविच्चरणार्चनम् ॥ २

ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च मोक्षधर्मरतिस्तथा।
मितमेध्यादनं शश्वद्विविक्तक्षेमसेवनम् ॥ ३

अहिंसा सत्यमस्तेयं यावदर्थपरिग्रहः।
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम् ॥ ४

मौनं सदाऽऽसनजयः स्थैर्यं प्राणजयः शनैः।
प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां विषयान्मनसा हृदि ॥ ५

स्वधिष्ण्यानामेकदेशे मनसा प्राणधारणम्।
वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथाऽऽत्मनः ॥ ६

एतैरन्यैश्च पथिभिर्मनो दुष्टमसत्पथम्।
बुद्ध्या युञ्जीत शनकैर्जितप्राणो ह्यतन्द्रितः ॥ ७

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्।
तस्मिन् स्वस्ति[१] समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत् ॥ ८

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम् ॥ ९

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥ १०

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषान्[२]।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥ ११

यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम्।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत्स्वनासाग्रावलोकनः ॥ १२